

समियाए धम्मे आरिएहिं पव्वइये

अंग साहित्य : मन्नन और मीमांसा

सम्पादक

प्रो. सागरमल जैन

डॉ. सुरेश सिसोदिया

सव्वत्थेसु समं चरे
सव्वं जगं तु समयानुपेही
पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा
सम्मत्तदंसी न करेइ पावं
सम्मत्त दिट्ठि सया अमूढे
समियाए मुनि होइ

आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान

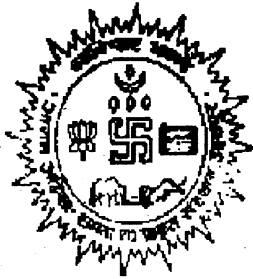
उदयपुर

अंग साहित्य : मनन और मीमांसा

सम्पादक

प्रो. सागरमल जैन

डॉ. सुरेश सिसोदिया



प्रकाशक

आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर - 313 002 (राज.)

पुस्तक : अंग साहित्य : मनन और मीमांसा

सम्पादक : प्रो. सागरमल जैन
: डॉ. सुरेश सिसोदिया

प्रकाशक : आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
पद्मिनी मार्ग, उदयपुर - 313 002 (राज.)

संस्करण : प्रथम, 2001-2002

मूल्य : रुपये 150.00

मुद्रक : चौधरी ऑफसेट प्रा.लि., उदयपुर

Anga Sahitya : Manana Aura Mimansa

Editors

**PROF. SAGARAMAL JAIN
DR. SURESH SISODIYA**



Publisher

**Agama Ahimsa Samata Evam Prakrit Samsthana
Udaipur - 313 002 (Raj.)**

Book : Anga Sahitya : Manana Aura Mimansa

Editors : PROF. SAGARAMAL JAIN
: DR. SURESH SISODIYA

Published by : Agama Ahimsa Samata Evam Prakrit Samsthana
Padmini Marg, Udaipur - 313 002 (Raj.)

Edition : First, 2001-2002

Price : Rs. 150.00

Printed by : Choudhary Offset Pvt. Ltd., Udaipur

प्रकाशकीय

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। इस दृष्टि से अर्धमागधी आगम साहित्य जैन समाज और साहित्य का प्रतिबिम्ब माना जा सकता है। अर्धमागधी आगम साहित्य को अंग, उपांग, छेद, मूल, चूलिका और प्रकीर्णकों में विभाजित किया जाता है। आगम साहित्य में अंग आगमों की उपादेयता सर्वोपरि है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ, निम्बाहेड़ा द्वारा समता विभूति स्व. आचार्य श्री नानालाल जी म.सा. के सुशिष्य तत्कालीन युवाचार्य प्रवर श्री रामलाल जी म. सा. के सानिध्य में 25 नवम्बर 1996 को समता शिक्षा सेवा संस्थान, देशनोक एवं आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर के अकादमी सहयोग से “अंग साहित्य : मनन और मीमांसा” विषयक द्वि-दिवसीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। संगोष्ठी में जैन विद्या के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों ने प्रत्येक अंग आगम का विशद अध्ययन कर अपना शोध-पत्र प्रस्तुत किया था।

संगोष्ठी के अन्तिम सत्र में यह विचार उभर कर सामने आया कि अंग आगम साहित्य की विषय-वस्तु से जन सामान्य परिचित हो सके, इस हेतु संगोष्ठी में पठित आलेखों को प्रकाशित किया जाना चाहिए। तदनु रूप “अंग साहित्य : मनन और मीमांसा” के नाम से इन आलेखों का यह संकलन प्रस्तुत कर रहे हैं। संगोष्ठी आयोजन हेतु हम श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ, निम्बाहेड़ा के आभारी हैं तथा इन आलेखों को प्रकाशित करने हेतु हम सुश्रावक श्री रतनलाल जी हीरावत, दिल्ली के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं जिन्होंने अपने पूज्य पिताश्री तोलाराम जी हीरावत की पुण्य स्मृति में इन आलेखों को प्रकाशित करने का अर्थ व्यय वहन किया।

हम संस्थान के मानद निदेशक प्रो. सागरमल जैन एवं शोध अधिकारी डॉ. सुरेश सिसोदिया के प्रति भी आभार व्यक्त करना अपना दायित्व समझते हैं जिन्होंने प्रस्तुत आलेखों का सम्पादन कर इन्हें पुस्तक रूप में प्रस्तुत करने का श्रम किया।

हम संस्थान के मार्गदर्शक प्रो. कमलचन्द सोगानी, सह निदेशिका डॉ. सुषमा सिंघवी, उपाध्यक्ष श्री वीरेन्द्र सिंह लोढा एवं मन्त्री श्री इन्दरचन्द बैद के भी आभारी हैं, जो संस्थान के विकास में हर संभव सहयोग एवं मार्गदर्शन दे रहे हैं।

संस्थान द्वारा अब तक 12 प्रकीर्णक अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुके हैं। प्रकीर्णक ग्रन्थों के अनुवाद के साथ ही संस्थान द्वारा 2 शोध प्रबन्ध भी प्रकाशित किये गये हैं। संस्थान द्वारा समय-समय पर संगोष्ठियों का आयोजन कर उसमें पठित आलेखों का प्रकाशन किया गया है। पूर्व में प्रकीर्णक साहित्य विषय पर संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। उसमें पठित आलेखों को प्रकीर्णक साहित्य : मनन और मीमांसा नामक पुस्तक रूप में प्रस्तुत किया गया था। इसी क्रम में अंग साहित्य: मनन और मीमांसा नामक प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है।

ग्रन्थ के सुन्दर एवं सत्वर मुद्रण के लिए हम चौधरी ऑफसेट प्रा. लि., उदयपुर के भी आभारी हैं।

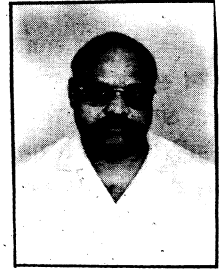
सोहनलाल सिपागी
अध्यक्ष

सरदारमल कांकरिया
महामंत्री



स्मृतिरोप सुश्रावक
स्व. श्री तोलाराम जी हीरावत

प्रकाशन अर्थ सहयोगी



धर्मपरायण, शिक्षाप्रेमी
श्री रतनलाल जी हीरावत

संक्षिप्त जीवन परिचय

बिरले व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो अपनी वाणी में माधुर्यता, व्यवहार में शालीनता, हृदय में अजस्र करुणा आदि मानवीय गुणों के कारण अपने घर-परिवार एवं समाज में ही नहीं वरन् अन्य जाने-अनजाने लोगों पर भी अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं। ऐसा ही निर्मल और प्रभावकारी व्यक्तित्व था धर्मनिष्ठ, प्रतिष्ठित सुश्रावक स्व. श्री तोलाराम जी हीरावत का।

देशनोक संघ के पूर्व अध्यक्ष स्व. श्री तोलाराम जी हीरावत का 65 वर्ष की आयु में उदयरामसर में आकस्मिक निधन हो गया। आचार्य श्री नानेश के उदयरामसर चातुर्मास पर आप श्री भी आचार्य श्री जी की सेवा में उदयरामसर विराजमान थे। धर्म स्नेह, संघ निष्ठता, समर्पित समाज सेवा समन्वित आपका जीवन सरलता, सौहार्द एवं मिलनसारिता का आदर्श प्रतीक रहा है। आप आचार्य श्री नानेश के अनन्य भक्त थे एवं आचार्य श्री के सानिध्य में वर्षों से चार्तुमास काल में सपत्नीक रहकर प्रवचन श्रवण का लाभ लेते थे।

आपका व्यवसाय क्षेत्र दिल्ली रहा, जहाँ आपके दो-होनहार सुपुत्र श्री जीतमल जी हीरावत एवं श्री रतनलाल जी हीरावत व्यवसाय क्षेत्र में निरन्तर प्रगति कर रहे हैं।

स्व. श्री तोलाराम जी हीरावत के अग्रज श्री लुणकरण जी हीरावत भी समाज के अग्रणी एवं प्रमुख सुश्रावक हैं। आपके प्रेम-स्नेह एवं ममतामय व्यवहार से समूचा हीरावत परिवार अनुशासित एवं एक डोर में बंधा हुआ है।

आपने स्व. श्री मेघराज जी हीरावत (आपके पिताश्री) स्वधर्मी निधि में 51 हजार रू. तथा 1 लाख 11 हजार रूपये दीक्षार्थी भाईयों के उपकरण बाबत धर्मार्थ प्रदान किये हैं। इसके अलावा सामाजिक-धार्मिक कार्यों में आपका परिवार मुक्त हस्त से सदैव दान करता रहा है। देशनोक संघ के पूर्व अध्यक्ष स्व. श्री तोलाराम जी हीरावत पुण्यस्मृति में इस पुस्तक का प्रकाशन आपके सुपुत्र धर्मपरायण, शिक्षाप्रेमी श्री रतनलाल जी हीरावत के उदार सहयोग से किया गया है, इसके लिये हम आपके बहुत आभारी हैं।

सरदारमल कांकरिया

सम्पादकीय

प्रत्येक धर्म परम्परा में धर्म ग्रन्थ या शास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि उस धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त और आचार व्यवस्था दोनों के लिए “शास्त्र” ही एक मात्र प्रमाण होता है। हिन्दू धर्म में वेद का, बौद्ध धर्म में त्रिपिटक का, पारसी धर्म में अवेस्ता का, ईसाई धर्म में बाइबिल का और इस्लाम धर्म में कुरान का जो स्थान है, वही स्थान जैन धर्म में आगम साहित्य का है फिर भी आगम साहित्य को न तो वेद के समान अपौरुषेय माना गया है और न बाइबिल या कुरान के समान किसी पैगम्बर के माध्यम से दिया गया ईश्वर का सन्देश ही, अपितु वह उन अर्हतों व ऋषियों की वाणी का संकलन है, जिन्होंने अपनी तपस्या और साधना द्वारा सत्य का प्रकाश प्राप्त किया था। जैनों के लिए आगम जिनवाणी है, आप्तवचन है, उनके धर्म-दर्शन और साधना का आधार है। यद्यपि वर्तमान में जैन धर्म का दिगम्बर सम्प्रदाय उपलब्ध अर्धमागधी आगमों को प्रमाणभूत नहीं मानता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में इन आगमों में कुछ ऐसा प्रक्षिप्त अंश है, जो उनकी मान्यताओं के विपरीत है। हमारी दृष्टि में चाहे वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी आगमों में कुछ प्रक्षिप्त अंश हो या उनमें कुछ परिवर्तन, परिवर्धन भी हुआ हों, फिर भी वे जैनधर्म के प्रामाणिक दस्तावेज हैं। उनमें अनेक ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हैं। उनकी पूर्णतः अस्वीकृति का अर्थ अपनी प्रामाणिकता को ही नकारना है। श्वेताम्बर मान्य इन अर्धमागधी आगमों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये ई.पू. पाँचवीं शती से लेकर ईसा की पाँचवी शती अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष में जैन संघ के चढ़ाव-उतार की एक प्रामाणिक कहानी कह देते हैं।

अर्धमागधी आगमों का वर्गीकरण

वर्तमान में जो आगम ग्रन्थ उपलब्ध हैं उन्हें निम्न रूप से वर्गीकृत किया जाता है -

11 अंग

1. आयार (आंचारांग)
2. सूयगड (सूत्रकृतांग),
3. ठाण (स्थानांग),
4. समवाय (समवायांग),
5. वियाहपन्नत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति या भगवती),
6. नायाधम्मकहाओ (ज्ञाता-धर्मकथा),
7. उवासगदसाओ (उपासकदशा),
8. अंतगडदसाओ (अन्तकृदशा),
9. अनुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशा),
10. पणहवागरणाई (प्रश्नव्याकरणानि),
11. विवागसुयं (विपाकश्रुतम्)
12. दृष्टिवाद जो विच्छिन्न हुआ है।

12 उपांग

1. उववाइय (औपपातिक),
2. रायपसेणइज (रायप्रसेर्नाजत्क) अथवा रायपसेणियं (राजप्रश्नीय),
3. जीवाजीवाभिगम,
4. पण्णवणा (प्रज्ञापना),
5. सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति),

6. जम्बूद्वीपपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), 7. चंदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), 8-12. निरयावलियासुयक्खंध (निरयावलिकाश्रुतस्कन्ध), 8. निरयावलियाओ (निरयावलिकाः), 9. कप्पवडिसियाओ (कल्पावर्तसिका), 10. पुप्फियाओ (पुष्पिका), 11. पुप्फचूलाओ (पुष्पचूला), 12. वण्हदसाओ (वृष्णिदशा)।

जहाँ तक उपर्युक्त अंग और उपांग ग्रन्थों का प्रश्न है, श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदाय इन्हें मान्य करते हैं जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय इन्हीं ग्यारह अंग सूत्रों को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि वे अंगसूत्र वर्तमान में विलुप्त हो गये हैं। उपांगसूत्रों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदायों में एकरूपता है किन्तु दिगम्बर परम्परा में बारह उपांगों की न तो कोई मान्यता रही और न वे वर्तमान में इन ग्रन्थों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यद्यपि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति आदि नामों से उनके यहाँ कुछ ग्रन्थ अवश्य पाये जाते हैं। साथ ही सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को भी उनके द्वारा दृष्टिवाद के परिकर्म के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

4 मूलसूत्र

सामान्यतया उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक और पिण्डनिर्युक्ति ये चार मूलसूत्र माने गये हैं फिर भी मूलसूत्रों की संख्या और नामों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर सम्प्रदायों में एकरूपता नहीं है। जहाँ तक उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का प्रश्न है इन्हें सभी श्वेताम्बर सम्प्रदायों एवं आचार्यों ने एक मत से मूलसूत्र माना है। समयसुन्दर, भावप्रभसूरि तथा पार्श्वचर्य विद्वानों में प्रो. बेबर, प्रो. वूल्हर, प्रो. सारपेन्टियर, प्रो. विन्टर्नित्ज, प्रो. शूब्रिंग आदि ने एक स्वर से आवश्यक को मूलसूत्र माना है, किन्तु स्थानकवासी एवं तेरापन्थी सम्प्रदाय आवश्यक को मूलसूत्र के अन्तर्गत नहीं मानते हैं। ये दोनों सम्प्रदाय आवश्यक एवं पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर नन्दी और अनुयोगद्वार को मूलसूत्र मानते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में कुछ आचार्यों ने पिण्डनिर्युक्ति के साथ-साथ ओषनिर्युक्ति को भी मूलसूत्र में माना है। इस प्रकार मूलसूत्रों के वर्गीकरण और उनके नामों में एकरूपता का अभाव है। दिगम्बर परम्परा में इन मूलसूत्रों में से दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक मान्य रहे हैं। तत्त्वार्थ की दिगम्बर टीकाओं में, धवला तथा अंगपण्णत्ति में इनका उल्लेख है। ज्ञातव्य है कि अंगपण्णत्ति में नन्दीसूत्र की भाँति ही आवश्यक के छह विभाग किये गये हैं, यापनीय परम्परा में भी न केवल आवश्यक, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक मान्य रहे हैं, अपितु यापनीय आचार्य अपराजित (नवीं शती) ने तो दशवैकालिक की टीका भी लिखी थी।

छेदसूत्र

छेदसूत्रों के अन्तर्गत वर्तमान में 1. आयारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध), 2. कल्प (कल्प), 3. व्यवहार (व्यवहार), 4. निशीह (निशीथ), 5. महानिशीह (महानिशीथ) और 6. जीयकल्प (जीतकल्प) ये छह ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें से महानिशीथ और जीतकल्प को श्वेताम्बरों की तेरापन्थी और स्थानकवासी सम्प्रदायें मान्य नहीं करती हैं। वे दोनों मात्र चार ही छेदसूत्र मानते हैं जबकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय उपर्युक्त 6 छेदसूत्रों को मानता है। जहाँ तक दिगम्बर और यापनीय परम्परा का प्रश्न है उनमें अंगबाह्य ग्रन्थों में कल्प, व्यवहार और निशीथ का उल्लेख मिलता है। यापनीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों में न केवल इनका उल्लेख मिलता है, अपितु इनके अवतरण भी दिए गए हैं। आश्चर्य यह है कि वर्तमान में दिगम्बर परम्परा में प्रचलित मूलतः यापनीय परम्परा के प्रायश्चित्त सम्बन्धी ग्रन्थ “छेदपिण्डशास्त्र” में कल्प और व्यवहार के प्रमाण्य के साथ-साथ जीतकल्प का भी प्रमाण्य स्वीकार किया गया है। इस प्रकार दिगम्बर एवं यापनीय परम्पराओं में कल्प, व्यवहार, निशीथ और जीतकल्प की मान्यता रही है, यद्यपि वर्तमान में दिगम्बर आचार्य इन्हें मान्य नहीं करते हैं।

प्रकीर्णक

इसके अन्तर्गत निम्न दस ग्रन्थ माने जाते हैं :-

1. चउसरण (चुतःशरण), 2. आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), 3. भत्तपरिन्ना (भक्तपरिज्ञा), 4. संथारग (संस्तारक), 5. तंदुलवेयालिय (तंदुलवैचारिक), 6. चंदावेज्झय (चन्द्रवेध्यक), 7. देविन्दत्थय (देवेन्द्रस्तव), 8. गणिविज्जा (गणिविद्या), 9. महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान) और 10. वीरत्थय (वीरस्तव)।

श्वेताम्बर सम्प्रदायों में स्थानवासी और तेरापन्थी इन प्रकीर्णकों को मान्य नहीं करते हैं। यद्यपि हमारी दृष्टि में इनमें इनकी परम्परा के विरुद्ध ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे इन्हें अमान्य किया जाए। इनमें से 9 प्रकीर्णकों का उल्लेख तो नन्दीसूत्र में मिल जाता है। अतः इन्हें अमान्य करने का कोई औचित्य नहीं है। हमने इसकी विस्तृत चर्चा आगम संस्थान, उदयपुर से ही प्रकाशित महापच्चक्खाण की भूमिका में की है। जहाँ तक दस प्रकीर्णकों के नाम आदि का प्रश्न है श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के आचार्यों में भी किञ्चित् मतभेद पाया जाता है। लगभग 9 नामों में तो एकरूपता है किन्तु भत्तपरिन्ना, मरणविधि और वीरस्तव ये तीन नाम ऐसे हैं जो भिन्न-भिन्न आचार्यों के वर्गीकरण में भिन्न-भिन्न रूप से आये हैं। किसी ने भक्तपरिज्ञा को छोड़कर मरणविधि का उल्लेख किया है तो किसी ने उसके स्थान पर वीरस्तव का उल्लेख किया है। मुनि श्री पुण्यविजय जी ने पइण्णयसुत्ताइं, प्रथम भाग की भूमिका में प्रकीर्णक नाम से

अभिहित लगभग निम्न 22 ग्रन्थों का उल्लेख किया है इनमें से अधिकांश महावीर विद्यालय, बम्बई से पङ्णयसुत्ताई नाम से 2 भागों में प्रकाशित हैं। अंगविद्या का प्रकाशन प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी की ओर से हुआ है। ये बाईस प्रकीर्णक निम्न है :-

1. चतुःशरण 2. आतुरप्रत्याख्यान 3. भक्तपरिज्ञा 4. संस्तारक, 5. तंदुलवैचारिक, 6. चन्द्रावेध्यक, 7. देवेन्द्रस्तव, 8. गणिविद्या, 9. महाप्रत्याख्यान, 10. वीरस्तव, 11. ऋषिभाषित, 12. अजीवकल्प, 13. गच्छाचार, 14. मरणसमाधि, 15. तित्थोगालिय, 16. आराधनापताका, 17. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, 18. ज्योतिष्करण्डक, 19. अंगविद्या, 20. सिद्धप्राभृत, 21. सारावली और 22. जीवविभक्ति।

इसके अतिरिक्त एक ही नाम से अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं, यथा- "आउरपच्चक्खान" के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें से एक तो दसवीं शती के आचार्य वीरभद्र की कृति है।

नन्दी और पाक्षिकसूत्र के उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान ये सात नाम पाये जाते हैं। इस प्रकार नन्दी एवं पाक्षिकसूत्र में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के कुछ आचार्य जो 84 आगम मानते हैं, वे प्रकीर्णकों की संख्या 10 के स्थान पर 30 मानते हैं। इसमें पूर्वोक्त 22 नामों के अतिरिक्त निम्न 8 प्रकीर्णक और माने गये हैं :- पिण्डविशुद्धि, पर्यन्तआराधना, योनिप्राभृत, अंगचूलिया, बंगचूलिया, बृद्धचतुःशरण, जम्बूपयन्ना और कल्पसूत्र।

जहाँ तक दिगम्बर एवं यापनीय परम्परा का प्रश्न है, वह स्पष्टतः इन प्रकीर्णकों को मान्य नहीं करती हैं, फिर भी मूलाचार में आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान से अनेक गाथायें उसके संक्षिप्त प्रत्याख्यान और बृहत् प्रत्याख्यान नामक ग्रन्थ में अवतरित की गई है। इसी प्रकार भगवती आराधना में भी मरणविभक्ति, आराधनापताका आदि अनेक प्रकीर्णकों की गाथायें अवतरित हैं। ज्ञातव्य है कि इनमें अंग बाह्यों को प्रकीर्णक कहा गया है।

चूलिकासूत्र

चूलिकासूत्र के अन्तर्गत नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार ये ग्रन्थ माने जाते हैं। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि स्थानवासी परम्परा इन्हें चूलिकासूत्र न कहकर मूलसूत्र में वर्गीकृत करती है फिर भी इतना निश्चित है कि ये दोनों ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदायों को मान्य रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 11 अंग, 12 उपांग, 4 मूल, 6 छेद, 10 प्रकीर्णक, 2 चूलिकासूत्र, ये 45 आगम श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में मान्य हैं। स्थानवासी व

तेरापन्थी इसमें से 10 प्रकीर्णक, जीतकल्प, महानिशीथ और पिण्डनिर्युक्ति इन 13 ग्रन्थों को कम करके 32 आगम मान्य करते हैं।

जो परम्पराएँ चौरासी आगम मान्य करते हैं वे दस प्रकीर्णकों के स्थान पर पूर्वोक्त तीस प्रकीर्णक मानते हैं। इसके साथ दस निर्युक्तियों तथा यतिजीतकल्प, श्रद्धाजीतकल्प, पाक्षिकसूत्र, क्षमापनासूत्र, वन्दित्थु, तिथि-प्रकरण, कवचप्रकरण, संशक्तनिर्युक्ति और विशेषावश्यक भाष्य को भी आगमों में सम्मिलित करते हैं।

इस प्रकार वर्तमानकाल में अर्धभागधी आगम साहित्य को अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद, मूल और चूलिकासूत्र के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, किन्तु यह वर्गीकरण पर्याप्त परवर्ती है। 12वीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में इस प्रकार के वर्गीकरण का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वर्गीकरण की यह शैली सर्वप्रथम हमें आचार्य श्रीचन्द्र की "सुखबोधासमाचारी" (ई.सन् 1112) में भी आंशिक रूप से उपलब्ध होती है। इसमें आगम साहित्य के अध्ययन का जो क्रम दिया गया है उससे केवल इतना ही प्रतिफलित होता है कि अंग, उपांग आदि की अवधारणा उस युग में बन चुकी थी। किन्तु वर्तमान काल में जिस प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है, वैसा वर्गीकरण उस समय तक भी पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं हुआ था। उसमें मात्र अंग, उपांग, प्रकीर्णक इतने ही नाम मिलते हैं। विशेषता यह है कि उसमें नन्दीसूत्र व अनुयोगद्वारसूत्र को भी प्रकीर्णकों में सम्मिलित किया गया है। सुखबोधासमाचारी का यह विवरण मुख्य रूप से तो आगम ग्रन्थों के अध्ययन-क्रम को ही सूचित करता है। इसमें मुनि जीवन सम्बन्धी आचार-नियमों के प्रतिपादक आगम ग्रन्थों के अध्ययन को प्राथमिकता दी गयी है और सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन बौद्धिक परिपक्वता के पश्चात् हो, ऐसी व्यवस्था की गई है।

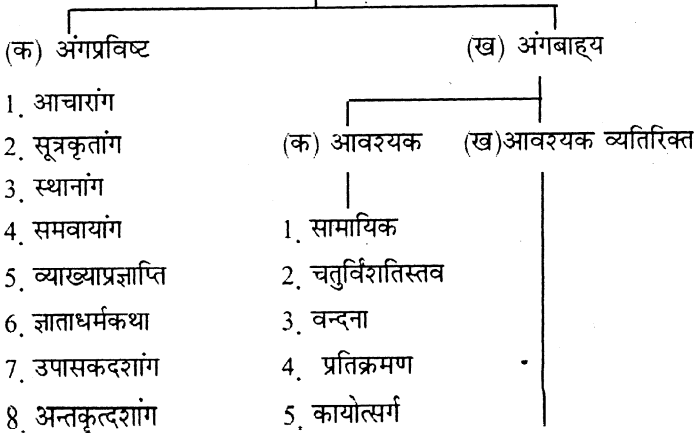
इसी दृष्टि से एक अन्य विवरण जिनप्रभ ने अपने ग्रन्थ विधिमार्गप्रपा में दिया है इसमें वर्तमान में उल्लिखित आगमों के नाम तो मिल जाते हैं, किन्तु कौन आगम किस वर्ग का है, यह उल्लेख नहीं है। मात्र प्रत्येक वर्ग के आगमों के नाम एक साथ आने के कारण यह विश्वास किया जा सकता है कि उस समय तक चाहे अंग, उपांग आदि का वर्तमान वर्गीकरण पूर्णतः स्थिर न हुआ हो, किन्तु जैसा पद्मभूषण पं. दलसुखभाई का कथन है कि कौन ग्रन्थ किसके साथ उल्लिखित होना चाहिए, ऐसा एक क्रम बन गया था, क्योंकि उनमें अंग, उपांग, छेद, मूल, प्रकीर्णक एवं चूलिकासूत्रों के नाम एक ही साथ मिलते हैं। उसमें अंग, उपांग ग्रन्थों का पारस्परिक सम्बन्ध भी निश्चित किया गया था। मात्र यही नहीं एक मतान्तर का उल्लेख करते हुए उसमें यह भी बताया गया है कि सर्वप्रथम वाचनाविधि के प्रारम्भ में अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद और मूल इन वर्गों का उल्लेख किया है। उन्होंने विधिमार्गप्रपा को ई. सन् 1306 में पूर्ण किया था,

अतः यह माना जा सकता है कि इसके आस-पास ही आगमों का वर्तमान वर्गीकरण प्रचलन में आया होगा।

आगमों के वर्गीकरण की प्राचीन शैली

अर्धमागधी आगम साहित्य के वर्गीकरण की प्राचीन शैली इससे भिन्न रही है। इस प्राचीन शैली का सर्वप्रथम निर्देश हमें नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र (ईस्वी सन् पाँचवी शती) में मिलता है। उस युग में आगमों को अंगप्रविष्ट व अंगबाह्य, इन दो भागों में विभक्त किया जाता था। अंगप्रविष्ट के अन्तर्गत आचारांग आदि 12 अंग ग्रन्थ आते थे। शेष ग्रन्थ अंगबाह्य कहे जाते थे। उसमें अंगबाह्यों की एक संज्ञा प्रकीर्णक भी थी। अंगप्रज्ञप्ति नामक दिगम्बर ग्रन्थ में भी अंगबाह्यों को प्रकीर्णक कहा गया है। अंगबाह्य को पुनः दो भागों में बाँटा जाता था- 1. आवश्यक और 2. आवश्यक-व्यतिरिक्त। आवश्यक के अन्तर्गत सामायिक आदि छः ग्रन्थ थे। ज्ञातव्य है कि वर्तमान वर्गीकरण में आवश्यक को एक ही ग्रन्थ माना जाता है और सामायिक आदि 6 आवश्यक अंगों को उसके एक-एक अध्याय रूप में माना जाता है, किन्तु प्राचीनकाल में इन्हें छः स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जाता था। इसकी पुष्टि अंगपण्णत्ति आदि दिगम्बर ग्रन्थों से भी हो जाती है। उनमें भी सामायिक आदि को छः स्वतन्त्र ग्रन्थ माना गया है। यद्यपि उसमें कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान के स्थान पर वैनयिक एवं प्रतिक्रमण नाम मिलते हैं, आवश्यक-व्यतिरिक्त के भी दो भाग किए जाते थे- 1. कालिक और 2. उत्कालिक। जिनका स्वाध्याय विकाल को छोड़कर किया जाता था, वे कालिक कहलाते थे, जबकि उत्कालिक ग्रन्थों के अध्ययन या स्वाध्याय में काल एवं विकाल का विचार नहीं किया जाता था। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र की आगमों के वर्गीकरण की सूची निम्नानुसार है:-

श्रुत (आगम)



9. अनुत्तरोपपातिकदशांग 6. प्रत्याख्यान
10. प्रश्नव्याकरण
11. विपाकसूत्र
12. दृष्टिवाद

(क) कालिक

(ख) उत्कालिक

1. उत्तराध्ययन
2. दशाश्रुतस्कन्ध
3. कल्प
4. व्यवहार
5. निशीथ
6. महानिशीथ
7. ऋषिभाषित
8. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
9. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
10. चन्द्रप्रज्ञप्ति
11. क्षुल्लिकाविमान प्रविभक्ति
12. महल्लिकाविमान प्रविभक्ति
13. अंगचूलिका
14. वग्गचूलिका
15. विवाहचूलिका
16. अरूणोपपात
17. वरूणोपपात
18. गरूडोपपात
19. धरणोपपात
20. वैश्रमणोपपात
21. वेलन्धरोपपात
22. देवेन्द्रोपपात
23. उत्थानश्रुत
24. समुत्थानश्रुत
25. नागपरिज्ञापनिका

1. दशवैकालिक
2. कल्पिकाकल्पिक
3. चुल्लकल्पश्रुत
4. महाकल्पश्रुत
5. औपपातिक
6. राजप्रश्नीय
7. जीवाभिगम
8. प्रज्ञापना
9. महाप्रज्ञापना
10. प्रमादाप्रमाद
11. नन्दी
12. अनुयोगद्वार
13. देवेन्द्रस्तव
14. तन्दुलवैचारिक
15. चन्द्रवेध्यक
16. सूर्यप्रज्ञप्ति
17. पौरुषीमंडल
18. मण्डलप्रवेश
19. विद्याचरण विनिश्चय
20. गणिविद्या
21. ध्यानविभक्ति
22. मरणविभक्ति
23. आत्मविशोधि
24. वीतरागश्रुत
25. संलेखणाश्रुत

- | | |
|-------------------|----------------------|
| 26. निरयावलिका | 26. विहारकल्प |
| 27. कल्पिका | 27. चरणविधि |
| 28. कल्पावर्तसिका | 28. आतुरप्रत्याख्यान |
| 29. पुष्पिता | 29. महाप्रत्याख्यान |
| 30. पुष्पचूलिका | |
| 31. वृष्णिदशा | |

इस प्रकार नन्दीसूत्र में 12 अंग, 6 आवश्यक, 31 कालिक एवं 29 उत्कालिक सहित कुल 78 आगमों का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि आज इनमें से अनेक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

यापनीय और दिगम्बर परम्पराओं में जैन आगम साहित्य के वर्गीकरण की जो शैली मान्य रही है, वह भी बहुत कुछ नन्दीसूत्र की शैली के अनुरूप है। उन्होंने उसे उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र से ग्रहण किया है। उसमें आगमों को अंग और अंगबाह्य ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। इसमें अंगों की बारह संख्या का तो स्पष्ट उल्लेख मिलता है, किन्तु अंगबाह्य की संख्या का स्पष्ट निर्देश नहीं है। मात्र यह कहा गया है अंगबाह्य अनेक प्रकार के हैं किन्तु अपने तत्त्वार्थभाष्य (1/20) में आचार्य उमास्वाति ने अंगबाह्य के अंतर्गत सर्वप्रथम सामायिक आदि छः आवश्यकों का उल्लेख किया है उसके बाद दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा, कल्प-व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित के नाम देकर अन्त में आदि शब्द से अन्य ग्रन्थों का ग्रहण किया है किन्तु अंगबाह्य में स्पष्ट नाम तो उन्होंने केवल बारह ही दिये हैं। इसमें कल्प-व्यवहार का एकीकरण किया गया है। एक अन्य सूचना से यह भी ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थभाष्य में उपांग संज्ञा का निर्देश है। हो सकता है कि पहले 12 अंगों के समान ही 12 उपांग माने जाते हों। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्दी आदि दिगम्बर आचार्यों ने अंगबाह्य में न केवल उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है, अपितु कालिक एवं उत्कालिक ऐसे वर्गों का भी नाम निर्देश (1/20) किया है। हरिवंशपुराण एवं धवलाटीका में आगमों का जो वर्गीकरण उपलब्ध होता है उसमें 12 अंगों एवं 14 अंगबाह्यों का उल्लेख है, इसमें भी अंगबाह्यों में सर्वप्रथम छः आवश्यकों का उल्लेख है। तत्पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प-व्यवहार, कप्पाकप्पीय, महाकप्पीय, पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निशीथ का उल्लेख है। इस प्रकार धवला में 12 अंग और 14 अंगबाह्यों की गणना की गयी। इसमें भी कल्प और व्यवहार को एक ही ग्रन्थ माना गया है। ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थभाष्य की अपेक्षा इसमें कप्पाकप्पीय (कल्पिककल्पिक) महाकप्पीय (महाकल्प) पुण्डरीक और महपुण्डरीक- ये चार नाम अधिक हैं किन्तु भाष्य में उल्लिखित दशा और ऋषिभाषित को छोड़ दिया गया

है। इसमें जो चार नाम अधिक हैं उनमें कप्पाकप्पीय और महाकप्पीय का उल्लेख नन्दीसूत्र में भी है, मात्र पुण्डरीक और महापुण्डरीक ये दो नाम विशेष हैं।

दिगम्बर परम्परा में आचार्य शुभचन्द्र कृत अंगप्रज्ञप्ति (अंगपण्णत्ति) नामक एक ग्रन्थ मिलता है। यह ग्रन्थ धवलाटीका के पश्चात् का प्रतीत होता है। इसमें धवलाटीका में वर्णित 12 अंग प्रविष्ट व 14 अंगबाह्य ग्रन्थों की विषय वस्तु का विवरण दिया गया है। यद्यपि इसमें अंगबाह्य ग्रन्थों की विषयवस्तु का विवरण संक्षिप्त ही है। इस ग्रन्थ में और दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में अंग बाह्यों को प्रकीर्णक भी कहा गया है। (3.10) इसमें कहा गया है कि सामायिक प्रमुख 14 प्रकीर्णक अंगबाह्य है। इसमें वर्णित विषयवस्तु के विवरण से लगता है कि यह विवरण मात्र अनुश्रुति के आधार पर लिखा गया है, मूल ग्रन्थों को लेखक ने नहीं देखा है, इसमें भी पुण्डरीक और महापुण्डरीक का उल्लेख है। इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में हमें कहीं नहीं मिला। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा के सूत्रकृतांग में एक अध्ययन का नाम पुण्डरीक अवश्य मिलता है। प्रकीर्णकों में एक सारावली प्रकीर्णक है। इसमें पुण्डरीक महातीर्थ (शत्रुञ्जय) की महत्ता का विस्तृत विवरण है। सम्भव है कि पुण्डरीक सारावली प्रकीर्णक का ही यह दूसरा नाम हो। फिर भी स्पष्ट प्रमाण के अभाव में इस संबंध में अधिक कुछ कहना उचित नहीं होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम शती से लेकर दसवीं शती तक आगमों को नन्दीसूत्र की शैली में अंग और अंगबाह्य-पुनः अंगबाह्यों के आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त ऐसे दो विभाग सर्वमान्य थे। लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शती के बाद से अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद, मूल और चूलिकासूत्र का वर्तमान वर्गीकरण अस्तित्व में आया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में सभी अंग बाह्य आगमों के लिए प्रकीर्णक (पइण्णय) नाम भी प्रचलित रहा है।

अर्धमागधी आगम साहित्य की प्राचीनता एवं उनका रचनाकाल

भारत जैसे विशाल देश में अतिप्राचीनकाल से ही अनेक बोलियों का अस्तित्व रहा है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से भारत में तीन प्राचीन भाषाएँ प्रचलित रही हैं - संस्कृत, प्राकृत और पाली। इनमें संस्कृत के दो रूप पाये जाते हैं। - छान्दस् और साहित्यिक संस्कृत। वेद छान्दस् संस्कृत में है, जो पालि और प्राकृत के निकट है। उपनिषदों की भाषा छान्दस् की अपेक्षा साहित्यिक संस्कृत के अधिक निकट है। प्राकृत भाषा में निबद्ध जो साहित्य उपलब्ध है, उसमें अर्धमागधी आगम साहित्य प्राचीनतम है। यहाँ तक की आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध और ऋषिभाषित तो अशोक कालीन प्राकृत अभिलेख से भी प्राचीन है। ये दोनों ग्रन्थ लगभग ई.पू. पाँचवीं-चौथी शताब्दी की रचनाएँ हैं। आचारांग की सूत्रात्मक औपनिषदिक शैली उसे उपनिषदों का

निकटवर्ती और स्वयं भगवान महावीर की वाणी सिद्ध करती है। भाव, भाषा और शैली तीनों के आधार पर यह सम्पूर्ण पालि और प्राकृत साहित्य में प्राचीनतम है। आत्मा के स्वरूप एवं अस्तित्व सम्बन्धी इसके विवरण औपनिषदिक विवरणों के अनुरूप हैं। इसमें प्रतिपादित महावीर का जीवनवृत्त भी अलौकिकता और अतिशयता रहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवरण भी उसी व्यक्ति द्वारा कहा गया है, जिसने स्वयं उनकी जीवनचर्या को निकटता से देखा और जाना होगा। अर्धमागधी आगम साहित्य में ही सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्याय, आचारांगचूला और कल्पसूत्र में भी महावीर की जीवनचर्या का उल्लेख है, किन्तु वे भी अपेक्षाकृत रूप में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा परवर्ती है, क्योंकि उनमें अलौकिकता, अतिशयता और अतिरंजना का प्रवेश होता गया है। इसी प्रकार ऋषिभाषित की साम्प्रदायिक अभिनिवेश से रहित उदारदृष्टि तथा भाव और भाषागत अनेक तथ्य उसे आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर सम्पूर्ण प्राकृत एवं पाली साहित्य में प्राचीनतम सिद्ध करते हैं। पाली साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात माना जाता है, किन्तु अनेक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ऋषिभाषित, सुत्तनिपात से भी प्राचीन है। अर्धमागधी आगमों की प्रथम वाचना स्थूलिभद्र के समय अर्थात् ईसा पूर्व तीसरी शती में हुई थी, अतः इतना निश्चित है कि उस समय तक अर्धमागधी आगम साहित्य अस्तित्व में आ चुका था। इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य के कुछ ग्रन्थों के रचनाकाल की उत्तर सीमा ई.पू. पाँचवी-चौथी शताब्दी सिद्ध होती है, जो कि इस साहित्य की प्राचीनता को प्रामाणित करती है।

हमें यह स्मरण रखना होगा कि सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य न तो एक व्यक्ति की रचना है और न एक काल की। यह सत्य है कि इस साहित्य को अन्तिम रूप वीर निर्वाण संवत् 980 में वल्लभी में सम्पन्न हुई वाचना में प्राप्त हुआ। किन्तु इस आधार पर हमारे कुछ विद्वान मित्र यह गलत निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि अर्धमागधी आगम साहित्य ईस्वी सन् की पाँचवी शताब्दी की रचना है। यदि अर्धमागधी आगम ईसा की पाँचवी शती की रचना हैं, तो वल्लभी की इस अन्तिम वाचना के पूर्व भी वल्लभी, मथूरा, खण्डगिरी और पाटलीपुत्र में जो वाचनायें हुई थी उसमें संकलित साहित्य कौन-सा था? उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए की वल्लभी में आगमों को संकलित, सुव्यवस्थित और सम्पादित करके लिपिबद्ध (पुस्तकारूढ़) किया गया था, अतः यह किसी भी स्थिति में उनका रचनाकाल नहीं माना जा सकता है। संकलन और सम्पादन का अर्थ रचना नहीं है। पुनः आगमों में विषय-वस्तु, भाषा और शैली की जो विविधता और भिन्नता परिलक्षित होती है, वह स्पष्टतया इस तथ्य की प्रमाण है कि संकलन और सम्पादन के समय उनकी मौलिकता को यथावत रखने का प्रयत्न किया

गया है, अन्यथा आज उनका प्राचीन स्वरूप समाप्त ही हो जाता और आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा और शैली भी परिवर्तित हो जाती तथा उसके उपधानश्रुत नामक नवें अध्ययन में वर्णित महावीर का जीवनवृत्त अलौकिकता एवं अतिशयों से युक्त बन जाता। यद्यपि यह सत्य है कि आगमों की विषयवस्तु के कुछ प्रक्षिप्त अंश है, किन्तु प्रथम तो ऐसे प्रक्षेप बहुत ही कम हैं और दूसरे उन्हें स्पष्ट रूप से पहचाना भी जा सकता है। अतः इस आधार पर सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य को परवर्ती मान लेना सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी।

अर्धमागधी आगम साहित्य पर कभी-कभी महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर भी उसकी प्राचीनता पर संदेह किया जाता है। किन्तु प्राचीन हस्तप्रतों के आधार पर पाठों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक प्राचीन हस्तप्रतों में आज भी उनका “त” श्रुतिप्रधान अर्धमागधी स्वरूप सुरक्षित है। आचारांग के प्रकाशित संस्करणों के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि परवर्तीकाल में उसमें कितने पाठान्तर हो गये हैं। इस साहित्य पर जो महाराष्ट्री प्रभाव आ गया है वह लिपिकारों और टीकाकारों की अपनी भाषा के प्रभाव के कारण है। उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का “रामपूते” पाठ चूर्ण में “रामउत्ते” और शीलांक की टीका में “रामगुत्ते” हो गया। अतः अर्धमागधी आगमों में, महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर उनकी प्राचीनता पर संदेह नहीं करना चाहिये अपितु उन ग्रन्थों को विभिन्न प्रतों एवं निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण और टीकाओं के आधार पर पाठों के प्राचीन स्वरूपों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिये। वस्तुतः अर्धमागधी आगम साहित्य में विभिन्न काल की सामग्री सुरक्षित है। इसकी उत्तर सीमा ई. पूर्व पाँचवीं-चौथी शताब्दी और निम्न सीमा ई. सन् की पाँचवी शताब्दी है। वस्तुतः अर्धमागधी साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों का या उनके किसी अंश विशेष का काल निर्धारित करते समय उनमें उपलब्ध सांस्कृतिक सामग्री, दार्शनिक चिन्तन की स्पष्टता एवं गहनता तथा भाषा - शैली आदि सभी पक्षों पर प्रामाणिकता के साथ विचार करना चाहिए। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर ही यह स्पष्ट हो सकेगा कि अर्धमागधी आगम साहित्य का कौन-सा ग्रन्थ अथवा उसका कौन-सा अंश विशेष किस काल की रचना है।

अर्धमागधी आगमों की विषयवस्तु सम्बन्धी निर्देश श्वेताम्बर परम्परा में हमें स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र, नन्दीचूर्णी एवं तत्त्वार्थभाष्य में तथा दिग्म्बर परम्परा में तत्त्वार्थ की टीकाओं के साथ-साथ ध्वलादि में उनकी विषयवस्तु सम्बन्धी निर्देश मात्र अनुश्रुतिपरक है, वे ग्रन्थों के वास्तविक अध्ययन पर आधारित नहीं हैं। उनमें दिया गया विवरण तत्त्वार्थभाष्य एवं परम्परा से प्राप्त सूचनाओं पर आधारित नहीं है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांग, समवायांग, नन्दी आदि अर्धमागधी आगमों और उनकी

व्याख्याओं एवं टीकाओं में उनकी विषयवस्तु का जो विवरण है वह उन ग्रन्थों के अवलोकन पर आधारित है क्योंकि प्रथम तो इस परम्परा में आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा आज तक जीवित चली आ रही है, दूसरे आगम ग्रन्थों की विषयवस्तु में कालक्रम में क्या परिवर्तन हुआ है, इसकी सूचना श्वेताम्बर परम्परा के उपर्युक्त आगम ग्रन्थों से ही प्राप्त हो जाती है। इसके अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस काल में किस आगम ग्रन्थ में कौन सी सामग्री जुड़ी और अलग हुई है। आचारांग में आचारचूला और निशीथ के जुड़ने और पुनः निशीथ के अलग होने की घटना, समवायांग और स्थानांग में समय-समय पर हुए प्रक्षेप, ज्ञाताधर्मकथा में द्वितीय वर्ग में जुड़े हुए अध्याय, प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु में हुआ सम्पूर्ण परिवर्तन, अन्तकृतशा, अनुत्तरौपपातिक एवं विपाक के अध्ययनों में हुए आंशिक परिवर्तन, इन सबकी प्रामाणिक जानकारी हमें उन विवरणों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करने से मिल जाती है। इनमें प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु का परिवर्तन ही ऐसा है, जिसके वर्तमान स्वरूप की सूचना केवल नन्दीचूर्णि (ईस्वी सन् सातवी शती) में मिलती है। वर्तमान प्रश्नव्याकरण लगभग ईस्वी सन् की पाँचवी-छठी शताब्दी में अस्तित्व में आया है। इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य लगभग एक सहस्र वर्ष की सुदीर्घ अवधि में किस प्रकार निर्मित, परिवर्धित एवं सम्पादित होता रहा है इसकी सूचना भी स्वयं अर्धमागधी आगम साहित्य और उसकी टीकाओं से मिल जाती है।

वस्तुतः अर्धमागधी आगम विशेष या उसके अंश विशेष के रचनाकाल का निर्धारण एक जटिल समस्या है, इस सम्बन्ध में विषय-वस्तु सम्बन्धी विवरण, विचारों का विकास क्रम, भाषा-शैली आदि अनेक दृष्टियों से निगण्य करना होता है। उदाहरण के रूप में स्थानांग में सात निहनवों और नौ गणों का उल्लेख मिलता है जो वीर निर्वाण सं. 584 तक अस्तित्व में आ चुके थे। किन्तु उसमें बोटिकों एवं उन परवर्ती गणों, कुलों और शाखाओं के उल्लेख नहीं हैं, जो वीर निर्वाण सं. 609 अथवा उसके बाद अस्तित्व में आये, अतः विषयवस्तु की दृष्टि से स्थानांग के रचनाकाल की अन्तिम सीमा वीरनिर्वाण संवत् 609 के पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध या द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। इसी प्रकार आचारांग के प्रथम श्रतुस्कन्ध की विषयवस्तु एवं भाषा शैली आचारांग के रचनाकाल को अर्धमागधी आगम साहित्य में सबसे प्राचीन सिद्ध करती है अर्धमागधी आगम के काल-निर्धारण में इन सभी पक्षों पर विचार अपेक्षित है।

इस प्रकार न तो हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों की यह दृष्टि समुचित है कि अर्धमागधी आगम देवर्द्धिगणि की वाचना के समय अर्थात् ईसा की पाँचवी शताब्दी में अस्तित्व में आये और न कुछ श्वेताम्बर आचार्यों का यह कहना ही समुचित है कि

सभी अंग आगम अपने वर्तमान स्वरूप में गणधरों की रचना है और उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन, परिवर्धन, प्रक्षेप या विलोप नहीं हुआ है। किन्तु इतना निश्चित है कि कुछ प्रक्षेपों को छोड़कर अर्धमागधी आगम साहित्य शौरसेनी आगम साहित्य से प्राचीन है। शौरसेनी आगम का प्राचीनतम ग्रन्थ कसायपाहुडसुत भी ईस्वी सन् की तीसरी-चौथी शताब्दी से प्राचीन नहीं है। उसके पश्चात् षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवती आराधना, तिलोपपण्णत्ति, पिण्डछेदशास्त्र, आवश्यक (प्रतिक्रमणसूत्र) आदि का क्रम आता है किन्तु पिण्डछेदशास्त्र और आवश्यक (प्रतिक्रमण) के अतिरिक्त इन सभी ग्रन्थों में गुणस्थान सिद्धान्त आदि की उपस्थिति से यह फलित होता है कि ये सभी ग्रन्थ पाँचवी शती पश्चात् के हैं। दिगम्बर आवश्यक (प्रतिक्रमण) एवं पिण्डछेदशास्त्र का आधार भी क्रमशः श्वेताम्बर मान्य आवश्यक और कल्प-व्यवहार, निशीथ आदि छेदसूत्र ही रहे हैं। उनके प्रतिक्रमण सूत्र में वर्तमान सूत्रकृतांग के तेईस एवं ज्ञाताधर्मकथा के उन्नीस अध्ययनों का विवरण तथा पिण्डछेदशास्त्र में जीतकल्प के आधार पर प्रायश्चित्त देने का निर्देश यह सिद्ध करते हैं कि प्राकृत आगम साहित्य में अर्धमागधी आगम ही प्राचीनतम है चाहे उनकी अन्तिम वाचना पाँचवी शती के उत्तरार्ध (ई. सन् 453) में ही सम्पन्न क्यों न हुई हो?

इस प्रकार जहाँ तर्क आगमों के रचनाकाल का प्रश्न है उसे ई.पू. पाँचवी शताब्दी से ईसा की पाँचवी शताब्दी तक लगभग एक हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में व्यापक माना जा सकता है क्योंकि उपलब्ध आगमों में सभी एक काल की रचना नहीं है। आगमों के सन्दर्भ में और विशेष रूप से अंग आगमों के सम्बन्ध में परम्परागत मान्यता तो यही है कि वे गणधरों द्वारा रचित होने के कारण ई.पू. पाँचवी शताब्दी की रचना है। दूसरी ओर कुछ विद्वान उन्हें वल्लभी में संकलित एवं सम्पादित किये जाने के कारण ईसा की पाँचवी शती की रचना मानते हैं। हमारी दृष्टि से ये दोनों ही मत समीचीन नहीं हैं। देवर्धि के संकलन, सम्पादन एवं लेखन काल को उनका रचना काल नहीं माना जा सकता। अंग आगम तो प्राचीन ही है। ईसा पूर्व चौथी शती के पाटलीपुत्र की वाचना में जिन द्वादश अंगों की वाचना हुई थी, वे निश्चित रूप से उससे पूर्व ही बने होंगे। यह सत्य है कि आगमों में देवर्धि की वाचना के समय अथवा उसके बाद भी कुछ प्रक्षेप हुए हों, किन्तु उन प्रक्षेपों के आधार पर सभी अंग आगमों का रचनाकाल ई. सन् की पाँचवी शताब्दी नहीं माना जा सकता। डॉ. हर्मन याकोबी ने यह निश्चित किया है कि आगमों का प्राचीन अंश ई.पू. चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ई.पू. तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच का है। न केवल अंग आगम अपितु दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार भी जिन्हें आचार्य भद्रबाहु की रचना माना जाता है वे भी याकोबी और शुब्रिंग के अनुसार ई.पू. चतुर्थ शती के उत्तरार्ध से ई.पू. तीसरी शती के

पूवाद्ध में निर्मित हैं। पं. दलसुखभाई आदि की मान्यता है कि आगमों का रचनाकाल प्रत्येक ग्रन्थ की भाषा, छंद योजना, विषयवस्तु और उपलब्ध आन्तरिक और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है। आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध अपनी भाषा-शैली, विषय-वस्तु, छंदयोजना आदि की दृष्टि से महावीर की वाणी के सर्वाधिक निकट प्रतीत होता है। उसकी औपनिषदिक शैली भी यह बताती है कि वह एक प्राचीन ग्रन्थ है उसका काल किसी भी स्थिति में ई.पू. चतुर्थ शती के बाद का नहीं हो सकता। उसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रूप में जो “आयारचूला” जोड़ी गयी है, वह भी ई.पू. दूसरी या प्रथम शती से परवर्ती नहीं है। सूत्रकृतांग भी एक प्राचीन आगम है उसकी भाषा, छन्द-योजना एवं उसमें विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं के तथा ऋषियों के जो उल्लेख मिले हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह भी ई.पू. चौथी-तीसरी शती के बाद का नहीं हो सकता क्योंकि उसके बाद विकसित दार्शनिक मान्यताओं का उसमें कहीं कोई उल्लेख नहीं है। उसमें उपलब्ध वीरस्तुति में भी अतिरंजनाओं को प्रायः अभाव ही है। अंग आगमों में तीसरा क्रम स्थानांग का आता है। स्थानांग, बौद्ध आगम अंगुत्तरनिकाय की शैली का ग्रन्थ है। ग्रन्थ लेखन की यह शैली भी प्राचीन रही है। स्थानांग में नौ गणों और सात निहन्वों के उल्लेख को छोड़कर अन्य ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे उसे परवर्ती कहा जा सके। हो सकता है कि जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण ये उल्लेख उसमें अन्तिम वाचना के समय प्रक्षिप्त किये गये हों। उसमें जो दसदशाओं और उनमें प्रत्येक के अध्यायों के नामों का उल्लेख है वह भी उन आगमों की प्राचीन विषयवस्तु का निर्देश करता है। यदि वह वल्लभी के वाचनाकाल में निर्मित हुआ होता तो उसमें दस दशाओं की जो विषयवस्तु वर्णित है वह भिन्न होती। अतः उसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता। समवायांग, स्थानांग की अपेक्षा एक परवर्ती ग्रन्थ है इसके प्रारम्भ में द्वादश अंगों का स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही इसमें उत्तराध्ययन के 36, ऋषिभाषित के 44, सूत्रकृतांग 23, सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के 16, आचारांग के चूलिका सहित 25 अध्ययन, दशाकल्प और व्यवहार के 26 अध्ययन आदि का उल्लेख होने से इतना तो निश्चित है कि यह ग्रन्थ इसमें निर्दिष्ट आगमों के स्वरूप के निर्धारित होने के पश्चात् ही बना होगा। पुनः इसमें चतुर्दश गुणस्थानों का जीवस्थान के रूप में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह निश्चित है कि गुणस्थान का यह सिद्धान्त उमास्वाति के पश्चात् अर्थात् ईसा की चतुर्थ शती के बाद ही अस्तित्व में आया है। यदि इसमें जीव ठांग के रूप में चौदह गुणस्थानों के उल्लेख को बाद में प्रक्षिप्त भी मान लिया जाय तो भी अपनी भाषा-शैली और विषयवस्तु की दृष्टि से इसका वर्तमान स्वरूप ईसा की 3-4 शती से पहले का नहीं है। हो सकता है उसके कुछ अंश प्राचीन हो, लेकिन आज उन्हें खोज पाना अति कठिन कार्य है। जहाँ तक भगवतीसूत्र का प्रश्न है विद्वानों के अनुसार इसके अनेक

स्तर हैं इसमें कुछ स्तर अवश्य ही ई.पू. के हैं किन्तु समवायांग की भाँति भगवती में भी पर्याप्त प्रक्षेप हुआ है। भगवतीसूत्र में अनेक स्थलों पर जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, नन्दी आदि परवर्ती आगमों का निर्देश हुआ है। इनके उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि इसके सम्पादन के समय इसमें इसी प्रकार की सूचनायें दे दी गयी हैं। इससे यह प्रतिफलित होता है कि वल्लभी वाचना में इसमें पर्याप्त रूप से परिवर्तन और संशोधन अवश्य हुआ है, फिर भी इसके कुछ शतकों की प्राचीनता निर्विवाद है। कुछ पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान इसके प्राचीन एवं परवर्ती स्तरों के पृथक्करण का कार्य कर रहे हैं। उनके निष्कर्ष प्राप्त होने पर ही इसका रचनाकाल निश्चित किया जा सकता है।

आगम साहित्य में उपासकदशा श्रावकाचार का वर्णन करने वाला प्रथम ग्रन्थ है। स्थानांगसूत्र में उल्लिखित इसके दस अध्यायों और उनकी विषयवस्तु में किसी प्रकार के परिवर्तन होने के संकेत नहीं मिलते हैं। अतः यह ग्रन्थ भी अपने वर्तमान स्वरूप में ई.पू. की ही रचना है और इसके किसी भी अध्ययन का विलोप नहीं हुआ है। श्रावकत्रतों के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्टतः इसका अनुसरण देखा जाता है अतः यह तत्त्वार्थ से अर्थात् ईसा की तीसरी शती से परवर्ती नहीं हो सकता है।

अंग आगम साहित्य में अन्तकृतदशा की विषयवस्तु का उल्लेख हमें स्थानांगसूत्र में मिलता है। इसमें इसके निम्न दस अध्याय उल्लिखित हैं - नमि, मांतंग, सोमिल, रामपुत्रे, सुदर्शन, जमालि, भगालि, किंकिम, पल्लतेतिय, फल अम्बडपुत्र। एक सुदर्शन सम्बन्धी कुछ अंश को छोड़कर वर्तमान अन्तकृतदशासूत्र में ये कोई भी अध्ययन नहीं मिलते हैं किन्तु समवायांग और नन्दीसूत्र में क्रमशः सात और आठ वर्गों के उल्लेख मिलते हैं। इससे यह प्रतिफलित होता है कि स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृतदशा का प्राचीन अंश विलुप्त हो गया है। यद्यपि समवायांग और नन्दी में इसके क्रमशः सात एवं आठ वर्गों का उल्लेख होने से इतना तय है कि वर्तमान अन्तकृतदशा समवायांग और नन्दी की रचना के समय अस्तित्व में आ गया था। अतः इसका वर्तमान स्वरूप ईसा की चौथी-पाँचवी शती का है। इसके प्राचीन दस अध्यायों के जो उल्लेख हमें स्थानांग में मिलते हैं उन्हीं दस अध्ययनों के उल्लेख दिगम्बर एवं यापनीय परम्परा के ग्रन्थों यथा अकलंक के राजवार्तिक, धवला, अंगप्रज्ञप्ति आदि में भी मिलते हैं। इससे यह फलित होता है कि अंग के प्राचीन स्वरूप के विलुप्त हो जाने के पश्चात् भी माथुरी वाचना की अनुमति से इसमें स्थानांग उल्लिखित इसके दस अध्यायों की चर्चा होती रही है। हो सकता है कि इसकी माथुरी वाचना में ये दस अध्ययन रहे होंगे।

बहुत कुछ यही स्थिति अनुत्तरोपपातिकदशा की है। स्थानांगसूत्र की सूचना के अनुसार इसमें निम्न दस अध्ययन कहे गये हैं :-

1. ऋषिदास, 2. धन्य, 3. सुनक्षत्र, 4. कार्तिक, 5. संस्थान, 6. शालिभद्र, 7.

आनन्द, 8. तेतली, 9. दशार्णभद्र, 10. अतिमुक्त। उपलब्ध अनुत्तरोपपातिकदशा में तीन वर्ग है; उसमें द्वितीय वर्ग में ऋषिदास, धन्य और सुनक्षत्र ऐसे तीन अध्ययन मिलते हैं इसमें भी धन्य का अध्ययन विस्तृत है। सुनक्षत्र और ऋषिदास के विवरण अत्यन्त संक्षेप में ही हैं। स्थानांग में उल्लिखित शेष सात अध्याय वर्तमान औपपातिकसूत्र में उपलब्ध नहीं होते। इससे यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ वल्लभी वाचना के समय ही अपने वर्तमान स्वरूप में आया होगा।

जहाँ तक प्रनव्याकरणदशा का प्रश्न है इतना निश्चित है कि वर्तमान प्रनव्याकरण की विषयवस्तु न केवल स्थानांग में उल्लिखित उसकी विषयवस्तु से भिन्न है अपितु नन्दी और समवायांग में उल्लिखित विषयवस्तु से भी भिन्न है। प्रनव्याकरण की वर्तमान आप्रव और संवरद्वार वाली विषयवस्तु का सर्वप्रथम निर्देश नन्दीचूर्णि में मिलता है। इससे यह फलित होता है कि वर्तमान प्रनव्याकरण सूत्र ई. सन् की पाँचवी-छठी शती के मध्य ही कभी निर्मित हुआ है। इतना तो निश्चित है कि नन्दी के रचयिता देववाचक के सामने यह ग्रन्थ अपने वर्तमान स्वरूप में नहीं था। किन्तु ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृत्दशा और अनुत्तरोपपातिकदशा में जो परिवर्तन हुए थे, वे नन्दीसूत्रकार के पूर्व हो चुके थे क्योंकि वह उनके इस परिवर्तित स्वरूप का विवरण देते हैं।

अंग आगमों में प्रनव्याकरण के परचात् विपाकसूत्र का क्रम आता है। विपाकसूत्र की विषयवस्तु संल सम्बन्धित उल्लेख सर्वप्रथम स्थानांगसूत्र में दस दशाओं में कर्म विपाक दशा के नाम से मिलता है। वहाँ पर इसके निम्न दस अध्ययनों का उल्लेख हुआ है :-

1. मृगापुत्र, 2. गोत्रास, 3. अण्ड, 4. शकट, 5. ब्राह्मण 6. नन्दिषेण, 7. शौरिक, 8. उदुम्बर, 9. सहस्रोद्वाह आमरक, 10. कुमारलिच्छवी।

किन्तु समवायांग में विपाकसूत्र के दो श्रुत स्कन्ध और 20 अध्ययन बताये गये हैं। वर्तमान में भी दुखविपाक और सुखविपाक - ऐसे दो विभाग उल्लिखित हैं। दुखविपाक के दस अध्ययन निम्न हैं :-

1. मृगापुत्र, 2. उज्जितक, 3. अभगसेन, 4. शकट, 5. बृहस्पतिदत्त, 6. नन्दिवर्धन, 7. उदुम्बरदत्त, 8. शोरिदत्त, 9. देवदत्ता, 10. अजू।

स्थानांग में उल्लिखित नामों से इनकी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि मृगापुत्र, शकट, नन्दिषेण (नन्दिवर्धन), शौरिक (शोरिकदत्त), उदुम्बर (उदुम्बरदत्त) ये पाँच नाम समान किन्तु कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ दोनों ग्रन्थों में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य नामों में स्पष्ट रूप से अन्तर दिखाई देता है किन्तु नामों का यह अन्तर मौलिक

नहीं है। स्थानांगसूत्र में दूसरे अध्ययन का जो गोत्रास नाम कहा गया है वह वर्तमान में उपलब्ध दुखविपाक के दूसरे अध्ययन में उल्लिखित उज्झितक के ही पूर्व भव का नाम है इसी प्रकार अभग्नसेन नामक तीसरे अध्याय का नाम भी उसके द्वारा पूर्व भव में अण्डे का व्यापार करने के कारण अण्ड कहा गया है। बृहस्पतिदत्त के जाति से ब्राह्मण होने के कारण स्थानांगसूत्र में उस अध्याय का नाम ब्राह्मण कहा गया है। सहस्रोद्वाह-आमरक का सम्बन्ध भी राजा की माता को तप्त शलाका से मारने वाली देवदाता के साथ जुड़ा है। अतः इसे देवदाता नाम दिया गया है। कुमारलिच्छवी के स्थान पर जो अंजू नाम उपलब्ध होता है वह नाम भी उसके अपने अन्तिम भव में किसी सेठ के यहाँ अंजू नामक पुत्र के रूप में जन्म ग्रहण करने के कारण हुआ है। अतः नामों को इसी भिन्नता से कथावस्तु की समरूपता में कोई अन्तर नहीं आया है।

विपाकसूत्र के दूसरे विभाग सुखविपाक के जो दस अध्ययन हैं उनका स्थानांगसूत्र में कहीं कोई निर्देश नहीं है। ऐसा लगता है कि यह विवरण परवर्ती काल में किन्तु वलभी वाचना के पूर्व इसमें जोड़ा गया है।

बारहवें अंगसूत्र को दृष्टिवाद के नाम से जाना जाता है। शब्दिक अर्थ की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में भगवान महावीर के पूर्ववर्ती एवं समकालीन विभिन्न दार्शनिक मत-मतान्तरों (दृष्टियों) एवं विचारों को संकलित किया गया होगा। दृष्टिवाद के मूलतः पाँच अधिकार माने गये हैं- 1. परिकर्म, 2. सूत्र, 3. प्रथमानुयोग (कथाएँ), 4. पूर्वगत और 5. चूलिका। यह भी स्वाभाविक है कि इसके पूर्वगत भाग के अन्तर्गत भगवान महावीर के पूर्ववर्ती 23वें तीर्थंकर भगवान पार्व के दार्शनिक विचारों का संकलन रहा होगा।

आज जैन धर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही शाखाएँ इस आगम ग्रन्थ के लुप्त होने की बात स्वीकार करती हैं फिर भी उनकी यह मान्यता है कि इसके पूर्वगत विभाग के आधार पर परवर्ती काल में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है किन्तु इतना निश्चित है कि यह अंग आगम अपने मूल स्वरूप में स्थिर नहीं रह सका। चाहे दृष्टिवाद आज अपने मूल स्वरूप में अनुपलब्ध हो किन्तु उसके कुछ अंश श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं के मान्य ग्रन्थों में सुरक्षित है। श्वेताम्बर परम्परा में उत्तराध्ययन सूत्र के कुछ अध्ययन, दशासूत्रस्कन्ध, वृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि आगम ग्रन्थ तथा जीवसमास, कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि कर्म साहित्य के ग्रन्थ पूर्वोक्त के आधार पर ही निर्मित हुए हैं। दिगम्बर परम्परा में भी कषायपाहुड, षटखण्डागम आदि को पूर्वोक्त से उद्धृत माना जाता है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि चाहे सम्पूर्ण रूप में न सही किन्तु आंशिक रूप से पूर्व साहित्य हमें आज भी विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध हो रहा है।

अंग आगमों के प्रस्तुत अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अंग आगमों का बहुत-सा भाग कालक्रम में विलुप्त हुआ है साथ ही वल्लभी वाचना के पूर्व एवं वल्लभी वाचना के समय उसकी सामग्री को न केवल संकलित किया गया अपितु उसमें संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन एवं विलोप भी हुआ है। इन ग्रन्थों के पुस्तकारूढ़ होने से पूर्व जो श्रुत परम्परा चलती रही, वह भी इन ग्रन्थों के पाठभेद आदि का कारण रही है।

अंग आगमों में उपासकदशांग को छोड़कर सामान्यतया एक ओर पुरानी सामग्री का विलोप तथा दूसरी ओर नवीन सामग्री का प्रक्षेप दोनों ही हुआ है फिर भी अंग आगमों के रूप में जो साहित्य निधि हमें आज उपलब्ध है वह भी भारतीय संस्कृति विशेष रूप से जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति के प्राचीन स्वरूप को स्पष्ट करने में बहुत महत्वपूर्ण है।

जैसा कि हमने संकेत किया है कि प्रस्तुत कृति आचार्य श्री (तत्कालीन युवाचार्य) रामेश के सानिध्य में हुई संगोष्ठी, में पठित आलेखों का एक संकलन है फिर भी इसे अंग आगम साहित्य के परिचय की दृष्टि से व्यापक बनाने का प्रयत्न किया गया तथा इस दृष्टि से हमने उन कुछ पक्षों पर जिनके सन्दर्भ में हमें समुचित आलेख प्राप्त नहीं हो पाये, पूर्व प्रकाशित कुछ ग्रन्थों से तत्सम्बन्धी सामग्री का चयन कर उन्हें प्रकाशित किया गया।

यद्यपि अंग आगम साहित्य में ज्ञान-विज्ञान भी जो विविध विधाएँ उपलब्ध होती हैं उन सबको सम्मिलित कर पाना तो संभव नहीं है फिर भी किसी न किसी रूप में सभी पक्षों का विवेचन हो जाए, यह अवश्य ध्यान में रखा गया है। कृति के प्रारम्भ में ही स्व. पं. बेचरदास जी की आचारांग की विषयवस्तु सम्बन्धी विचारों को संकलित किया गया है जो उसका एक संक्षिप्त किन्तु समग्र परिचय प्रस्तुत करता है। दूसरा आलेख डॉ. सुरेन्द्र वर्मा का है जिसमें उन्होंने आचारांग से कुछ महत्वपूर्ण सूत्रों का चयन कर उनकी व्यावहारिक जीवन में प्रासंगिकता एवं महत्व को उजागर किया है। तीसरा आलेख डॉ. सागरमल जैन का है जो आचारांग में प्रस्तुत सूत्रों का आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा करता है। चौथे आलेख में डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय ने सूत्रकृतांग के सामान्य परिचय के साथ - साथ उसमें उपलब्ध विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का परिचय दिया है। पाँचवाँ आलेख स्थानांग के महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालता है। स्थानांग जैन साहित्य का प्राचीन कोश ग्रन्थ माना जा सकता है। अपने इस आलेख में डॉ. सागरमल जैन ने स्थानांग के विविध आयामों को समाहित करने का प्रयत्न किया है।

छठे आलेख में डॉ. अशोक कुमार ने स्थानांग एवं समवायांग की विषयवस्तु की

पुरावृत्ति को लेकर चर्चा की है इसी क्रम में उन्होंने विषयवस्तु पर भी आंशिक दृष्टि से प्रकाश डाला है।

साँतवे आलेख में डॉ. माया जैन ने भगवती सूत्र का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया है। भगवती जैसे आकर ग्रन्थ के संबंध में यद्यपि यह आलेख प्राथमिक प्रयास ही कहा जा सकता है फिर भी जन-सामान्य को ग्रन्थ का परिचय देने की अपेक्षा से यह पर्याप्त है।

षष्ठ अंग आगम ज्ञाताधर्मकथांग है अपने नाम के अनुरूप ही यह भगवान महावीर द्वारा कथित कुछ उपमापरक और कुछ व्यक्तिपरक कथाएँ प्रस्तुत करता है। डॉ. प्रेम सुमन जैन ने अपने आलेख में इन कथाओं के वैशिष्ट्य एवं उनकी मूल्यवत्ता पर प्रकाश डाला है।

सातवे अंग आगम के रूप में उपासकदशा का नाम आता है। यह ग्रन्थ अंग आगम साहित्य का ऐसा एकमात्र ग्रन्थ है जो श्रावकों के आचार से सम्बन्धित है प्रस्तुत कृति में डॉ. रज्जन कुमार ने श्रावक जीवन के विविध पक्षों पर व्यापक प्रकाश डाला है।

आठवाँ अंग आगम अन्तकृतदशाओं के नाम से जाना जाता है। इसमें तपस्वी साधकों के जीवन चरित्र विशेष रूप से उनकी साधना पक्ष को वर्णित किया है प्रस्तुत कृति में इस आगम पर हमें दो आलेख प्राप्त हुए हैं। डॉ. सागरमल जैन ने अपने आलेख में मुख्य रूप से अन्तकृत की विषयवस्तु के सन्दर्भ में कब और कैसे परिवर्तन हुआ इसका परिचय दिया है। जबकि श्री मानमल कुदाल ने ग्रन्थ के सामाजिक, सांस्कृतिक और साधना पक्ष पर विचार किया है।

नवें अंग आगम अनुरोपपातिकदशा के सन्दर्भ में डॉ. अतुल कुमार प्रसाद सिंह ने विस्तार से प्रकाश डाला है।

दसवें अंग आगम प्रश्न व्याकरण के सन्दर्भ में डॉ. सागरमल जैन का आलेख प्राप्त है। इस आलेख में उन्होंने मुख्य रूप से कालक्रम में प्रश्न व्याकरण सूत्र की विषय वस्तु में कैसा-कैसा परिवर्तन आया, इसकी चर्चा की है।

ग्यारहवें अंग आगम विपाकसूत्र के सन्दर्भ में डॉ. सुरेश सिसोदिया का आलेख प्रस्तुत किया गया है, जो ग्रन्थ के सामान्य परिचय के साथ इसके महत्वपूर्ण सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्षों पर भी प्रकाश डालता है।

बाहरवें अंग आगम दृष्टिवाद के सन्दर्भ में हमें एक आलेख डॉ. उदयचन्द जैन का प्राप्त है इस आलेख में उन्होंने मुख्यतः दिगम्बर ग्रन्थों में विशेष रूप से षट्खण्डागम में दृष्टिवाद की विषयवस्तु के आधारभूत सूत्रों को प्रस्तुत किया है। चूँकि उनका

आलेख मुख्यतः शौरसेणी प्राकृत में निबद्ध रहा अतः जन साधारण को दृष्टिवाद की विषयवस्तु से परिचित कराने हेतु स्व. आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री का एक आलेख उद्धृत कर यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

अंग आगमों के भाषा विषयक अध्ययन हेतु प्रस्तुत कृति के अन्त में डॉ. जगतराम भट्टाचार्य का अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत महत्वपूर्ण आलेख किया गया है। इस प्रकार हमारी दृष्टि में प्रस्तुत कृति अंग आगमों और उनकी विषयवस्तु को लेकर जो एक बहुआयामी गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत करती है वह निश्चित ही विद्वत् जगत को आगमिक दिशा में प्रेरित करेगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

सागरमल जैन
सुरेश सिसोदिया

विषय-सूची

क्र.सं.	लेखक	लेखा	पृष्ठ
01.	अंगग्रंथों का अंगरंग परिचय : आचारांग पं. बेचरदास दोशी		1
02.	आचारांग के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र ; एक विश्लेषण प्रो. सुरेन्द्र वर्मा		70
03.	आधुनिक मनोविज्ञान के संदर्भ में आचारांग-सूत्र ; एक अध्ययन प्रो. सागरमल जैन		83
04.	सूत्रकृतांग सूत्र : एक दार्शनिक अध्ययन डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय		96
05.	स्थानांगसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन प्रो. सागरमल जैन		117
06.	स्थानानांग एवं समवायांग में पुनरावृत्ति की समस्या डॉ. अशोक कुमार सिंह		130
07.	व्याख्याप्रज्ञप्ति : स्वरूप एवं विश्लेषण डॉ. माया जैन		150
08.	ज्ञाताधर्मकथा सूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन प्रो. प्रेमसुमन जैन		159
09.	उपासकदशांग का समीक्षात्मक अध्ययन डॉ. रज्जन कुमार		167
10.	अन्तकृद्दशा की विषय वस्तु ; एक पुनर्विचार प्रो. सागरमल जैन		195
11.	अन्तगड्दशासूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन मानमल कुदाल		205
12.	अनुत्तरोपपातिकदशा का समीक्षात्मक अध्ययन डॉ. अतुल कुमार प्रसाद सिंह		228
13.	प्रनव्याकरणसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन प्रो. सागरमल जैन		258
14.	विपाकसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन डॉ. सुरेश सिसोदिया		268
15.	द्विवादनचिंतन-दृष्टिवाद ; एक अनुचिंतन डॉ. उदयचन्द जैन		277
16.	दृष्टिवाद स्व. आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री		292
17.	Linguistic Study of the Canonical Literature (Amṅa) with special reference to the vowels and single consonants Dr. Jagatram Bhattacharya		298

अंग साहित्य : मनन और मीमांसा

ANGA SAHITYA : MANANA AURA MIMANSA

अंगग्रन्थों का अंतरंग परिचय : आचारांग*

□ पं. बेचरदास दोशी

अंगों के बाह्य परिचय में अंगग्रन्थों की शैली, भाषा, प्रकरण-क्रम तथा विषय-विवेचन की चर्चा की गई। अंतरंग परिचय में निम्नोक्त पहलुओं पर प्रकाश डाला जाएगा :-

1. अचेलक व सचेलक दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में निर्दिष्ट अंगों के विषयों का उल्लेख व उनकी वर्तमान विषयों के साथ तुलना।
2. अंगों के मुख्य नामों तथा उनके अध्ययनों के नामों की चर्चा।
3. पाठान्तरों, वाचनाभेदों तथा छन्दों के विषय में निर्देश।
4. अंगों में उपलब्ध उपोद्घात द्वारा उनके कर्तव्य का विचार।
5. अंगों में आने वाले कुछ आलापकों की चूर्णि, वृत्ति इत्यादि के अनुसार तुलनात्मक चर्चा।
6. अंगों में आने वाले अन्यमतसम्बन्धी उल्लेखों की चर्चा।
7. अंगों में आने वाले विशेष प्रकार के वर्णन, विशेष नाम, नगर इत्यादि के नाम तथा समाजिक एवं ऐतिहासिक उल्लेख।
8. अंगों में प्रयुक्त मुख्य-मुख्य शब्दों के विषय में निर्देश।

अचेलक परम्परा के राजवार्तिक, धवला, जयधवला, गोम्मटसार, अंगपण्णत्ति आदि ग्रन्थों में बताया है कि आचारांग¹ में मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ईर्याशुद्धि, उत्सर्गशुद्धि, शयनासनशुद्धि तथा विनयशुद्धि - इन आठ प्रकार की शुद्धियों का विधान है।

* जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग -1, पं. बेचरदास दोशी, प्रका. पार्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, द्वि.सं. वर्ष 1989 से साभार उद्धृत

-सम्पादक

सचेलक परम्परा के समवायांगसूत्र में बताया गया है निर्ग्रन्थसम्बन्धी आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, स्थान, गमन, संक्रमण, प्रमाण, योगयोजना, भाषा, समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, आहार-पानी सम्बन्धी उद्गम, उत्पाद, एषणाविशुद्धि एवं शुदशुद्धग्रहण, व्रत, नियम, तप, उपधान, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचारविषयक सुप्रशस्त विवेचन आचारांग में उपलब्ध है।

नदीसूत्र में बताया गया है कि आचारांग में श्रमण निर्ग्रन्थों के आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, शिक्षा, भाषा, अभाषा, चरणकरण, यात्रा, मात्रा तथा विविध अभिग्रहण विषयक वृत्तियों एवं ज्ञानाचारादि पाँच प्रकार के आचार पर प्रकाश डाला गया है।

समवायांग व नन्दीसूत्र में आचारांग के विषय का निरूपण करते हुए प्रारंभ में ही “आयार-गोचर” ये दो शब्द रखे गये हैं। ये शब्द आचारांग के प्रारंभिक अध्ययनों में नहीं मिलते। विमोह अथवा विमोक्ष नामक अष्टम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में “आयार-गोचर” ऐसा उल्लेख मिलता है। इसी अध्ययन के दूसरे उद्देशक में “आयारगोचरं आइक्खे” इस वाक्य में भी आचार-गोचरविषयक निरूपण है। अष्टम अध्ययन में साधक श्रमण के खान-पान तथा वस्त्र-पात्र के विषय में भी चर्चा है। इसमें उसके निवासस्थान का भी विचार किया गया है। साथ ही अचेलक-यथाजात श्रमण तथा उसकी मनोवृत्ति का भी निरूपण है। इसी प्रकार एकवस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी तथा त्रिवस्त्रधारी भिक्षुओं एवं उनके कर्तव्यों व मनोवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस आचार-गोचर की भूमिकारूप आध्यात्मिक योग्यता पर ही प्रारंभिक अध्ययनों में भार दिया गया है।

विषय :- वर्तमान आचारांग में क्या उपर्युक्त विषयों का निरूपण है? यदि है तो किस प्रकार? उपर्युक्त राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में आचारांग के जिन विषयों का उल्लेख है वे इतने व्यापक व सामान्य है कि ग्यारह अंगों में से प्रत्येक अंग में किसी न किसी प्रकार उनकी चर्चा आती ही है। इनका सम्बन्ध केवल आचारांग से ही नहीं है। अचेलक परम्परा के राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में आचारांग के श्रुतस्कन्ध, अध्ययन आदि के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनमें केवल उसकी

पदसंख्या के विषय में उल्लेख आता है। सचेलक परम्परा के समवायांग तथा नन्दीसूत्र में बताया गया है कि आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं, पच्चीस अध्ययन हैं। इनमें पदसंख्या के विषय में भी उल्लेख मिलते हैं। आचारांग के दो श्रुतस्कन्धों में से प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम “ब्रह्मचर्य” है। इसके नौ अध्ययन होने के कारण इसे “नवब्रह्मचर्य” कहा गया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिकारूप है। इसका दूसरा नाम “आचाराग्र” भी है। वर्तमान में प्रचलित पद्धति के अनुसार इसे प्रथम श्रुतस्कन्ध का परिशिष्ट भी कह सकते हैं। राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में आचारांग का जो विषय बताया गया है वह द्वितीय श्रुतस्कन्ध में अक्षरशः मिल जाता है। इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार व वृत्तिकार कहते हैं कि स्थविर पुरुषों ने शिष्यों के हित की दृष्टि से आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अप्रकट अर्थ को प्रकट कर-विभागाः स्पष्ट कर चूलिकारूप-आचाराग्ररूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना की है। नवब्रह्मचर्य के प्रथम अध्ययन “शस्त्रपरिज्ञा” में समारंभ-समालंभ अथवा आरंभ-आलंभ अर्थात् हिंसा के त्यागरूप संयम के विषय में जो विचार सामान्य तौर पर रखे गये हैं, उन्हीं का यथोचित विभाग कर द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पंच महाव्रतों एवं उनकी भावनाओं के साथ ही साथ संयम की एकविधता, द्विविधता आदि का व चातुर्यास, पंचयाम, रात्रिभोजनत्याग इत्यादि का परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्ययन “लोकविजय” के पाँचवे उद्देशक में आने वाले “सव्वामगंधे परिन्नाय निरामगंधे परिव्वए” तथा “अदिस्समाणे कय-विक्कएसु” इन वाक्यों में एवं आठवें विमोक्ष अथवा विमोह नामक अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में आने वाले “से भिक्खू परक्कमेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा सूसाणांसि वा रूक्खमूलंसि वा” इस वाक्य में जो भिक्षुचर्या संक्षेप में बताई गई है उसे दृष्टि में रखते हुए द्वितीय श्रुतस्कन्ध में एकादश पिण्डैषणाओं का विस्तार से विचार किया गया है। इसी प्रकार द्वितीय अध्ययन के पंचम उद्देशक में निर्दिष्ट “वत्थं पडिग्गह कंबलं पायपुंछणं ओग्गहं च कडासणं” को मूलभूत मानते हुए वस्त्रैषणा, अवग्रहप्रतिमा, शय्या आदि का आचाराग्र में विवेचन किया गया है। पाँचवें अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक के “गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स” इस वाक्य में आचारचूलिका

के सम्पूर्ण ईर्या अध्ययन का मूल विद्यमान है। धूत नामक छठे अध्ययन के पाँचवे उद्देशक के “आइक्खे विभए किट्टे वेयवी” इस वाक्य में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के “भाषाजात” अध्ययन का मूल है। इस प्रकार नवब्रह्मचर्यरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध आचारचूलिकारूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध का आधारस्तम्भ है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के उपधानश्रुत नामक नौवें अध्ययन के दो उद्देशकों में भगवान महावीर की चर्या का ऐतिहासिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण वर्णन है। यह वर्णन जैनधर्म की भित्तिरूप आंतरिक एवं बाह्य अपरिग्रह की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्व का है। वैदिक परम्परा के हिंसारूप आलंभन का सर्वथा निषेध करने वाला एवं अहिंसा को ही धर्मरूप बताने वाला शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन भी कम महत्व का नहीं है। इसमें हिंसारूप स्नानादि शौचधर्म को चुनौती दी गई है। साथ ही वैदिक व बौद्ध परम्परा के मुनियों की हिंसारूप चर्या के विषय में भी स्थान-स्थान पर विवेचन किया गया है एवं “सर्व प्राणों का हनन करना चाहिए” इस प्रकार का कथन अनायों का है तथा “किसी भी प्राण का हनन नहीं करना चाहिए” इस प्रकार का कथन आयों का है, इस मत की पुष्टि की गई है। “अवरेण पुव्वं न सरंति एगे”, “तहागया उ” इत्यादि उल्लेखों द्वारा तथागत बुद्ध के मत का निर्देश किया गया है। “यतो वाचो निवर्तन्ते” जैसे उपनिषद् वाक्यों से मिलते-जुलते “सव्वे सरा नियट्टति, तक्का जत्थ न विज्जई” इत्यादि वाक्यों द्वारा आत्मा की अगोचरता बताई गई है। अचेलक-सर्वथा नग्न, एक वस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी तथा त्रिवस्त्रधारी भिक्षुओं की चर्या से सम्बन्धित महत्वपूर्ण उल्लेख प्रथम श्रुतस्कन्ध में उपलब्ध हैं। इन उल्लेखों में सचेलकता और अचेलकता की संगतिरूप सापेक्ष मर्यादा का प्रतिपादन है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में आने वाली सभी बातें जैनधर्म के इतिहास की दृष्टि से, जैनमुनियों की चर्या की दृष्टि से एवं समग्र जैनसंघ की अपरिग्रहात्मक व्यवस्था की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

अचेलकता व सचेलकता :- भगवान महावीर की उपस्थिति में अचेलकता-सचेलकता का कोई विशेष विवाद न था। सुधर्मास्वामी के समय में भी अचेलक व सचेलक प्रथाओं की संगति थी। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में अचेलक अर्थात्

वस्त्ररहित भिक्षु के विषय में तो उल्लेख आता है किन्तु करपात्री अर्थात् पाणिपात्री भिक्षु के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। वीरनिर्वाण के हजार वर्ष बाद संकलित कल्पसूत्र के समाचारी-प्रकरण की 253, 254 एवं 255वीं कंडिका में “पाणिपडिग्गहियस्स भिक्खुस्स” इन शब्दों में पाणिपात्री अथवा करपात्री भिक्षु का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है। आगे की कंडिका में “पडिग्गहधारिस्स भिक्खुस्स” इन शब्दों में पात्रधारी भिक्षु का भी उल्लेख है। इस प्रकार सचेलक परम्परा के आगम में अचेलक व सचेलक की भांति करपात्री एवं पात्रधारी भिक्षुओं का भी स्पष्ट उल्लेख है।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वस्त्रधारी भिक्षुओं के विषय में विशेष विवेचन आता है। इसमें सर्वथा अचेलक भिक्षु के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं मिलता। वैसे मूल में तो भिक्षु एवं भिक्षुणी जैसे सामान्य शब्दों का ही प्रयोग हुआ है किन्तु जहाँ-जहाँ भिक्षु को ऐसे वस्त्र लेने चाहिए, ऐसे वस्त्र नहीं लेने चाहिए। ऐसे पात्र लेने चाहिए, ऐसे पात्र नहीं लेने चाहिए - इत्यादि चर्या का विधान है वहाँ सचेलक अथवा पाणिपात्र भिक्षु की चर्या के विषय में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध का झुकाव सचेलक प्रथा की ओर है। सम्भवतः इसीलिए स्वयं निर्युक्तिकार ने इसकी रचना का दायित्व स्थविरों पर डाला है। सुधर्मास्वामी का झुकाव दोनों परम्पराओं की सापेक्ष संगति की ओर मालूम पड़ता है। इस झुकाव का प्रतिबिम्ब प्रथम श्रुतस्कन्ध में दिखाई देता है। दूसरा अनुमान यह भी हो सकता है कि नग्नता तथा सचेलकता (जीर्णवस्त्रधारित्व अथवा अल्पवस्त्रधारित्व) दोनों प्रथाओं की मान्यता होने के कारण जो समुदाय अपनी शारीरिक, मानसिक अथवा सामाजिक परिस्थितियों एवं मर्यादाओं के कारण सचेलकता की ओर झुकने लगा हो उसका प्रतिनिधित्व दूसरे श्रुतस्कन्ध में किया गया हो। जिस युग का यह द्वितीय श्रुतस्कन्ध है उस युग में भी अचेलकता समादरणीय मानी जाती थी एवं सचेलकता की ओर झुका हुआ समुदाय भी अचेलकता को एक विशिष्ट तपश्चर्या के रूप में देखता था एवं अपनी अमुक मर्यादाओं के कारण वह स्वयं उस ओर नहीं जा सकता था। एतद्विषयक अनेक प्रमाण अगंशास्त्रों

में आज भी उपलब्ध हैं। अंगसाहित्य में अचेलकता एवं सचेलकता दोनों प्रथाओं का सापेक्ष समर्थन मिलता है।

अचेलक अर्थात् यथाजात एवं सचेलक अर्थात् अल्पवस्त्रधारी - इन दोनों प्रकार के साधक श्रमणों में अमुक प्रकार का श्रमण अपने को अधिक उत्कृष्ट समझे एवं दूसरे को अपकृष्ट समझे, यह ठीक नहीं। यह बात आचाराग्र के मूल में ही कही गई है। वृत्तिकार ने भी अपने शब्दों में इसी आशय को अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने तत्सम्बन्धी एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत की है जो इस प्रकार है :-

जो वि दुवत्थतिवत्थो बहुवत्थ अचेलओ व संथरइ।

न हू ते हीलंति परं सब्बे वि अ ते जिणाणाए।।

- द्वितीय श्रुतस्कन्ध, सू. 286, पृ. 327 पर वृत्ति.

कोई चाहे द्विवस्त्रधारी हो, त्रिवस्त्रधारी हो, बहुवस्त्रधारी हो अथवा निर्वस्त्र हो किन्तु उन्हे एक - दूसरे की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। निर्वस्त्र ऐसा न समझे कि मैं उत्कृष्ट हूँ और ये द्विवस्त्रधारी आदि अपकृष्ट हैं। इसी प्रकार द्विवस्त्रधारी आदि ऐसा न समझे कि हम उत्कृष्ट हैं और यह त्रिवस्त्रधारी या निर्वस्त्र श्रमण अपकृष्ट हैं, उन्हें एक - दूसरे का अपमान नहीं करना चाहिए क्योंकि ये सभी जिन भगवान की आज्ञा का अनुसरण करने वाले हैं।

इससे स्पष्ट है कि निर्वस्त्र व वस्त्रधारी दोनों के प्रति मूल सूत्रकार से लगाकर वृत्तिकारपर्यन्त समस्त आचार्यों ने अपना समभाव व्यक्त किया है। उत्तराध्ययन में आने वाले केशी - गौतमीय नामक 23वें अध्ययन के संवाद में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।

आचार के पर्याय :- जहाँ-जहाँ द्वादशरांग अर्थात् बारह अंगग्रंथों के नाम बताये गये हैं, सर्वत्र प्रथम नाम अचारांग का आता है। आचार के पर्यायवाची नाम निर्युक्तिकार ने इस प्रकार बताये हैं :- आचार, आचाल, आगाल, आगर, आसास, आयरिस, अंग, आइण्ण, आजाति एवं आमोक्ष। इन दस नामों में आदि के दो नाम भिन्न नहीं अपितु एक ही शब्द के रूपान्तर हैं। “आचाल” के “च” का लोप

नहीं हुआ हे जबकि “आयार” में “च” लुप्त है। इसके अतिरिक्त “आचाल” में मागधी भाषा के नियम के अनुसार “र” का “ल” हुआ है। “आगाल” शब्द भी “आयार” से भिन्न मालूम नहीं पड़ता। “य” तथा “ग” का प्राचीन देवनागरी लिपि की अपेक्षा से भी इनका मिश्रण असम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में “आयार” के बजाय “आगाल” का वाचन संभव है। इसी प्रकार “आगाल” एवं “आगर” भी भिन्न मालूम नहीं पड़ते। “आगर” शब्द के “गा” के “आ” का ह्रस्व होने पर “आगर” एवं “आगार” के “र” का “ल” होने पर “आगाल” होना सहज है। “आइण्ण (आचीर्ण) नाम में “चर” धातु के भूतकृदंत का प्रयोग हुआ है। इसे देखते हुए “आयार” के अन्तर्गत इस नाम का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार आयार, आंचाल, आगाल, आगर एवं आइण्ण भिन्न-भिन्न शब्द नहीं अपितु एक ही शब्द के विभिन्न रूपान्तर हैं। आसास, आयरिस, अंग, आज्ञाति एवं अमोक्ष शब्द आयार शब्द से भिन्न है। इनमें से “अंग” शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ रहा हुआ है जैसे आयारअंग अथवा आयारंग इत्यादि। आयार-आचार सूत्र श्रुतरूप पुरूष का एक विशिष्ट अंग है अतः इसे आयारंग-आचारंग कहा जाता है। “आज्ञाति” शब्द स्थानांग सूत्र में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है- जन्म के अर्थ में व आचारदशा नामक शास्त्र के दसवें अध्ययन के नाम के रूप में। संभवतः आचारदशा व आचार के नामसाम्य के कारण आचारदशा के अमुक अध्ययन का नाम समग्र आचारंग के लिए प्रयुक्त हुआ हो। आसास आदि शेष शब्दों की कोई उल्लेखनीय विशेषता प्रतीत नहीं होती।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययन :- नवब्रह्मचर्यरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनों के नामों का निर्देश स्थानांग व समवायांग में उपलब्ध है। इसी प्रकार का अन्य उल्लेख आचारंगनिर्युक्ति (गा. 31-2) में भी मिलता है। तदनुसार नौ अध्ययन इस प्रकार हैं :- 1. सत्थपरिण्णा (शास्त्रपरिज्ञा), 2. लोगविजय (लोकविजय), 3. सीओसणिज्ज (शीतोष्णीय), 4. सम्मत्त (सम्यक्त्व), 5. आवन्ति (यावन्त), 6. धूअ (धूत), 7. विमोह (विमोह अथवा विमोक्ष), 8. उवहाणसुअ (उपधानश्रुत), 9. महापरिण्णा (महापरिज्ञा)। नंदिसूत्र की हरिभद्रीय तथा मलयगिरिकृत वृत्ति में

महापरिण्णा का क्रम आठवाँ तथा उवहाणसुअ का क्रम नववाँ है। आचारांग -निर्युक्ति में धुअ के बाद महापरिण्णा, उसके बाद विमोह व उसके बाद उवहाणसुअ का निर्देश है। इस प्रकार अध्ययनक्रम में कुछ अन्तर होते हुए भी संख्या की दृष्टि से सब एकमत हैं। इन नवों अध्ययनों का एक सामान्य नाम नवब्रह्मचर्य भी है। यहाँ ब्रह्मचर्य शब्द व्यापक अर्थ - संयम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आचारांग की उपलब्ध वाचना में “छठा धूअ, सातवाँ महापरिण्णा, आठवाँ विमोह एवं नववाँ उवहाणसुअ” - इस प्रकार का क्रम है। निर्युक्तिकार ने तथा वृत्तिकार शीलंकां ने भी यही क्रम स्वीकार किया है। प्रस्तुत चर्चा में इसी क्रम का अनुसरण किया जाएगा।

उपर्युक्त नौ अध्ययनों में से प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्रपरिज्ञा है। इसमें कुल मिलाकर सात उद्देशक-प्रकरण हैं। निर्युक्तिकार ने इन उद्देशकों का विषयक्रम निरूपण करते हुए बताया है कि प्रथम उद्देशक में जीव के अस्तित्व का निरूपण है तथा आगे के छः उद्देशकों में पृथ्वीकाय आदि छः जीवनिकायों के आरंभ - समारंभ की चर्चा है। इन प्रकरणों में शस्त्र शब्द का अनेक बार प्रयोग किया गया है एवं लौकिक शस्त्र की अपेक्षा सर्वथा भिन्न प्रकार के शस्त्र के अभिधेय का स्पष्ट परिज्ञान कराया गया है। अतः शब्दार्थ की दृष्टि से भी इस अध्ययन का शस्त्रपरिज्ञा नाम सार्थक है।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोकविजय है। इसमें कुल छः उद्देशक हैं। कुछ स्थानों पर “गढिए लोए, लोए पव्वहिए, लोगविपस्सी, विइत्ता लोगं, वंता लोगसन्नं लोगस्स कम्मसमारंभा” इस प्रकार के वाक्यों में “लोक” शब्द का प्रयोग तो मिलता है किन्तु सारे अध्ययन में कहीं भी “विजय” शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई देता फिर भी समग्र अध्ययन में लोकविजय का ही उपदेश है, ऐसा कहा जा सकता है। यहाँ विजय का अर्थ लोकप्रसिद्ध जीत ही है। लोक पर विजय प्राप्त करना अर्थात् संसार के मूल कारण रूप क्रोध, मान, माया व लोभ- इन चार कषायों को जीतना, यही इस अध्ययन का सार है। निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन के छहों उद्देशकों का जो विषयानुक्रम बताया है वह उसी रूप में उपलब्ध है। वृत्तिकार ने भी उसी का अनुसरण किया है। इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य वैराग्य बढ़ाना,

संयम में दृढ़ करना, जातिगत अभिमान को दूर करना, भोगों की आसक्ति से दूर रखना, भोजनादि के निमित्त होने वाले आरंभ-समारंभ का त्याग करवाना, ममता छुड़वाना आदि है।

तृतीय अध्ययन का नाम सीओसिणज्ज - शीतोष्णीय है। इसके चार उद्देशक हैं। शीत अर्थात् शीतलता अथवा सुख एवं उष्ण अर्थात् परिताप अथवा दुःख। प्रस्तुत अध्ययन में इन दोनों के त्याग का उपदेश है। अध्ययन के प्रारम्भ में ही "सीओसिणच्चाई" (शीतोष्णत्यागी) ऐसा शब्द प्रयोग भी उपलब्ध है। इस प्रकार अध्ययन का शीतोष्णीय नाम सार्थक है। निर्युक्तिकार ने चारों उद्देशकों का विषयानुक्रम इस प्रकार बताया है- प्रथम उद्देशक में असंयमी को सुप्त-सोते हुए की कोटि में गिना गया है। दूसरे उद्देशक में बताया है कि इस प्रकार से सुप्त व्यक्ति महान् दुःख का अनुभव करते हैं। तृतीय उद्देशक में कहा गया है कि श्रमण के लिए केवल दुःख सहन करना अर्थात् देहदमन करना ही पर्याप्त नहीं है। उसे चित्तशुद्धि की भी वृद्धि करते रहना चाहिए। चतुर्थ अध्ययन में कषाय-त्याग, पापकर्म - त्याग एवं संयमोत्कर्ष का निरूपण है। यही विषयक्रम वर्तमान में भी उपलब्ध है।

चतुर्थ अध्ययन का नाम सम्मत्त - सम्यक्त्व है। इसके चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में हिंसा की स्थापना करने वाले अन्य यूथिकों को अनार्य कहा गया है एवं उनसे प्रश्न किया गया है कि उन्हें मन की अनुकूलता सुखरूप प्रतीत होती है अथवा मन की प्रतिकूलता? इसप्रकार इस उद्देशक में भी अहिंसाधर्म का ही प्रतिपादन किया गया है। तृतीय उद्देशक में निर्दोष तप का अर्थात् केवल देहदमन का ही नहीं अपितु चित्तशुद्धिपोषक अक्रोध, अलोभ, क्षमा, संतोष आदि गुणों की वृद्धि करने वाले तप का भी निरूपण है। चतुर्थ उद्देशक में सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप की प्राप्ति के लिए यत्न करने का उपदेश है। इसप्रकार यह अध्ययन सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देने वाला है। इसमें अनेक स्थानों पर "सम्मत्तदसिणो, सम्मं एवं ति" आदि वाक्यों में सम्मत्त-सम्यक्त्व शब्द का साक्षात् निर्देश भी है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन का सम्यक्त्व नाम सार्थक है। विषयानुक्रम की दृष्टि से भी निर्युक्तिकार व सूत्रकार में साम्य है।

निर्युक्तिकार के कथनानुसार पाँचवे अध्ययन के दो नाम हैं- आवृति व लोकसार। अध्ययन के प्रारम्भ, मध्य एवं अन्त में आवृति शब्द का प्रयोग हुआ है अतः इसे आवृति नाम दे सकते हैं। इसमें जो कुछ निरूपण है वह समग्रलोक का साररूप है अतः इसे लोकसार भी कहा जा सकता है। अध्ययन के प्रारम्भ में ही “लोक” शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्यत्र भी अनेक बार “लोक” शब्द का प्रयोग हुआ है। समग्र अध्ययन में कहीं भी “सार” शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। अध्ययन के अन्त में शब्दातीत एवं बुद्धि व तर्क से अगम्य आत्मतत्त्व का निरूपण है। यही निरूपण साररूप है, यों समझकर इसका नाम लोकसार रखा गया हो, यह संभव है। इसके छः उद्देशक हैं। निर्युक्तिकार ने इनका जो विषयक्रम बताया है वह आज भी इसी रूप में उपलब्ध है। इनमें सामान्य श्रमणचर्या का प्रतिपादन है।

छठे अध्याय का नाम धूत है। अध्ययन के आरम्भ में ही “अग्घाइ से धूय नाण” इस वाक्य में धूय - धूत शब्द का उल्लेख है। आगे भी “धूयवायं पवेस्सामि” यों कह कर धूतवाद का निर्देश किया है। इसप्रकार प्रस्तुत अध्ययन का धूत नाम सार्थक है। हमारी भाषा में “अवधूत” शब्द का जो अर्थ प्रचलित है वही अर्थ प्रस्तुत धूत शब्द का भी है। इस अध्ययन के पाँच उद्देशक हैं। इसमें तृष्णा को झटकने का उपदेश है। आत्मा में जो सयण याने सदन, शयन या स्वजन, उपकरण, शरीर, रस, वैभव, सत्कार आदि की तृष्णा विद्यमान है उसे झटक कर साफ कर देना चाहिए।

सातवें अध्ययन का नाम महापरिन्ना - महापरिज्ञा है। यह अध्ययन वर्तमान में अनुपलब्ध है किन्तु इस पर लिखी गई निर्युक्ति उपलब्ध है। इससे पता चलता है कि निर्युक्तिकार के सामने यह अध्ययन अवश्य रहा होगा। निर्युक्तिकार ने “महापरिन्ना” के “महा” एवं “परिन्ना” इन दो पदों का निरूपण करने के साथ ही परिन्ना के प्रकारों का भी निरूपण किया है एवं अन्तिम गाथा में बताया है कि साधक को देवांगना, नरांगना, व तिर्यञ्चांग इन तीनों का मन, वचन व काया से त्याग करना चाहिए। इस परित्याग का नाम महापरिज्ञा है। इस अध्ययन का विषय निर्युक्तिकार के शब्दों में “मोहसमुत्था परिसहुवसग्गा” अर्थात् मोहजन्य परीषह

अथवा उपसर्ग हैं। इसकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकार शीलांकदेव कहते हैं कि संयमी श्रमण को साधना में विघ्नरूप से उत्पन्न मोहजन्य परीषहों अथवा उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। स्त्री-संसर्ग भी एक मोहजन्य परीषह ही है। भगवान् महावीरकृत आचारविधानों में ब्रह्मचर्य अर्थात् त्रिविध स्त्री संसर्गत्याग प्रधान है। परम्परा से चले आने वाले चारयामों - चार महाव्रतों में भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत को अलग से जोड़ा। इससे पता चलता है कि भगवान् महावीर के समय में एतद्विषयक कितनी शिथिलता रही होगी। इस प्रकार के उपशैथिल्य एवं आचारपतन के युग में कोई विघ्नसंतोषी कदाचित् इस अध्ययन के लोप में निमित्त बना हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

आठवें अध्ययन के दो नाम मालूम पड़ते हैं :- एक विमोक्ख अथवा विमोक्ष और दूसरा विमोह। अध्ययन के मध्य में “इच्चेयं विमोहाययणं” तथा “अणुपुब्बेण विमोहाइ” व अध्ययन के अन्त में “विमोहन्नयरं हियं” इन वाक्यों में स्पष्ट रूप से “विमोह” शब्द का उल्लेख है। यही शब्दप्रयोग अध्ययन के नामकरण में निमित्तभूत मालूम होता है। निर्युक्तिकार ने नाम के रूप में “विमोक्ख-विमोक्ष” शब्द का उल्लेख किया है। वृत्तिकार शीलांकसूरि मूल व निर्युक्ति दोनों का अनुसरण करते हैं। अर्थ की दृष्टि से विमोह व विमोक्ख में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। प्रस्तुत अध्ययन के आठ उद्देशक हैं। उद्देशकों की संख्या की दृष्टि से यह अध्ययन शेष आठों अध्ययनों से बड़ा है। निर्युक्तिकार का कथन है कि इन आठों उद्देशकों में विमोक्ष निरूपण है। विमोक्ष का अर्थ है अलग हो जाना-साथ में न रहना। विमोह का अर्थ है मोह न रखना - संसर्ग न करना। प्रथम उद्देशक में बताया है कि जिन अनगारों का आचार अपने आचार से मिलता न दिखाई दे उनके संसर्ग से मुक्त रहना चाहिए - उनके साथ नहीं रहना चाहिए अथवा वैसे अनगारों से मोह नहीं रखना चाहिए - उनका संग नहीं करना चाहिए। दूसरे उद्देशक में बताया है कि आहार, पानी, वस्त्र आदि दूषित हों तो उनका त्याग करना चाहिए - उनसे अलग रहना चाहिए - उन पर मोह नहीं रखना चाहिए। तृतीय उद्देशक में बताया है कि साधु के शरीर का कंपन देखकर यदि कोई गृहस्थ शंका करे कि यह साधु कामावेश

के कारण कांपता है तो उसकी शंका को दूर करना चाहिए - उसे शंका से मुक्त करना चाहिए - उसका शंकारूप जो मोह है उसे दूर करना चाहिए। आगे के उद्देशकों में उपकरण एवं शरीर के विमोक्ष अथवा विमोह के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है जिसका सार यह है कि यदि ऐसी शारीरिक परिस्थिति उत्पन्न हो जाय कि संयम की रक्षा न हो सके अथवा स्त्री आदि के अनुकूल अथवा प्रतिकूल उपसर्ग होने पर संयम - भंग की स्थिति पैदा हो जाय तो विवेकपूर्वक जीवन का मोह छोड़ देना चाहिए अर्थात् शरीर आदि से आत्मा का विमोक्ष करना चाहिए।

नवें अध्ययन का नाम उवहाणसूय-उपधानश्रुत है। इसमें भगवान् महावीर की गंभीर ध्यानमय व धीरतपोमय साधना का वर्णन है। उपवन शब्द तप के पर्याय के रूप में जैन प्रवचन में प्रसिद्ध है इसीलिए इसका नाम उपधानश्रुत रखा गया मालूम होता है। निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन के नाम के लिए "उवहाणसूय" शब्द का प्रयोग किया है। इसके चार उद्देशक में दीक्षा लेने के बाद भगवान् को जो कुछ सहन करना पड़ा उसका वर्णन है। उन्होंने सर्वप्रकार की हिंसा का त्याग कर अहिंसामय चर्या स्वीकार की। वे हेमन्त ऋतु में अर्थात् कड़कड़ाती ठंडी में घरबार छोड़ कर निकल पड़े एवं कठोर प्रतिज्ञा की कि "इस वस्त्र से शरीर को ढकूंगा नहीं, इत्यादि। द्वितीय एवं तृतीय उद्देशक में भगवान् ने कैसे-कैसे स्थानों में निवास किया एवं वहाँ उन्हें कैसे-कैसे परीषह सहन करने पड़े, यह बताया गया है। चतुर्थ उद्देशक में बताया है कि भगवान् ने किस प्रकार तपश्चर्या की, भिक्षाचर्या में क्या-क्या व कैसा शुष्क भोजन लिया, कितने समय तक पानी पिया व न पिया, इत्यादि। पहले "आचार" के जो पर्यायवाची शब्द बताये हैं उनमें एक "आइण्ण" शब्द भी है। आइण्ण का अर्थ है आचीर्ण अर्थात् आचरित। आचारांग में जिस प्रकार की चर्या का वर्णन किया गया है, वैसी ही चर्या का जिसने आचरण किया है उसका इस अध्ययन में वर्णन है। इसी को दृष्टि में रखते हुए सम्पूर्ण आचारांग का एक नाम "आइण्ण" भी रखा गया है।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनों के सब मिलाकर 51 उद्देशक हैं। इनमें से सातवें अध्ययन महापरिज्ञा के सातों उद्देशकों का लोप हो जाने के कारण

वर्तमान में 44 उद्देशक ही उपलब्ध हैं। निर्युक्तिकार ने इन सब उद्देशकों का विषयानुक्रम बताया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध की चूलिकाएँ :- आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध पाँच चूलिकाओं में विभक्त है। इनमें से प्रथम चार चूलिकाएँ तो आचारांग में ही हैं किन्तु पाँचवीं चूलिका विशेष विस्तृत होने के कारण आचारांग से भिन्न कर दी गई है जो निशीथसूत्र के नाम से एक अलग ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है। नन्दिसूत्रकार ने कालिक सूत्रों की गणना में “निशीह” नामक जिस शास्त्र का उल्लेख किया है वह आचारांग-आचार-चूलिका का यही प्रकरण हो सकता है। इसका दूसरा नाम आचारकल्प अथवा आचारप्रकल्प भी है जिसका उल्लेख निर्युक्ति, स्थानांग व समवायांग में मिलता है।

आचारांग की चार चूलिकाओं में से प्रथम चूलिका के सात अध्ययन हैं :-

1. पिण्डेषणा, 2. शय्येषणा, 3. ईर्येषणा, 4. भाषाजातैषणा, 5. वस्त्रेषणा, 6. पात्रेषणा, 7. अवग्रहेषणा। द्वितीय चूलिका के भी सात अध्ययन हैं :- 1. स्थान, 2. निषीधिका, 3. उच्चारप्रस्रवण, 4. शब्द, 5. रूप, 6. परिक्रिया, 7. अन्योन्यक्रिया। तृतीय चूलिका में भावना नामक एक ही अध्ययन है चतुर्थ चूलिका में भी एक ही अध्ययन है जिसका नाम विमुक्ति है। इस प्रकार चारों चूलिकाओं में कुल सोलह अध्ययन हैं। इन अध्ययनों के नामों की योजना तदन्तर्गत विषयों को ध्यान में रखते हुए निर्युक्तिकार ने की प्रतीत होती है। पिण्डेषणा आदि समस्त नामों का विवेचन निर्युक्तिकार ने निक्षेपपद्धति द्वारा किया है। पिण्ड का अर्थ है आहार, शय्या का अर्थ है निवासस्थान, ईर्या का अर्थ है गमनागमन प्रवृत्ति, भाषाजात का अर्थ है भाषासमूह, अवग्रह का अर्थ है गमनागमन की स्थानमर्यादा। वस्त्र, पात्र, स्थान शब्द व रूप का वही अर्थ है जो सामान्यतया प्रचलित है। निषीधिका अर्थात् स्वाध्याय एवं ध्यान करने का स्थान, उच्चारप्रस्रवण अर्थात् दीर्घशंका एवं लघुशंका, परिक्रिया अर्थात् दूसरों द्वारा की जानेवाली सेवाक्रिया, अन्योन्यक्रिया अर्थात् परस्पर की जाने वाली अनुचित क्रिया, भावना अर्थात् चिन्तन, विमुक्ति अर्थात् वीतरागता।

पिण्डैषणा अध्ययन में ग्यारह उद्देशक हैं जिनमें बताया गया है कि श्रमण को अपनी साधना के अनुकूल संयम-पोषण के लिए आहर-पानी किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए। संयम-पोषण निवासस्थान की प्राप्ति के सम्बन्ध में शय्यैषणा नामक द्वितीय अध्ययन में सविस्तार विवेचन है। इसके तीन उद्देशक हैं। ईर्यैषणा अध्ययन में कैसे चलना, किस प्रकार के मार्ग पर चलना आदि का विवेचन है। इसके भी तीन उद्देशक हैं। भाषाजात अध्ययन में श्रमण को किस प्रकार की भाषा बोलनी चाहिए, किसके साथ कैसे बोलना चाहिए आदि का निरूपण है। इसमें दो उद्देशक हैं। वस्त्रैषणा अध्ययन में वस्त्र किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए इत्यादि का विवेचन है। इसमें भी दो उद्देशक हैं। पात्रैषणा नामक अध्ययन में पात्र के रखने व प्राप्त करने का विधान है। इसके भी दो उद्देशक हैं। अवग्रहैषणा अध्ययन में श्रमण को अपने लिए स्वीकार करने के मर्यादित स्थान को किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए, यह बताया गया है। इसके भी दो उद्देशक हैं। इस प्रकार प्रथम चूलिका के कुल मिलाकर पचीस उद्देशक है।

द्वितीय चूलिका के सातों अध्ययन उद्देशकरहित हैं। प्रथम अध्ययन में स्थान एवं द्वितीय में निषीधिका की प्राप्ति के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। तृतीय में दीर्घरांका व लघुरांका के स्थान के विषय में विवेचन है। चतुर्थ व पंचम अध्ययन में क्रमशः शब्द व रूपविषयक निरूपण है जिसमें बताया गया है कि किसी भी प्रकार के शब्द व रूप से श्रमण में रागद्वेष उत्पन्न नहीं होना चाहिये। छठे में परक्रिया एवं सातवें में अन्योन्यक्रियाविषयक विवेचन है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो आचार बताया गया है उसका आचरण किसने किया है? इस प्रश्न का उत्तर तृतीय चूलिका में है। इसमें भगवान् महावीर के चरित्र का वर्णन है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नवम अध्ययन उपधानश्रुत में भगवान् के जन्म, माता-पिता, स्वजन इत्यादि के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। इन्हीं सब बातों का वर्णन तृतीय चूलिका में है। इसमें पाँच महाव्रतों एवं उनकी पाँच-पाँच भावनाओं का स्वरूप भी बताया गया है। इस प्रकार “भावना” के वर्णन के कारण इस चूलिका का भावना नाम सार्थक है।

चतुर्थ चूलिका में केवल ग्यारह गाथाएँ हैं जिनमें विभिन्न उपमाओं द्वारा वितराग के स्वरूप का वर्णन किया गया है। अन्तिम गाथा में सबसे अन्त में “विमुच्चइ” क्रियापद है। इसी को दृष्टि में रखते हुए इस चूलिका का नाम विमुक्ति रखा गया है।

एक रोचक कथा :- उपर्युक्त चार चुलिकाओं में से अन्तिम दो चूलिकाओं के विषय में एक रोचक कथा मिलती है। यद्यपि निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट बताया है कि आचाराग की पाँच चूलिकाएँ स्थविरकृत हैं फिर भी आचार्य हेमचन्द्र ने तृतीय व चतुर्थ चूलिका के सम्बन्ध में एक ऐसी कथा दी है जिसमें इनका सम्बन्ध महाविदेह क्षेत्र में विराजित सीमंधर तीर्थंकर के साथ जोड़ा गया है। यह कथा परिशिष्ट पर्व के नवम सर्ग में है। इसका सम्बन्ध स्थूलभद्र के भाई श्रियक की कथा से है। श्रियक की बड़ी बहन साध्वी यक्षा के कहने से श्रियक ने उपवास किया और वह मर गया। श्रियक की मृत्यु का कारण यक्षा अपने को मानती रही। किन्तु वह श्रीसंघ द्वारा निर्दोष घोषित की गई एवं उसे श्रियक की हत्या का कोई प्रायश्चित्त नहीं दिया गया। यक्षा श्रीसंघ के इस निर्णय से सन्तुष्ट न हुई। उसने घोषणा की कि जिन भगवान् खुद यदि यह निर्णय दें कि मैं निर्दोष हूँ तभी मुझे सन्तोष हो सकता है। तब समस्त श्रीसंघ ने शासनदेवी का आव्हान करने के लिए काउसग-कार्यात्सर्ग- ध्यान किया। ऐसा करने पर तुरन्त शासनदेवी उपस्थित हुई एवं साध्वी यक्षा को अपने साथ महाविदेह क्षेत्र में विराजित सीमंधर भगवान् के पास ले गई। सीमंधर भगवान् ने उसे निर्दोष घोषित किया एवं प्रसन्न होकर श्रीसंघ के लिए निम्नोक्त चार अध्ययनों का उपहार दिया: भावना, विमुक्ति, रतिकल्प और विचित्रचर्या। श्रीसंघ ने यक्षा के मुख से सुनकर प्रथम दो अध्ययनों को आचारांग की चूलिका के रूप में एवं अन्तिम दो अध्ययनों को दशवैकालिक की चूलिका के रूप में जोड़ दिया।

हेमचन्द्रसूरि लिखित इस कथा के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय में चर्चा करने की कोई आवश्यकता नहीं। उन्होंने यह घटना कहाँ से प्राप्त की, यह अवश्य शोधनीय है। दशवैकालिक-निर्युक्ति, आचारांग-निर्युक्ति, हरिभद्रकृत दशवैकालिक-वृत्ति, शीलांककृत आचारांग-वृत्ति आदि में इस घटना का कोई उल्लेख नहीं है।

पद्यात्मक अंश :- आचारांग प्रथमश्रुतस्कन्ध के विमोह नामक अष्टम अध्ययन का सम्पूर्ण आठवाँ उद्देशक पद्यमय है। उपधानश्रुत नामक सम्पूर्ण नवम अध्ययन भी पद्यमय है यह बिल्कुल स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त द्वितीय अध्ययन लोकविजय, तृतीय अध्ययन शीतोष्णीय एवं षष्ठ अध्ययन धूत में कुछ पद्य बिल्कुल स्पष्ट है। इन पद्यों के अतिरिक्त आचारांग में ऐसे अनेक पद्य और हैं जो मुद्रित प्रतियों में गद्य के रूप में छपे हुए हैं। चूर्णिकार कहीं-कहीं "गाहा" (गाथा) शब्द द्वारा मूल के पद्यभाग का निर्देश करते हैं किन्तु वृत्तिकार ने तो शायद ही ऐसा कहीं किया हो। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सम्पादक श्री शुब्रिग ने अपने संस्करण में समस्त पद्यों में स्पष्ट पृथक्करण किया है एवं उनके छंदों पर भी जर्मन भाषा में पर्याप्त प्रकाश डाला है तथा बताया गया है कि इनमें आर्या, जगती, त्रिष्टुभ, वैतालीय, श्लोक आदि का प्रयोग हुआ है। साथ ही बौद्ध पिटकग्रन्थ सुत्तनिपात के पद्यों के साथ आचारांग प्रथमश्रुतस्कन्ध के पद्यों की तुलना भी की है। आश्चर्य है कि शीलांक से लेकर दीपिकाकार तक के प्राचीन व अर्वाचीन वृत्तिकारों का ध्यान आचारांग के पद्य भाग के पृथक्करण की ओर नहीं गया। वर्तमान भारतीय संशोधकों, संपादकों एवं अनुवादकों का ध्यान भी इस ओर न जा सका, यह खेद का विषय है।

आचारांगरूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम दो चूलिकाएँ पूरी गद्य में हैं। तृतीय चूलिका में दो - चार जगह पद्य का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। इसमें महावीर की सम्पत्ति के दान के सम्बन्ध में उपलब्ध वर्णन छः आर्याओं में है। महावीर द्वारा दीक्षाशिविका में बैठ कर ज्ञातखण्ड वन की ओर किये गये प्रस्थान का वर्णन भी ग्यारह आर्याओं में है। भगवान जिस समय सामायिक चारित्र अंगीकार करने के लिए प्रतिज्ञावचन का उच्चारण करते हैं उस समय उपस्थित जन-समूह इसप्रकार शान्त हो जाता है मानो वह चित्रलिखित हो। इस दृश्य का वर्णन भी दो आर्याओं में है। आगे पाँच महाव्रतों की भावनाओं का वर्णन करते समय अपरिग्रह व्रत की भावना के वर्णन में पाँच अनुष्टुभों का प्रयोग किया गया है। इसप्रकार भावना नामक तृतीय चूलिका में कुल चौबीस पद्य हैं। शेष सम्पूर्ण अंश पद्य में है। विमुक्ति नामक चतुर्थ चूलिका पूरी पद्यमय है। इसमें कुल ग्यारह पद्य हैं जो उपजाति जैसे किसी छन्द में

लिखे गये प्रतीत होते हैं। सुत्तनिपात के आमगंधसुत्त में भी ऐसे छंद का प्रयोग हुआ है। इस छंद में प्रत्येक पाद में बारह अक्षर होते हैं। इस प्रकार पूरे द्वितीय श्रुतस्कन्ध में कुल पैंतीस पद्यों का प्रयोग हुआ है।

आचारांग की वाचनाएँ :- नंदिसूत्र व समवायांग में लिखा है कि आचारांग की अनेक वाचनाएँ हैं। वर्तमान में ये सब वाचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं किन्तु शीलांक की वृत्ति में स्वीकृत पाठरूप एक वाचना व उसमें नागार्जुनीय के नाम से उल्लिखित दूसरी वाचना- इस प्रकार दो वाचनाएँ प्राप्य हैं। नागार्जुनीय वाचना के पाठभेद वर्तमान पाठ से बिलकुल विलक्षण है। उदाहरण के तौर पर वर्तमान में आचारांग में एक पाठ इस प्रकार उपलब्ध है :-

कट्टु एवं अवयाणओ बिइया मंदस्स बालिया लद्धा हुरत्था।

- आचारांग अ. 5, उ. 1, सू. 145

इस पाठ के ब्रजाय नागार्जुनीय पाठ इस प्रकार है :-

जे खलु विसए सेवई सेवित्ता णालोएइ, परेण वा पुट्टो निण्हवइ, अहवा तं परं सएण वा दोसेण पाविट्टयरेण वा दोसेण उवलिंपिज्ज त्ति।

आचार्य शीलांक ने अपनी वृत्ति में जो पाठ स्वीकार किया है उसमें और नागार्जुनीय पाठ में शब्द रचना की दृष्टि से बहुत अन्तर है, यद्यपि आशय में भिन्नता नहीं है। नागार्जुनीय पाठ स्वीकृत पाठ की अपेक्षा अति स्पष्ट एवं विशद् है। उदाहरण के लिए एक और पाठ लें :-

विरागं रूवेसु गच्छेज्जा महया - खुड्डएहि (एसु) वा।

- आचारांग अ. 3, उ. 3, सू. 117.

इस पाठ के बजाय नागार्जुनीय पाठ इस प्रकार है :-

त्रिसयम्मि पंचगम्मि वि दुविहम्मि तियं तियां।

भावओ सुट्टु जाणित्ता स न लिप्पइ दोसु वि।।

नागार्जुनीय पाठान्तरों के अतिरिक्त वृत्तिकार ने और भी अनेक पाठभेद दिये

हैं, जैसे :- “मोयणाए” के स्थान पर “भोयणाए”, “चित्ते” के स्थान पर “चिट्टे”, “पियाउया” के स्थान पर “पियायया” इत्यादि। संभव है, इस प्रकार के पाठभेद मुखाग्रश्रुत की परम्परा के कारण अथवा प्रतिलिपिकार के लिपिदोष के कारण हुए हों। इन पाठ भेदों में विशेष अर्थभेद नहीं है। हाँ कभी-कभी इनके अर्थ में अन्तर अवश्य दिखाई देता है। उदाहरण के लिए “जातिमरणमोयणाए” का अर्थ है जन्म और मृत्यु से मुक्ति प्राप्त करने के लिए, जबकि “जातिमरणभोयणाए” का अर्थ है जातिभोज अथवा मृत्युभोज के उद्देश्य से। यहाँ जातिभोज का अर्थ है जन्म के प्रसंग पर किया जाने वाला भोजन का समारंभ अथवा जातिविशेष के निमित्त होने वाला भोजन-समारंभ एवं मृत्युभोज का अर्थ है श्राद्ध अथवा मृतकभोजन।

आचारांग के कर्ता :- आचारांग के कर्तृव्य के सम्बन्ध में इसका उपोद्घातात्मक प्रथम वाक्य कुछ प्रकाश डालता है। वह वाक्य इस प्रकार है- “सुयं में आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं” - हे चिरञ्जीव! मैंने सुना है कि उन भगवान ने ऐसा कहा है। इस वाक्य रचना से यह स्पष्ट है कि कोई तृतीय पुरुष कह रहा है कि मैंने ऐसा सुना है कि भगवान् ने यों कहा है। इसका अर्थ यह है कि मूल वक्ता भगवान् है। जिसने सुना है वह भगवान् का साक्षात् श्रोता है और उसी श्रोता से सुनकर जो इस समय सुना रहा है, वह श्रोता का श्रोता है। यह परम्परा वैसी ही है जैसे कोई एक महाशय प्रवचन करते हों, दूसरे महाशय उस प्रवचन को सुनते हों एवं सुनकर उसे तीसरे महाशय को सुनाते हों। इससे यह ध्वनित होता कि भगवान् के मुख से निकले हुए शब्द तो वे ज्यों - ज्यों बोलते गये त्यों-त्यों विलीन होते गये। बाद में भगवान् की कही हुई बात बताने का प्रसंग आने पर सुनने वाले महाशय यों कहते हैं कि मैंने भगवान् से ऐसा सुना है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोगों के पास भगवान् के खुद के शब्द नहीं आते अपितु किसी सुनने वाले के शब्द आते हैं। शब्दों का ऐसा स्वभाव होता है कि वे जिस रूप से बाहर आते हैं उसी रूप में कभी नहीं टिक सकते। यदि उन्हें उसी रूप में सुरक्षित रखने की कोई विशेष व्यवस्था हो तो अवश्य वैसा हो सकता है। वर्तमान युग में इस प्रकार के वैज्ञानिक साधन उपलब्ध हैं। ऐसे साधन भगवान् महावीर के समय में विद्यमान न थे। अतः हमारे सामने जो

शब्द हैं वे साक्षात् भगवान के नहीं अपितु उनके हैं जिन्होंने भगवान् से सुने हैं। भगवान के खुद के शब्दों व श्रोता के शब्दों में शब्द के स्वरूप की दृष्टि से वस्तुतः बहुत अन्तर है। फिर भी ये शब्द भगवान् के ही हैं, इस प्रकार की छाप मन से किसी भी प्रकार नहीं मिट सकती। इसका कारण यह है कि शब्दयोजना भले ही श्रोता की हो, आशय तो भगवान् का ही है।

अंगसूत्रों की वाचनाएँ :- ऐसी मान्यता है कि पहले भगवान् आशय प्रकट करते हैं, बाद में उनके गणधर अर्थात् प्रधान शिष्य उस आशय को अपनी-अपनी शैली में शब्दबद्ध करते हैं। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे। वे भगवान् के आशय को अपनी-अपनी शैली व शब्दों में ग्रन्थित करने के विशेष अधिकारी थे। इससे फलित होता है कि एक गणधर की जो शैली व शब्दरचना हो वही दूसरे की हो भी और न भी हो, इसीलिए कल्पसूत्र में कहा गया है कि प्रत्येक गणधर की वाचना भिन्न-भिन्न थी। वाचना अर्थात् शैली एवं शब्दरचना। नन्दिसूत्र व समवायांग में भी बताया गया है कि प्रत्येक अंगसूत्र की वाचना परित्त (अर्थात् परिमित) अथवा एक से अधिक (अर्थात् अनेक) होती है।

ग्यारह गणधरों में से कुछ तो भगवान् की उपास्थिति में ही मुक्ति प्राप्त कर चुके थे। सुधर्मास्वामी नामक गणधर सब गणधरों में दीर्घायु थे। अतः भगवान के समस्त प्रवचन का उत्तराधिकार उन्हें मिला था। उन्होंने उसे सुरक्षित रखा एवं अपनी शैली व शब्दों में ग्रन्थित कर आगे की शिष्य-प्रशिष्यपरम्परा को सौंपा। इस शिष्य-प्रशिष्टपरम्परा ने भी सुधर्मास्वामी की ओर से प्राप्त वसीयत को अपनी शैली व शब्दों में बहुत लम्बे काल तक कण्ठस्थ रखा।

आचार्य भद्रबाहू के समय में एक भयंकर व लम्बा दुष्काल पड़ा। इस समय पूर्वगतश्रुत तो सर्वथा नष्ट ही हो गया केवल भद्रबाहु स्वामी को वह याद था जो उनके बाद अधिक लम्बे काल तक न टिक सका। वर्तमान में इसका नाम निशान भी उपलब्ध नहीं। इस समय जो एकादश अंग उपलब्ध हैं उनके विषय में परिशिष्ट पर्व के नवम सर्ग में बताया गया है कि दुष्काल समाप्त होने के बाद (वीरनिर्वाण दूसरी शताब्दी) पाटलिपुत्र में श्रमणसंघ एकत्रित हुआ व जो अंग, अध्ययन, उद्देशक

आदि याद थे उन सबका संकलन किया : ततरच एकादशाङ्गानि श्रीसंघ अमेलयत् तदा। जिन-प्रवचन के संकलन की यह प्रथम संगीति - वाचना है। इसके बाद देश में दूसरा दुष्काल पड़ा जिससे कण्ठस्थ श्रुत को फिर हानि पहुँची। दुष्काल समाप्त होने पर पुनः (वीरनिर्वाण 9वीं शताब्दी) मथुरा में श्रमणसंघ एकत्रित हुआ व स्कन्दिलाचार्य की अध्यक्षता में जिन-प्रवचन की द्वितीय वाचना हुई। मथुरा में होने के कारण इसे माथुरी वाचना भी कहते हैं। भद्रबाहुस्वामी एवं स्कन्दिलाचार्य के समय के दुष्काल व श्रुतसंकलन का उल्लेख आवश्यकचूर्णि तथा नन्दिचूर्णि में उपलब्ध है। इनमें दुष्काल का समय बारह वर्ष बताया गया है। माथुरी वाचना की समकालीन एक अन्य वाचना का उल्लेख करते हुए कहावली नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि वलभी नगरी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में भी इसी प्रकार की एक वाचना हुई थी जिसे वालभी अथवा नागार्जुनीय वाचना कहते हैं। इन वाचनाओं में जिन- प्रवचन ग्रन्थबद्ध किया गया, इसका समर्थन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र की वृत्ति (योगशास्त्रप्रकाश 3, पत्र 207) में लिखते हैं: जिनवचनं च दुष्णमाकालवशात् उच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुन-स्कन्दिलाचार्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषुन्यस्तम् - काल के दुष्णमता के कारण (अथवा दुष्णमाकाल के कारण) जिनप्रवचन को लगभग उच्छिन्न हुआ जानकर आचार्य नागार्जुन, स्कन्दिलाचार्य आदि ने उसे पुस्तकबद्ध किया। माथुरी वाचना वलभी वाचना से अनेक स्थानों पर अलग पड़ गई। परिणामतः वाचनाओं में पाठभेद हो गये। ये दोनों श्रुतधर आचार्य यदि परस्पर मिलकर विचार-विमर्श करते तो सम्भवतः वाचनाभेद टल सकता था किन्तु दुर्भाग्य से ये न तो वाचना के पूर्व इस विषय में कुछ कर सके और न वाचना के पश्चात् ही परस्पर मिल सके। यह वाचनाभेद उनकी मृत्यु के बाद भी वैसा का वैसा ही बना रहा। इसे वृत्तिकारों ने "नागार्जुनीयाः पुनः एवं पठन्ति" आदि वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट किया है। माथुरी व वलभी वाचना सम्पन्न होने के बाद वीरनिर्वाण 980 अथवा 993 में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने वलभी में संघ एकत्रित कर उस समय में उपलब्ध समस्त श्रुत को पुस्तकबद्ध किया। उस समय से सारा श्रुत ग्रन्थबद्ध हो गया। तब से उसके विच्छेद अथवा विपर्यास की

सम्भावना बहुत कम हो गई। देवद्विगणिक्षमाश्रमण ने किसी प्रकार की नई वाचना का प्रवर्तन नहीं किया अपितु जो श्रुतपाठ पहले की वाचनाओं में निश्चित हो चुका था उसी को एकत्र कर व्यवस्थित रूप से ग्रन्थबद्ध किया। एतद्विषयक उपलब्ध उल्लेख इस प्रकार हैं :-

वलहपुरम्मि नयरे देवडिढपमुहेण समणसंघेण।

पुत्थई आगमु लिहिओ नवसयअसीआओ वीराओ॥

अर्थात् वलभीपुर नामक नगर में देवद्विप्रमुख श्रमणसंघ ने वीरनिर्वाण 980 (मतान्तर से 993) में आगमों को ग्रन्थबद्ध किया।

देवद्विगणिक्षमाश्रमण :- वर्तमान समस्त जैन प्रबन्ध - साहित्य में कहीं भी देवद्विगणिक्षमाश्रमण⁴ जैसे महाप्रभावक आचार्य का सम्पूर्ण जीवन - वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता। इन्होंने किन परिस्थितियों में आगमों को ग्रन्थबद्ध किया? उस समय अन्य कौन श्रुतधर पुरुष विद्यमान थे? वलभीपुर के संघ ने उनके इस कार्य में किस प्रकार की सहायता की? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए वर्तमान में कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में होने वाले आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने प्रभावक-चरित्र में अन्य अनेक महाप्रभावक पुरुषों का जीवन चरित्र दिया है किन्तु इनका कहीं निर्देश भी नहीं किया है।

देवद्विगणिक्षमाश्रमण ने आगमों को ग्रन्थबद्ध करते समय कुछ महत्वपूर्ण बातें ध्यान में रखीं। जहाँ-जहाँ शास्त्रों में समान पाठ आये वहाँ-वहाँ उनकी पुनरावृत्ति न करते हुए उनके लिए एक विशेष ग्रन्थ अथवा स्थान का निर्देश कर दिया, जैसे:- "जहा उववाइए" "जहा पण्णवणाए" इत्यादि। एक ही ग्रन्थ में वही बात बार-बार आने पर उसे पुनः पुनः न लिखते हुए "जाव" शब्द का प्रयोग करते हुए उसका अन्तिम शब्द लिख दिया, जैसे- "णागकुमारा जाव विहरंति", "तेणं कालेणं जाव परिसा णिग्गया" इत्यादि। इसके अतिरिक्त उन्होंने महावीर के बाद की कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ भी आगमों में जोड़ दीं। उदाहरण के लिए स्थानांग में उल्लिखित दस गण भगवान् महावीर के निर्वाण के बहुत समय बाद उत्पन्न हुए। यही बात

जमालि को छोड़कर शेष निहवों के विषय में भी कही जा सकती है। पहले से चली आने वाली माथुरी व वलभी इन दो वाचनाओं में से देवर्द्धिगणी ने माथुरी वाचना को प्रधानता दी। साथ ही वलभी वाचना के पाठभेद को भी सुरक्षित रखा। इन दो वाचनाओं में संगति रखने का भी उन्होंने भरसक प्रयत्न किया एवं सबका समाधान कर माथुरी वाचना को प्रमुख स्थान दिया।

महाराज खारवेल :- महाराज खारवेल ने भी अपने समय में जैन प्रवचन के समुद्धार के लिए श्रमण-श्रमणियों एवं श्रावक-श्राविकाओं का बृहद् संघ एकत्र किया। खेद है कि इस सम्बन्ध में किसी भी जैन ग्रन्थ में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। महाराज खारवेल ने कलिंगगत खंडगिरि व उदयगिरि पर एतद्विषयक जो विस्तृत लेख खुदवाया है उसमें इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है। यह लेख पूरा प्राकृत में है। इसमें कलिंग में भगवान् ऋषभदेव के मंदिर की स्थापना एवं अन्य अनेक घटनाओं का उल्लेख है। वर्तमान में उपलब्ध “हिमवत थैरावली” नामक प्राकृत संस्कृत-मिश्रित पट्टावली में महाराज खारवेल के विषय में स्पष्ट उल्लेख है कि उन्होंने प्रवचन का उद्धार किया।

आचारांग के शब्द :- उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आचारांग के कर्तव्य का विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इसमें आशय तो भगवान् महावीर का ही है। रही बात शब्दों की तो हमारे सामने जो शब्द हैं वे किसके हैं? इसका उत्तर इतना सरल नहीं है। या तो ये शब्द सुधर्मास्वामी के हैं या जम्बूस्वामी के हैं या उनके बाद होने वाले किसी सुविहित गीतार्थ के हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि ये शब्द इतने पैसे हैं कि सुनते ही सीधे हृदय में घुस जाते हैं। इससे मालूम होता है कि ये किसी असाधारण अनुभवात्मक आध्यात्मिक पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए पुरुष के हृदय में से निकले हुए हैं एवं सुनने वाले ने भी इन्हें उसी निष्ठा से सुरक्षित रखा है। अतः इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि ये शब्द सुधर्मास्वामी की वाचना का अनुसरण करने वाले हैं। सम्भव है इनमें सुधर्मा के खुद के ही शब्दों का प्रतिबिम्ब हो। यह भी असम्भव नहीं कि इन प्रतिबिम्बरूप शब्दों में से अमुक शब्द भगवान् महावीर के खुद के शब्दों के प्रतिबिम्ब के रूप में हों, अमुक शब्द

सुधर्मास्वामी के वचनों के प्रतिबिम्ब के रूप में हों। इनमें से कौन से शब्द किस कोटि के हैं, इसका पृथक्करण यहाँ सम्भव नहीं। वर्तमान में हम गुरुनानक, कबीर, नरसिंह मेहता, आनन्दघन, यशोविजय उपाध्याय आदि के जो भजन - स्तवन गाते हैं उनमें मूल की अपेक्षा कुछ-कुछ परिवर्तन दिखाई देता है। इसी प्रकार का थोड़ा-बहुत परिवर्तन आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में प्रतीत होता है। यही बात सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के विषय में भी कही जा सकती है। शेष अंगों के विषय में ऐसा नहीं कह सकते। ये गीतार्थ स्थविरों की रचनाएँ हैं। इनमें महावीर आदि के शब्दों का आधिक्य न होते हुए भी उनके आशय का अनुसरण तो है ही।

ब्रह्मचर्य एवं ब्राह्मण :- आचारांग का दूसरा नाम बंभचेर अर्थात् ब्रह्मचर्य है। इस नाम में “ब्रह्म” और “चर्य” ये दो शब्द हैं। निर्युक्तिकार ने ब्रह्म की व्याख्या करते हुए नामतः ब्रह्म, स्थापनातः ब्रह्म, द्रव्यतः ब्रह्म एवं भावतः ब्रह्म- इस प्रकार ब्रह्म के चार भेद बतलाये हैं। नामतः ब्रह्म अर्थात् जो केवल नाम से ब्रह्म-ब्राह्मण है। स्थापनातः ब्रह्म का अर्थ है चित्रित ब्रह्म अथवा ब्राह्मणों की निशानी रूप यज्ञोपवीतादि युक्त चित्रित आकृति अथवा मिट्टि आदि द्वारा निर्मित वैसा आकार-मूर्ति-प्रतिमा अथवा जिन मनुष्यों में बाह्य चिह्नों द्वारा ब्रह्मभाव की स्थापना-कल्पना की गई हो, जिनमें ब्रह्मपद के अर्थानुसार गुण भले ही न हों वह स्थापनातः ब्रह्म - ब्राह्मण कहलाता है। यहाँ ब्रह्म शब्द का ब्राह्मण अर्थ विवक्षित है। मूलतः तो ब्रह्म शब्द ब्रह्मचर्य का ही वाचक है। चूँकि ब्रह्मचर्य संयम रूप है अतः ब्रह्म शब्द सत्रह प्रकार के संयम सूचक भी हैं। इसका समर्थन स्वयं निर्युक्तिकार ने (28वीं गाथा में) किया है। ऐसा होते हुए भी स्थापनातः ब्रह्म का स्वरूप समझाते हुए निर्युक्तिकार ने यज्ञोपवीतादियुक्त और ब्राह्मणगुणवर्जित जाति ब्राह्मण को भी स्थापनातः ब्रह्म क्यों कहा? किसी दूसरे को अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र को स्थापनातः ब्रह्म क्यों नहीं कहा? इसका समाधान यह है कि जिस काल में आचारांगसूत्र की योजना हुई वह काल भगवान् महावीर व सूधर्मा का था। उस काल में ब्रह्मचर्य धारण करने वाले अधिकांशतः ब्राह्मण होते थे। किसी समय ब्राह्मण वास्तविक अर्थ में ब्रह्मचारी थे किन्तु जिस काल की यह सूत्रयोजना है उस काल में ब्राह्मण अपने

ब्राह्मणधर्म से अर्थात् ब्राह्मण के यथार्थ आचार से च्युत हो गये थे। फिर भी ब्राह्मण जाति के बाह्य चिह्नों को धारण करने के कारण ब्राह्मण ही माने जाते थे। इस प्रकार उस समय गुण नहीं किन्तु जाति ही ब्राह्मणत्व का प्रतीक मानी जाने लगी। सुत्तनिपात के ब्राह्मणधम्मिकसुत्त (चूलवग्ग, सू. 7) में भगवान बुद्ध ने इस विषय में सुन्दर चर्चा की है। उसका सार नीचे दिया है :-

श्रावस्ती नगरी जेतवनस्थित अनाथपिण्डिक के उद्यान में आकर ठहरे हुए भगवान बुद्ध से कोशल देश के बुद्ध व कुलीन ब्राह्मणों ने आकर प्रश्न किया - “हे गौतम ! क्या आजकल के ब्राह्मण प्राचीन ब्राह्मणों के ब्राह्मणधर्म के अनुसार आचरण करते हुए दिखाई देते हैं?” बुद्ध ने उत्तर दिया - “हे ब्राह्मणों ! आजकल के ब्राह्मण पुराने ब्राह्मणों के ब्राह्मणधर्म के अनुसार आचरण करते हुए दिखाई नहीं देते हैं।” - ब्राह्मण कहने लगे - “हे गौतम ! प्राचीन ब्राह्मणधर्म क्या है, यह हमें बताइए।” बुद्ध ने कहा - “प्राचीन ब्राह्मण ऋषि संयतात्मा एवं तपस्वी थे। वे पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग कर आत्मचिन्तन करते। उनके पास पशु न थे, धन न था। स्वाध्याय ही उनका धन था। वे ब्राह्मनिधि का पालन करते। लोग उनके लिए श्रद्धापूर्वक भोजन बना कर द्वार पर तैयार रखते व उन्हें देना उचित समझते। वे अवध्य थे एवं उनके लिए किसी भी कुटुम्ब में आने-जाने की कोई रोक-टोक न थी। वे अड़तालीस वर्ष तक कौमार ब्रह्मचर्य का पालन करते एवं प्रज्ञा व शील का सम्पादन करते। ऋतुकाल के अतिरिक्त वे अपनी प्रिय स्त्री का सहवास भी स्वीकार नहीं करते। वे ब्रह्मचर्य, शील, आर्जव, मार्दव, तप, समाधि, अहिंसा एवं शान्ति की स्तुति करते। उस समय सुकुमार उन्नतस्कन्ध, तेजस्वी एवं यशस्वी ब्राह्मण स्वधर्मानुसार आचरण करते तथा कृत्य-अकृत्य के विषय में सदा दक्ष रहते। वे चावल, आसन, वस्त्र, घी, तेल आदि पदार्थ भिक्षा द्वारा अथवा धार्मिक रीति से एकत्र कर यज्ञ करते। यज्ञ में वे गोवध नहीं करते। जब तक वे ऐसे थे तब तक लोग सुखी थे। किन्तु राजा से दक्षिणा में प्राप्त संपत्ति एवं अलंकृत स्त्रियों जैसी अत्यन्त क्षुद्र वस्तु से उनकी बुद्धि बदली। दक्षिणा में प्राप्त गोवृन्द एवं सुन्दर स्त्रियों में ब्राह्मण लुब्ध हुए। वे इन पदार्थों के लिए राजा इक्ष्वाकु के पास गये और कहने लगे कि तेरे पास खूब धन-धान्य है,

खूब सम्पत्ति है इसलिए तू यज्ञ कर। उस यज्ञ से सम्पत्ति प्राप्त कर ब्राह्मण धनाढ्य हुए। इस प्रकार लोलूप हुए ब्राह्मणों की तृष्णा अधिक बढ़ी और वे पुनः इक्ष्वाकु के पास गये व उसे समझाया। तब उसने यज्ञ में लाखों गायें मारी” इत्यादि।

सुत्तनिपात के इस उल्लेख से प्राचीन ब्राह्मणों व पतित ब्राह्मणों का थोड़ा बहुत परिचय मिलता है। निर्युक्तिकार ने पतित ब्राह्मणों को चित्रित की कोटि में रखते हुए उनकी धर्मविहीनता एवं जड़ता की ओर संकेत किया।

चतुर्वर्ण :- निर्युक्तिकार कहते हैं कि पहले केवल एक मनुष्य जाति थी। बाद में भगवान ऋषभदेव के राज्यारूढ़ होने पर उसके दो विभाग हुए। बाद में शिल्प एवं वाणिज्य प्रारम्भ होने पर उसके तीन विभाग हुए तथा श्रावकधर्म की उत्पत्ति होने पर उसी के चार विभाग हो गये। इसप्रकार निर्युक्ति की मूल गाथा में सामान्यतया मनुष्य जाति के चार विभागों का निर्देश किया गया है। उसमें किसी वर्ण विशेष का नामोल्लेख नहीं है। टीकाकार शीलांक ने वर्णों के विशेष नाम बताते हुए कहा है कि जो मनुष्य भगवान् के आश्रित थे वे “क्षत्रिय” कहलाये। अन्य सब “शूद्र” गिने गये। वे शोक एवं रोदनस्वभावयुक्त थे अतः “शूद्र” के रूप में प्रसिद्ध हुए। बाद में अग्नि की खोज होने पर जिन्होंने शिल्प एवं वाणिज्य अपनाया वे “वैश्य” कहलाये। बाद में जो लोग भगवान् के बताये हुए श्रावकधर्म का परमार्थतः पालन करने लगे एवं “मत हनो”, “मत हनो” ऐसी घोषणा कर अहिंसाधर्म का उद्घोष करने लगे वे “माहन” अर्थात् “ब्राह्मण” के रूप में प्रसिद्ध हुए।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में निर्दिष्ट चतुर्वर्ण की उत्पत्ति से यह क्रम बिलकुल भिन्न है। यहाँ सर्वप्रथम क्षत्रिय, फिर शूद्र, फिर वैश्य और अन्त में ब्राह्मणों की उत्पत्ति बताई गई है जबकि उक्त सूक्त में सर्वप्रथम ब्राह्मण, बाद में क्षत्रिय, उसके बाद वैश्य और अन्त में शूद्र की उत्पत्ति बताई है। निर्युक्तिकार ने ब्राह्मणोत्पत्ति का प्रसंग ध्यान में रखते हुए अन्य सात वर्णों एवं नौ वर्णान्तरों की उत्पत्ति का क्रम भी बताया है। इन सब वर्ण-वर्णान्तरों का समावेश उन्होंने स्थापनाब्रह्म में किया है।

इस सम्बन्ध में चूर्णिकार ने जो निरूपण किया है वह निर्युक्तिकार से कुछ

भिन्न मालूम पड़ता है। चूर्णि में बताया गया है कि भगवान् ऋषभदेव के समय में जो राजा के आश्रित थे वे क्षत्रिय हुए तथा जो राजा के आश्रित न थे वे गृहपति कहलाये। बाद में अग्नि की खोज होने के उपरान्त उन गृहपतियों में से जो शिल्प तथा वाणिज्य करने वाले थे वे वैश्य हुए। भगवान् के प्रव्रज्या लेने व भरत का राज्याभिषेक होने के बाद भगवान् के उपदेश द्वारा श्रावकधर्म की उत्पत्ति होने के अनन्तर ब्राह्मण उत्पन्न हुए। ये श्रावक धर्मप्रिय थे तथा “मा हणो मा हणो” रूप अहिंसा का उद्घोष करने वाले थे अतः लोगों ने उन्हें माहण - ब्राह्मण नाम दिया। ये ब्राह्मण भगवान् के आश्रित थे। जो भगवान् के आश्रित न थे तथा किसी प्रकार का शिल्प आदि नहीं करते थे वे अश्रावक थे। वे शोकातुर व द्रोहस्वभावयुक्त होने के कारण शूद्र कहलाये। “शूद्र” शब्द के “शू” का अर्थ शोकस्वभावयुक्त एवं “द्र” का अर्थ द्रोहस्वभावयुक्त किया गया है। निर्युक्तिकार ने चतुर्वर्ण का क्रम क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य व ब्राह्मण - यह बताया है जबकि चूर्णकार के अनुसार यह क्रम क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण व शूद्र- इस प्रकार है। इस क्रम-परिवर्तन का कारण सम्भवतः वैदिक परम्परा का प्रभाव है।

सात वर्ण व नव वर्णान्तर :- निर्युक्तिकार ने व तदनुसार चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने सात वर्णान्तरी की उत्पत्ति का जो क्रम बताया है वह इस प्रकार है :-

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र ये चार मूल वर्ण हैं। इनमें से ब्राह्मण व क्षत्रियाणी के संयोग से उत्पन्न होनेवाला उत्तम क्षत्रिय, शुद्ध क्षत्रिय अथवा संकर क्षत्रिय कहलाता है। यह पंचम वर्ण है। क्षत्रिय व वैश्य -स्त्री के संयोग से उत्पन्न होने वाला उत्तम वैश्य, शुद्ध वैश्य अथवा संकर वैश्य कहलाता है। यह षष्ठ वर्ण है। इसी प्रकार वैश्य व शुद्ध के संयोग से उत्पन्न होने वाला उत्तम शुद्ध, शूद्र शूद्र अथवा संकर शूद्र रूप सप्तम वर्ण है। ये सात वर्ण हुए। शुद्ध ब्राह्मण व वैश्य स्त्री के संयोग से उत्पन्न होने वाला अंबष्ठ नामक प्रथम वर्णान्तर है। इसी प्रकार क्षत्रिय व शूद्र के संयोग से उग्र, ब्राह्मण व शूद्र के संयोग से निषाद अथवा पराशर, शूद्र व वैश्य - स्त्री के संयोग से अयोगव, वैश्य व क्षत्रियाणी के संयोग से क्षत्तुक, वैश्य व ब्राह्मणी के संयोग से वैदेह एवं शूद्र ब्राह्मणी के संयोग से चांडाल नामक अन्य आठ वर्णान्तरों

की उत्पत्ति बतलाई गई है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य वर्णान्तर भी हैं। उग्र व क्षत्रियाणी के संयोग से उत्पन्न होने वाला श्वपाक, वैदेह व क्षत्रियाणी के संयोग से उत्पन्न होने वाला वैणव, निपाद व अंबष्ठी अथवा शूद्र के संयोग से उत्पन्न होने वाला बोक्कस, शूद्र व निषादी के संयोग से उत्पन्न होने वाला कुक्कुटक अथवा कुक्कुरक कहलाता है।

इस प्रकार वर्णों व वर्णान्तरों की उत्पत्ति का स्वरूप बताते हुए चूर्णिकार स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि “एवं स्वच्छंदमतिविगम्पित” अर्थात् वैदिक परम्परा में ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति के विषय में जो कुछ कहा गया है वह सब स्वच्छन्दमतियों की कल्पना है। उपर्युक्त वर्ण-वर्णान्तर सम्बन्धी समस्त विवेचन मनुस्मृति (अ. 10, श्लोक. 4-45) में उपलब्ध है। चूर्णिकार व मनुस्मृतिकार के उल्लेखों में कहीं-कहीं नाम आदि में थोड़ा-थोड़ा अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

रास्त्रपरिज्ञा :- आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम सत्यपरिज्ञा अर्थात् रास्त्रपरिज्ञा है। रास्त्रपरिज्ञा अर्थात् रास्त्रों का ज्ञान। आचारांग श्रमण - ब्राह्मण के आचार से सम्बन्धित ग्रन्थ है। उसमें कहीं भी युद्ध अथवा सेना का वर्णन नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रथम अध्ययन में रास्त्रों के सम्बन्ध में विवेचन कैसे सम्भव हो सकता है? संसार में लाठी, तलवार, खंजर, बन्दूक आदि की ही रास्त्रों के रूप में प्रसिद्धि है। आज के वैज्ञानिक युग में अणुबम, उद्जनबम आदि भी रास्त्र के रूप में प्रसिद्ध है। ऐसे रास्त्र स्पष्ट रूप से हिंसक है, यह सर्वविदित है। आचारांग के कर्ता की दृष्टि से क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, काम, ईर्ष्या मत्सर आदि कषाय भी भयंकर रास्त्र है। इतना ही नहीं, इन कषायों द्वारा ही उपर्युक्त रास्त्रास्त्र उत्पन्न हुए हैं। इस दृष्टि से कषायजन्य समस्त प्रवृत्तियाँ रास्त्ररूप है। कषाय के अभाव में कोई भी प्रवृत्ति रास्त्ररूप नहीं है। यही भगवान् महावीर का दर्शन व चिन्तन है। आचारांग के रास्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में कषायरूप अथवा कषायजन्य प्रवृत्तिरूप रास्त्रों का ही ज्ञान कराया गया है। इसमें बताया गया है कि जो बाह्य शौच के बहाने पृथ्वी, जल इत्यादि का अमर्यादित विनाश करते हैं वे हिंसा तो करते ही हैं, चोरी भी करते हैं। इसी का विवेचन करते हुए चूर्णिकार ने कहा है कि “चउसठ्ठीए

मट्टियाहि स ण्हाति'' अर्थात् वह चौसठ (बार) मिट्टी से स्नान करता है। कुछ वैदिकों की मान्यता है कि भिन्न - भिन्न अंगों पर कुल मिलाकर चौसठ बार मिट्टी लगाने पर ही पवित्र हुआ जा सकता है। मनुस्मृति (अ. 5, श्लो. 135-145) में बाह्य शौच अर्थात् शरीर शुद्धि व पात्र आदि की शुद्धि के विषय में विस्तृत विधान है उसमें विभिन्न क्रियाओं के बाद शुद्धि के लिए किस - किस अंग पर कितनी - कितनी बार मिट्टी व पानी का प्रयोग करना चाहिए, इसका स्पष्ट उल्लेख है। इस विधान में गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वनवासी एवं यति का अलग-अलग- विचार किया गया है। अर्थात् इनकी अपेक्षा से मिट्टी व पानी के प्रयोग की संख्या में विभिन्नता बताई गई है। भगवान् महावीर ने समाज को आन्तरिक शुद्धि की ओर मोड़ने के लिए कहा है कि इसप्रकार की बाह्य शुद्धि हिंसा को बढ़ाने का ही एक साधन है। इससे पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति तथा वायु के जीवों का कचूमर निकल जाता है। यह घोर हिंसा की जननी है। इससे अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। श्रमण व ब्राह्मण को सरल बनना चाहिए, निष्कपट होना चाहिए, पृथ्वी आदि के जीवों का हनन नहीं करना चाहिए। पृथ्वी आदि प्राणरूप है। इसमें आगन्तुक जीव भी रहते हैं। अतः शौच के निमित्त इनका उपयोग करने से इनकी तथा इनमें रहने वाले प्राणियों की हिंसा होती है। अतः यह प्रवृत्ति शस्त्ररूप है। आन्तरिक शुद्धि के अभिलाषियों को इसका ज्ञान होना चाहिए। यही भगवान् महावीर के शस्त्रपरिज्ञा प्रवचन का सार है।

रूप, रस, गन्ध, शब्द व स्पर्श अज्ञानियों के लिए आवर्तरूप है, ऐसा समझ कर विवेकी को इनमें मुच्छित नहीं होना चाहिए। यदि प्रमाद के कारण पहले इनकी ओर झुकाव रहा हो तो ऐसा निश्चय करना चाहिए कि अब मैं इनसे बचूँगा- इनमें नहीं फसूँगा - पूर्ववत् आचरण नहीं करूँगा। रूपादि में लोलूप व्यक्ति विविध प्रकार की हिंसा करते दिखाई देते हैं। कुछ लोग प्राणियों का वध कर उन्हें पूरा का पूरा पकाते हैं। कुछ चमड़ी के लिए उन्हें मारते हैं। कुछ केवल मांस, रक्त, पित्त, चरबी, पंख, पूंछ, बाल, सींग, दाँत, नख, अथवा हड्डी के लिए उनका वध करते हैं। कुछ शिकार का शौक पूरा करने के लिए प्राणियों का वध करते हैं। इसप्रकार कुछ लोग अपने किसी न किसी स्वार्थ के लिए जीवों का क्रूरतापूर्वक नाश करते हैं तो कुछ

निष्प्रयोजन ही-उनका नाश करने को तत्पर रहते हैं। कुछ लोग केवल तमाशा देखने के लिए सांडों, हाथियों, मुर्गों बगैरह को लड़ाते हैं। कुछ साँप आदि को मारने में अपनी बहादूरी समझते हैं तो कुछ साँप आदि को मारना अपना धर्म समझते हैं। इस प्रकार पूरे शास्त्रपरिज्ञा अध्ययन में भगवान् महावीर ने संसार में होने वाली विविध प्रकार की हिंसा के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं एवं उसके परिणाम की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। उन्होंने बताया है कि यह हिंसा ही ग्रन्थ है-परिग्रहरूप है, मोहरूप है, माररूप है, नरकरूप है।

खेरदेह-अवेस्ता नामक पारसी धर्मग्रन्थ में पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के साथ किसी प्रकार का अपराध न करने की अर्थात् उनके प्रति घातक व्यवहार न करने की शिक्षा दी गई है। यही बात मनुस्मृति में दूसरी तरह से कही गई है। उसमें चूल्हे द्वारा अग्नि की हिंसा का, घट द्वारा जल की हिंसा का एवं इसी प्रकार के अन्य साधनों द्वारा अन्य प्रकार की हिंसा का निषेध किया गया है। घट, चूल्हा, चक्की आदि को जीववध का स्थान बताया गया है एवं गृहस्थ के लिए इसके प्रति सावधानी रखने का विधान किया गया है।⁶

शास्त्रपरिज्ञा में जो मार्ग बताया गया है वह पराकाष्ठा का मार्ग है। उस पराकाष्ठा के मार्ग पर पहुँचने के लिए अन्य अवान्तर मार्ग भी हैं। इनमें से एक मार्ग है गृहस्थाश्रम का। इसमें भी चढ़ते-उतरते साधन हैं। इन सब में एक बात सर्वाधिक महत्व की है और वह है प्रत्येक प्रकार की मर्यादा का निर्धारण। इसमें भी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा जाय त्यों-त्यों मर्यादा का क्षेत्र बढ़ाया जाय एवं अन्त में अनासक्त जीवन का अनुभव किया जाय। इसी का नाम अहिंसक जीवनसाधना अथवा आध्यात्मिक शोधन है। अध्यात्म शुद्धि के लिए देह, इन्द्रियाँ, मन तथा अन्य बाह्य पदार्थ साधनरूप हैं। इन साधनों का उपयोग अहिंसकवृत्तिपूर्वक होना चाहिए। इस प्रकार की वृत्ति के लिए संकल्पशुद्धि परमावश्यक है। संकल्प की शुद्धि के बिना सब क्रियाकाण्ड व प्रवृत्तियाँ निरर्थक हैं। प्रवृत्ति भले ही अन्य हो किन्तु होनी चाहिए संकल्पशुद्धिपूर्वक। आध्यात्मिक शुद्धि ही जिनका लक्ष्य है वे केवल भेड़चाल अथवा रूढ़िगत प्रवाह में बँध कर नहीं चल सकते। उनके लिए विवेकयुक्त संकल्पशीलता की महती,

आवश्यकता होती है। देहदमन, इन्द्रियदमन, मनोदमन तथा आरम्भ-समारम्भ व विषय-कषायों के त्याग के सम्बन्ध में जो बातें शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में बताई गई हैं, वे सब बातें भिन्न-भिन्न रूप में भिन्न-भिन्न स्थानों पर गीता एवं मनुस्मृति में भी बताई गई है। मनु ने स्पष्ट कहा है कि लोहे के मुख वाला काष्ठ (हल आदि) भूमि का एवं भूमि में रहे हुए अन्य-अन्य प्राणियों का हनन करता है। अतः कृषि की वृत्ति निन्दित है⁷। यह विधान अमुक कोटि के सच्चे ब्राह्मण के लिए है और वह भी उत्सर्ग के रूप में। अपवाद के तौर पर तो ऐसे ब्राह्मण के लिए भी इससे विपरीत विधान हो सकता है। भूमि की ही तरह जल आदि से संबंधित आरम्भ-समारम्भ का भी मनुस्मृति में निषेध किया गया है।⁸ गीता में “सर्वारम्भपरित्यागी”⁹ को पण्डित कहा गया है एवं बताया गया है कि जो समस्त आरम्भ का परित्यागी है वह गुणातीत है¹⁰। उसमें देहदमन की भी प्रतिष्ठा की गई है एवं तप के बाह्य व आन्तरिक स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।¹¹ जैन परम्परा के त्यागी मुनियों के तपश्चरण की भांति कायक्लेशरूप तप सम्बन्धी प्ररूपणा वैदिक परम्परा को भी अभीष्ट है। इसी प्रकार जलशौच अर्थात् स्नान आदिरूप बाह्य शौच का त्याग भी वैदिक परम्परा को इष्ट है।¹² आचारांग के प्रथम व द्वितीय दोनों श्रुतस्कन्धों में आचार-विचार का जो वर्णन है वह सब मनुस्मृति के छोटे अध्याय में वर्णित वानप्रस्थ व संन्यास के स्वरूप के साथ मिलता-जूलता है। भिक्षा के नियम, कायक्लेश सहन करने की पद्धति, उपकरण, वृक्ष के मूल के पास निवास, भूमि पर शयन, एक समय भिक्षाचर्या, भूमि का अवलोकन करते हुए गमन करने की पद्धति, चतुर्थ भक्त, अष्टम भक्त आदि अनेक नियमों का जैन परम्परा के त्यागी वर्ग के नियमों के साथ साम्य है। आचारांग के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा में समग्र आचारांग का सार आ जाता है अतः यहाँ अन्य अध्ययनों का विस्तारपूर्वक विवेचन न करते हुए आचारांग में आने वाले परमतों का विचार किया जाएगा।

आचारांग में उल्लिखित परमत :- आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो परमतों का उल्लेख है वह किसी नामपूर्वक नहीं अपितु “एगे” अर्थात् “कुछ लोगो” के रूप में है जिसका विशेष स्पष्टीकरण चूर्ण अथवा वृत्ति में किया गया

है। प्रारम्भ में ही अर्थात् प्रथम अध्ययन के प्रथम वाक्य में ही यह बताया गया है कि “इहं एगोसि नो सन्ना भवइ” अर्थात् इस संसार में कुछ लोगों को यह भान नहीं होता है कि मैं पूर्व से आया हुआ हूँ या दक्षिण से आया हुआ है अथवा किस दिशा या विदिशा से आया हुआ हूँ अथवा ऊपर से या नीचे से आया हुआ हूँ? इसी प्रकार “एगोसि नो नायं भवइ” अर्थात् कुछ को यह पता नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक है अथवा अनौपपातिक, मैं कौन था व इसके बाद क्या होऊँगा? इसके विषय में सामान्यतया विचार करने पर प्रतीत होगा कि यह बात साधारण जनता को लक्ष्य करके कही गई है। अर्थात् सामान्य लोगों को अपनी आत्मा का एवं उसके भावी का ज्ञान नहीं होता। विशेषरूप से विचार करने पर मालूम होगा कि यह उल्लेख तत्कालीन भगवान् बुद्ध के सत्कार्यवाद के विषय में है। बुद्ध निर्वाण को स्वीकार करते हैं, पूनर्जन्म को भी स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्था में वे आत्मा को न मानते हों ऐसा नहीं हो सकता। उनका आत्मविषयक मत अनात्मवादी चार्वाक जैसा नहीं है। यदि उनका मत वैसा होता तो वे भोगपरायण बनते न कि त्यागपरायण। वे आत्मा को मानते अवश्य हैं किन्तु भिन्न प्रकार से। वे कहते हैं कि आत्मा के विषय में गमनागमन सम्बन्धी अर्थात् वह कहाँ से आई है, कहाँ जाएगी – इस प्रकार विचार करने से विचारक के आस्रव कम नहीं होते, उलटे नये आस्रव उत्पन्न होने लगते हैं। अतएव आत्मा के विषय में “वह कहाँ से आई है व कहाँ जाएगी।” इस प्रकार का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। मज्झिमनिकाय के सव्वासव नामक द्वितीय सुत्त में भगवान् बुद्ध के वचनों का यह आशय स्पष्ट है। आचारांग में भी आंगे (तृतीय अध्ययन के तृतीय उद्देशक में) स्पष्ट बताया गया है कि “मैं कहाँ से आया हूँ? मैं कहाँ जाऊँगा?” इत्यादि विचारधाराओं को तथागत बुद्ध नहीं मानते।

भगवान् महावीर के आत्मविषयक वचनों को उद्दिष्ट कर चूर्णिकार कहते हैं कि क्रियावादी मतों के एक सौ अस्सी भेद हैं। उनमें से कुछ आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं। कुछ मूर्त्त, कुछ अमूर्त्त, कुछ कर्त्ता, कुछ अकर्त्ता मानते हैं। कुछ श्यामाक¹³ परिमाण, कुछ तंडुलपरिमाण, कुछ अंगुष्ठपरिमाण मानते हैं। कुछ लोग आत्मा को

दीपशिखा के समान क्षणिक मानते हैं। जो अक्रियावादी हैं वे आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानते। जो अज्ञानवादी - अज्ञानी हैं वे इस विषय में कोई विवाद ही नहीं करते। विनयवादी भी अज्ञानवादियों के ही समान हैं। उपनिषदों में आत्मा को श्यामाकपरिमाण, तण्डुलपरिमाण, अंगुष्ठपरिमाण आदि मानने के उल्लेख उपलब्ध है¹⁴।

प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देश्यक में “अणगारा मो त्ति एमे वयमाणा” अर्थात् “कुछ लोग कहते हैं कि हम अनगार है” ऐसा वाक्य आता है। अपने को अनगार कहने वाले ये लोग पृथ्वी आदि आलंभन अर्थात् हिंसा करते हुए नहीं हिचकिचाते। ये अनगार कौन हैं? इसका स्पष्टीकरण करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि अनगार बौद्ध परम्परा के श्रमण हैं। ये लोग ग्राम आदि दान में स्वीकार करते हैं एवं ग्रामदान आदि स्वीकृत कर वहाँ की भूमि को ठीक करने के लिए हल, कुदाली आदि का प्रयोग करते हैं तथा पृथ्वी का व पृथ्वी में रहे हुए कीट-पतंगों का नाश करते हैं। इसी प्रकार कुछ अनगार ऐसे हैं जो स्नान आदि द्वारा जल की व जल में रहे हुए जीवों की हिंसा करते हैं। स्नान नहीं करने वाले आजीविक तथा अन्य सरजस्क श्रमण स्नानादि प्रवृत्ति में निमित्त पानी की हिंसा नहीं करते किन्तु पीने के लिए तो करते ही है। बौद्ध श्रमण (तच्चणिया) नहाने व पीने दोनों के लिए पानी की हिंसा करते हैं। कुछ ब्राह्मण स्नान - पान के अतिरिक्त यज्ञ के बर्तनों व अन्य उपकरणों को धोने के लिए भी पानी की हिंसा करते हैं। इस प्रकार आजीविक श्रमण, सरजस्क श्रमण, बौद्ध श्रमण व ब्राह्मण श्रमण किसी न किसी कारण से पानी का आलंभन -हिंसा करते है। मूल सूत्र में यह बताया गया है कि “इहं च खलु भो अणगाराणं उदयं जीवा वियाहिया” अर्थात् ज्ञातपुत्रीय अनगारों के प्रवचन में ही जल को जीवरूप कहा गया है, “न अण्णेसि” (चूर्ण) अर्थात् दूसरों के प्रवचन में नहीं। यहाँ “दूसरों” का अर्थ बौद्ध श्रमण समझना चाहिए। वैदिक परम्परा में तो जल को जीवरूप ही माना गया है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। केवल बौद्ध परम्परा ही ऐसी है जो पानी को जीवरूप नहीं मानती। इस विषय में मिलिंदपञ्च¹⁵ में स्पष्ट उल्लेख है कि पानी में जीव नहीं है - “सत्त्व नहीं है : न हि महाराज ! उदकं जीवति, नत्थि उदके जीवो वा सत्ते वा।”

द्वितीय अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि कुछ लोग यह मानते हैं कि हमारे पास देवों का बल है, श्रमणों का बल है। ऐसा समझकर वे अनेक हिंसामय आचरण करने से नहीं चूकते। वे ऐसा समझते हैं कि ब्राह्मणों को खिलायेंगे तो परलोक में सुख मिलेगा। इसी दृष्टि से वे यज्ञ भी करते हैं। बकरों, भैंसों, यहाँ तक कि मनुष्यों के वध द्वारा चंडिकादि देवियों के याग करते हैं एवं चरकादि ब्राह्मणों को दान देंगे तो धन मिलेगा, कीर्ति प्राप्ति होगी व धर्म सधेगा, ऐसा समझकर अनेक आलंभ - समालंभन करते रहते हैं। इस उल्लेख में भगवान् महावीर के समय में धर्म के नाम पर चलने वाली हिंसक प्रवृत्ति का स्पष्ट निर्देश है। चतुर्थ अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में बताया गया है इस जगत् में कुछ श्रमण व ब्राह्मण भिन्न-भिन्न रीति से विवाद करते हुए कहते हैं कि हमने देखा है, हमने सुना है हमने माना है, हमने विशेष तौर से जाना है तथा ऊँची-नीची व तिरछी सब दिशाओं में सब प्रकार से पूरी सावधानी पूर्वक पता लगाया है कि सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव, सर्व सत्त्व हनन करने योग्य हैं, संताप पहुँचाने योग्य हैं, उपद्रुत करने योग्य हैं एवं स्वामित्व करने योग्य है। ऐसा करने में कोई दोष नहीं। इस प्रकार कुछ श्रमणों व ब्राह्मणों के मत का निर्देश कर सूत्रकार ने अपना अभिमत बताते हुए कहा है कि यह वचन अनार्यों का है अर्थात् इस प्रकार हिंसा का समर्थन करना अनार्यमार्ग है। इसे आर्यों ने दुर्दर्शन कहा है। दुःश्रवण कहा है, दुर्मत कहा है, दुर्विज्ञान कहा है एवं दुष्प्रत्यवेक्षण कहा है। हम ऐसा कहते हैं, ऐसा भाषण करते हैं; ऐसा बताते हैं, ऐसा प्ररूपण करते हैं कि किसी भी प्राण, किसी भी भूत, किसी भी जीव, किसी भी सत्त्व को हनना नहीं चाहिए, त्रस्त नहीं करना चाहिए, परिताप नहीं पहुँचाना चाहिए, उपद्रुत नहीं करना चाहिए एवं उस पर स्वामित्व नहीं करना चाहिए। ऐसा करने में ही दोष नहीं है। यह आर्यवचन है। इसके बाद सूत्रकार कहते हैं कि हिंसा का विधान करने वाले एवं उसे निर्दोष मानने वाले समस्त प्रवादियों को एकत्र कर प्रत्येक को पूछना चाहिए कि तुम्हें मन की अनुकूलता दुःखरूप लगती है या प्रतिकूलता? यदि वे कहें कि हमें तो मन की प्रतिकूलता दुःखरूप लगती है तो उनसे कहना चाहिए कि जैसे तुम्हें मन की प्रतिकूलता दुःखरूप लगती है वैसे ही समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों व सत्त्वों को भी मन की प्रतिकूलता दुःखरूप लगती है।

विमोह नामक आठवें अध्ययन में कहा गया है कि ये वादी आलंभार्थी हैं, प्राणियों का हनन करने वाले हैं, हनन कराने वाले हैं, हनन करने वालों का समर्थन करने वाले हैं, अदत्त को लेने वाले हैं। वे निम्न प्रकार से भिन्न - भिन्न वचन बोलते हैं : लोक है, लोक नहीं है, लोक अध्रुव है, लोक सादि है, लोक अनादि है, लोक सान्त है, लोक अनन्त है, सुकृत है, कल्याण है, पाप है, साधु है, असाधु है, सिद्धि है, असिद्धि है, नरक है, अनरक है। इसप्रकार की तत्त्वविषयक विप्रतिपत्ति वाले ये वादी अपने - अपने धर्म का प्रतिपादन करते हैं। सूत्रकार ने सब वादों को सामान्यतया यादृच्छिक (आकस्मिक) एवं हेतु शुन्य कहा है तथा किसी नाम विशेष का उल्लेख नहीं किया है। इनकी व्याख्या करते हुए चूर्णिकार व वृत्तिकार ने विशेषतः वैदिक शाखा के सांख्य आदि मतों का उल्लेख किया है एवं शाक्य अर्थात् बौद्ध भिक्षुओं के आचरण तथा उनकी अमुक मान्यताओं का निर्देश किया है। आचारांग की ही तरह दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में भी भगवान् बुद्ध के समय के अनेक वादों का उल्लेख है।

निर्ग्रन्थसमाज :- तत्कालीन निर्ग्रन्थसमाज के वातावरण पर भी आचारांग में प्रकाश डाला गया है। उस समय के निर्ग्रन्थ सामान्यतया आचार सम्पन्न, विवेकी, तपस्वी एवं विनीतवृत्ति वाले ही होते थे, फिर भी कुछ ऐसे निर्ग्रन्थ भी थे जो वर्तमान काल के अविनीत शिष्यों की भाँति अपने हितैषी गुरु के सामने होने में भी नहीं हिचकिचाते। आचारांग के छठे अध्ययन के चौथे उद्देशक में इसी प्रकार के शिष्यों को उद्दिष्ट करके बताया गया है कि जिस प्रकार पक्षी के बच्चे को उसकी माता दाने दे देकर बड़ा करती है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने शिष्यों को दिन - रात अध्ययन कराते हैं। शिष्य ज्ञान प्राप्त करने के बाद "उपशम" को त्याग कर अर्थात् शान्ति को छोड़कर ज्ञान देने वाले महापुरुषों के सामने कठोर भाषा का प्रयोग प्रारम्भ करते हैं।

भगवान् महावीर के समय के उत्कृष्ट त्याग, तप व संयम के अनेक जीते-जागते आदर्शों की उपस्थिति में भी कुछ श्रमण तप-त्याग-अंगीकार करने के बाद भी उसमें स्थिर नहीं रह सकते थे एवं छिपे-छिपे दूषण सेवन करते थे। आचार्य

के पूछने पर झूठ बोलने तक के लिए तैयार हो जाते थे। प्रस्तुत सूत्र में ऐसा एक उल्लेख उपलब्ध है जो इस प्रकार है :- “बहुक्रोधी, बहुमानी, बहुकपटी, बहुलोभी”, नट की भाँति विविध ढंग से व्यवहार करने वाला, शठवत्, विविध संकल्प वाला, आस्रवों में आसक्त, मुँह से उत्थित वाद करने वाला, “मुझे कोई देख न ले” इस प्रकार के भय से उपकृत्य करने वाला सतत् मूढ़ धर्म को नहीं जानता। जो चतुर आत्मार्थी है वह कभी अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करता। कदाचित् कामावेश में अब्रह्मचर्य का सेवन हो जाय तो उसका अपलाप करना अर्थात् आचार्य के सामने उसे स्वीकार न करना महान मूर्खता है” इस प्रकार के उल्लेख यही बताते हैं कि उग्र तप, उग्र संयम, उग्र ब्रह्मचर्य के युग में भी कोई - कोई ऐसे निकल आते हैं। यह वासना व कषाय की विचित्रता है।

जैन श्रमणों का अन्य श्रमणों के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध रहता था, यह भी जानने योग्य है। इस विषय में आठवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ में ही बताया गया है कि समनोज्ञ (समान आचार-विचार वाला) भिक्षु असमनोज्ञ (भिन्न आचार-विचार वाला) को भोजन, पानी, वस्त्र, पात्र, कम्बल व पादपूछण¹⁶ न दे, इसके लिए उसे निमन्त्रित भी न करे, न उसकी आदरपूर्वक सेवा ही करे। इसी प्रकार असमनोज्ञ से ये वस्तुएँ भी नहीं लें, न उसके निमन्त्रण को स्वीकार करे और न उससे अपनी सेवा ही करावें। जैन श्रमणों में अन्य श्रमणों के संसर्ग से किसी प्रकार की आचर- विचारविषयक शिथिलता न आ जाय, इसी दृष्टि से यह विधान है। इसके पीछे किसी प्रकार की द्वेष-बुद्धि अथवा निन्दा भाव नहीं है।

आचारांग के वचनों से मिलते वचन :- आचारांग के कुछ वचन अन्य शास्त्रों से मिलते -जुलते हैं। आचारांग में एक वाक्य है “दोहिं वि अंतेहि अदिस्समाणे”¹⁷ - अर्थात् जो दोनों अन्तों द्वारा दृश्यमान हैं अर्थात् जिसका पूर्वान्त-आदि नहीं है व परिचमान्त-अन्त भी नहीं है। इस प्रकार जो (आत्मा) पूर्वान्त व परिचमान्त में दिखाई नहीं देता। इसी से मिलता हुआ वाक्य तेजोबिन्दु उपनिषद् के प्रथम अध्ययन के तेईसवें श्लोक में इस प्रकार है :-

आदावन्ते च मध्ये च जनोऽस्मिन्न विद्यते।

येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः॥

यह पद्य पूर्ण आत्मा अथवा सिद्ध आत्मा के स्वरूप के विषय में है।

आचारांग के उपर्युक्त वाक्य के बाद ही दूसरा वाक्य है “स न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्जइ न हम्मइ कंचणं सव्वलोए” अर्थात् सर्वलोक में किसी के द्वारा आत्मा का छेदन नहीं होता, भेदन नहीं होता, दहन नहीं होता, हनन नहीं होता। इससे मिलते हुए वाक्य उपनिषद् तथा भगवद्गीता में इस प्रकार हैं :-

न जायते न म्रियते न मुह्यति न भिद्यते न दह्यते।

न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मा॥

- सुबालोपनिषद्, नवम खण्ड ; दशाष्टोत्तरशतोपनिषद् पृ. 210.

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

- भगवद्गीता, अ. 2, श्लो. 23

“जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कओ सिया।¹⁸ अर्थात् जिसका आगा व पीछा नहीं है उसका बीच कैसे हो सकता है? आचारांग का यह वाक्य भी आत्मविषयक है। इससे मिलता-जुलता वाक्य गौड़पादकारिका¹⁹ में इस प्रकार है : आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।

जन्मरणातीत, नित्यमुक्त आत्मा का स्वरूप बताते हुए सूत्रकार कहते हैं :-
सव्वे सरा नियट्ठींति। तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया। ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने - से न दीहे, न हस्से, न वट्ठे, न तंसे, न चउरंसे, न परिमंडले, न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिद्दे, न सुक्किले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगंधे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गुरुए, न लहुए, न सोए, न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काउ, न रूहे, न संगे, न इत्थी, न मुरिसे, न अन्नहा, परिन्ने, सन्ने, उवमा न विज्जइ। अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि, से न सद्दे, न

रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे, इच्चेयावं त्ति बेमि²⁰

ये सब वचन भिन्न - भिन्न उपनिषदों में इस प्रकार मिलते हैं :-

“न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनो, न विद्मो न विजानीमो यथैतद् अनुशिष्यात् अन्यदेव तद् विदितात् अथो अविदितादपि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचक्षिरे²¹

“अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्, तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।”²²

“अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अलोहितम्, अस्नेहम्, अच्छायम्, अतमो, अवायु, अनाकाराम्, असंगम्, अरसम्, अगन्धम्, अचक्षुष्कम्, अश्रोत्रम्, अवाग्, अमनो; अतेजस्कम्, अप्राणम्, अमुखम्, अमात्रम् अनन्तरम्; अबाह्यम्, न तद् अश्नाति किचन, न तद् अश्नाति कश्चन।”²³

“नान्तःप्रज्ञम्, न बहिःप्रज्ञम्, नोभयतःप्रज्ञम्, न प्रज्ञानघनम्, न प्रज्ञम्, नाप्रज्ञम्, अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेशयम्।”²⁴

“यतो वातो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।”²⁵

“अच्युतोऽहम्, अचिन्त्योऽहम्, तर्क्योऽहम्, अप्राणोऽहम्, अकायोऽहम्, अशब्दोऽहम्, अरूपोऽहम्, अस्पर्शोऽहम्, अरसोऽहम्, अगन्धोयोऽहम्, अशब्दोऽहम्, अगोत्रोऽहम्, अगात्रोऽहम्, अवागोऽहम्, अदृश्योऽहम्, अवर्णोऽहम् अश्रुतोऽहम् अदृष्टोऽहम्..... ।”²⁶

आचारांग में बताया गया है कि ज्ञानियों के बाहु कृश होते हैं तथा माँस एवं रक्त पतला होता है - कम होता है : आगयपन्नाणाणं किंसा बाहा भवन्ति पयणुए य मंस - सोणिए²⁷

उपनिषदों में भी बताया गया है कि ज्ञानी पुरुष को कृश होना चाहिए, इत्यादि:

मधुकरीवृत्त्या आहारमाहरन् कृशो भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन् आज्यरूधिरमिव त्यजेत् - नारदपरिव्राजकोपनिषद्, सप्तम उपदेश यथालाभमश्नीयात् प्राणसंधारणाथ

यथा मेदोवृद्धिर्न जायते। कृशो भूत्वा ग्रामे एकरात्रम् नगरे संन्यासोपनिषद्,
प्रथम अध्याय।

आचारांग प्रथमश्रुतस्कन्ध के अनेक वाक्य सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक में अक्षरशः उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में श्री शुबिंग ने आचारांग के स्वसम्पादित संस्करण में यथास्थान प्रर्याप्त प्रकाश डाला है। साथ ही उन्होंने आचारांग के कुछ वाक्यों की बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद व सुत्तनिपात के सदृश वाक्यों से भी तुलना की है।

आचारांग के शब्दों से मिलते शब्द :- अब यहाँ कुछ ऐसे शब्दों की चर्चा की जाएगी जो आचारांग के साथ ही साथ परशास्त्रों में भी उपलब्ध हैं तथा ऐसे शब्दों के सम्बन्ध में भी विचार किया जाएगा जिनकी व्याख्या चूर्णिकार एवं वृत्तिकार ने विलक्षण की है।

आचारांग के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि “मैं कहाँ से आया हूँ व कहाँ जाऊँगा” ऐसी विचारणा करने वाला आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई कहलाता है। आयावाई का अर्थ है आत्मवादी अर्थात् आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करने वाला। लोगावाई का अर्थ है लोकवादी अर्थात् लोक का अस्तित्व मानने वाला। कम्मावाई का अर्थ है कर्मवादी एवं किरियावाई का अर्थ है क्रियावादी। ये चारों वाद आत्मा के अस्तित्व पर अवलम्बित हैं। जो आत्मवादी है वही लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी है। जो आत्मवादी नहीं है वह लोकवादी, कर्मवादी अथवा क्रियावादी नहीं है। सूत्रकृतांग में बौद्धमत को क्रियावादी दर्शन कहा गया है : अहावरं पुरक्खायं किरियावाइदरिसणं (अ. 1, उ. 2, गा. 24)। इसकी व्याख्या करते हुए चूर्णिकार व वृत्तिकार भी इसी कथन का समर्थन करते हैं। इसी सूत्रकृत - अंगसूत्र के समवसरण नामक बारहवें अध्ययन में क्रियावादी आदि चार वादों की चर्चा की गई है। वहाँ मूल में किसी दर्शन विशेष के नाम का उल्लेख नहीं है तथापि वृत्तिकार ने अक्रियावादी के रूप में बौद्धमत का उल्लेख किया है। यह कैसे ? सूत्र के मूल पाठ में जिसे क्रियावादी कहा गया है एवं व्याख्यान करते हुए स्वयं वृत्तिकार ने जिसका एक जगह समर्थन किया है उसी को अन्यत्र अक्रियावादी कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है?

आचारांग में आने वाले “एयावंति” व “सव्वावंति” इन दो शब्दों का चूर्णिकार ने कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है। वृत्तिकार शीलांकसूरि इनकी व्याख्या करते हुए कहते हैं : एतौ द्वौ शब्दौ मागधदेशीभाषाप्रसिद्ध्या, “एतावन्त सर्वेऽपि इत्येतत्पर्यायौ” (आचारांगवृत्ति, पृ. 25) अर्थात् ये दो शब्द मगध की देशी भाषा में प्रसिद्ध हैं एवं इनका “इतने सारे” ऐसा अर्थ है। प्राकृत व्याकरण को ऐसी प्रक्रिया द्वारा “एतावन्तः” के अर्थ में “एयावंति” सिद्ध नहीं किया जा सकता और न “सर्वेऽपि” के अर्थ में “सव्वावंति” ही साधा जा सकता है। वृत्तिकार ने परम्परा के अनुसार अर्थ समझाने की पद्धति का आश्रय लिया प्रतीत होता है : बृहदारण्यक उपनिषद् में (तृतीय ब्राह्मण में) “लोकस्य सर्वावतः” अर्थात् “सारे लोक की” ऐसा प्रयोग आता है। यहाँ “सर्वावन्तः” “सर्वावत्” का षष्ठी विभक्ति का रूप है। इसका प्रथमा का बहुवचन “सर्वावन्तः” हो सकता है। आचारांग के सव्वावंति और उपनिषद् के “सर्वावतः” इन दोनों प्रयोगों की तुलना की जा सकती है।

आचारांग में एक-जगह “अकस्मात्” शब्द का प्रयोग मिलता है : आठवें अध्ययन में जहाँ अनेक वादों - लोक है, लोक नहीं है इत्यादि का निर्देश है वहाँ इन सब वादों को निर्हेतुक बताने के लिए “अकस्मात्” शब्द का प्रयोग किया गया है। सम्पूर्ण आचारांग में, यहाँ तक कि समस्त अंगसाहित्य में अत्यव्यञ्जनयुक्त ऐसा विजातीय प्रयोग अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। वृत्तिकार ने इस शब्द का स्पष्टीकरण भी पूर्ववत् मगध की देशी भाषा के रूप में ही किया है। वे कहते हैं : “अकस्मात् इति मागधदेशे आगोपालाङ्गनादिना संस्कृतस्यैव उच्चारणाद् इहापि तथैव उच्चारितः इति” (आचारांगवृत्ति: पृ. 242) अर्थात् मगध देश में ग्वालिनें भी “अकस्मात्” का प्रयोग करती हैं। अतः यहाँ भी इस शब्द का वैसा ही प्रयोग हुआ है।

मुण्डकोपनिषद् के (प्रथम मुण्डक, द्वितीय खण्ड, श्लोक 9) “यत धर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेन आतुराः क्षीणलोकाश्चवन्ते” इस पद्य में जिस अर्थ में “आतुर” शब्द है उसी अर्थ में आचारांग का आउर - आतुर शब्द भी है। लोकभाषा में “कामातुर” का प्रयोग इसी प्रकार का है।

लोगों में जो-जो वस्तुएँ शास्त्र के रूप में प्रसिद्ध हैं उनके अतिरिक्त अन्य पदार्थों अर्थात् भावों के लिए भी शास्त्र शब्द का प्रयोग होता है। आचारांग में राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह एवं तज्जन्य समस्त प्रवृत्तियों को सत्थ - शास्त्ररूप कहा गया है। अन्य किसी शास्त्र में इस अर्थ में “शास्त्र” शब्द का प्रयोग दिखाई नहीं देता।

बौद्धपिटकों में जिस अर्थ में “मार” शब्द का प्रयोग हुआ है उसी अर्थ में आचारांग में भी “मार” शब्द प्रयुक्त है। सुत्तनिपात के कप्पमाण पुच्छा सुत्त के चतुर्थ पद्य व भद्रावुधमाणवपुच्छा सुत्त के तृतीय पद्य में भगवान् बुद्ध ने “मार” का स्वरूप समझाया है। लोकभाषा में जिसे “शैतान” कहते हैं वही “मार” है। सर्व प्रकार का आलंभन शैतान की प्रेरणा का ही कार्य है। सूत्रकार ने इस तथ्य का प्रतिपादन “मार” शब्द के द्वारा किया है। इसी प्रकार “नरअ” - “नरक” शब्द का प्रयोग भी सर्व प्रकार के आलंभन के लिए किया गया है। निरालंब उपनिषद् में बंध, मोक्ष, स्वर्ग, नरक आदि अनेक शब्दों की व्याख्या की गई है। उसमें नरक की व्याख्या इस प्रकार है : “असत्संसारविषयजनसंसर्ग एवं नरकः” अर्थात् असत् संसार, उसके विषय एवं असज्जनों का संसर्ग ही नरक है। यहाँ सब प्रकार के आलंभन को “नरक” शब्द से निर्दिष्ट किया है। इस प्रकार “नरक” शब्द का जो अर्थ उपनिषद् को अभीष्ट है वही आचारांग को भी अभीष्ट है।

आचारांग में “नियागपडिवन्न” - नियागप्रतिपन्न (अ. 1, उ. 3) पद में “नियाग” शब्द का प्रयोग है। याग व नियाग पर्यायवाची शब्द है जिनका अर्थ है यज्ञ। इन शब्दों का प्रयोग वैदिक परम्परा में विशेष होता है। जैन परम्परा में “नियाग” शब्द का अर्थ भिन्न प्रकार से किया गया है। आचारांग-वृत्तिकार के शब्दों में “यजनं यागः नियतो निश्चितो वा यागः नियागो मोक्षमार्गः संगतार्थत्वाद् धातोः - सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मतया गतं संगतम् इति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मोक्षमार्गं प्रतिपन्नः” (आचारांगवृत्ति, पृ. 38) अर्थात् जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र की संगति हो वह मार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग नियाग है। मूलसूत्र में “नियाग” के स्थान पर “निकाय” अथवा “नियाय” पाठान्तर भी है। वृत्तिकार लिखते हैं: “पाठान्तरं वा निकायप्रतिपन्नः - निर्गतः कायः औदारिकादियस्मात्

यस्मिन् वा सर्ति स निकायो मोक्षः तं प्रतिपन्नः निकायप्रतिपन्नः तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनादेः स्वशक्त्याऽनुष्ठानात्” (आचारांगवृत्ति, पृ. 38) अर्थात् जिसमें से औदारिकादि शरीर निकल गये हैं अथवा जिसकी उपस्थिति में औदारिकादि शरीर निकल गये हैं वह निकाय अर्थात् मोक्ष है। जिसने मोक्ष की साधना स्वीकार की है वह “निकायप्रतिपन्न” है। चूर्णिकार ने पाठान्तर देते हुए केवल “निकाय” पाठ को स्वीकार किया है तथा उसका अर्थ इस प्रकार किया है : “णिकाओ णाम देसप्पदेसबहुत्तं णिकायं पडिवज्जति जहा आऊजीवा अहवा णिकायं णिच्चं मोक्खं मगं पडिवन्नो” (आचारांग चूर्णि, पृ. 25) अर्थात् णिकाय का अर्थ है देशप्रदेश-बहुत्व । जिस अर्थ में जैन प्रवचन में “अत्थिकाय” – “अस्तिकाय” शब्द प्रचलित है उसी अर्थ में “निकाय” शब्द भी स्वीकृत है, ऐसा चूर्णिकार का कथन है। जिसने पानी को निकायरूप – जीवरूप स्वीकार किया है वह निकायप्रतिपन्न है अथवा निकाय का अर्थ है मोक्ष । वृत्तिकार ने केवल मोक्ष अर्थ को स्वीकार कर “नियाग” अथवा “निकाय” शब्द का विवेचन किया है।

“महावीहि” एवं “महाजाण” शब्दों का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार तथा वृत्तिकार दोनों ने इन शब्दों को मोक्षमार्ग का सूचक अथवा मोक्ष के साधनरूप सम्यग्दर्शन ज्ञान-तप आदि का सूचक बताया है। महावीहि अर्थात् महावीथि एवं महाजाण अर्थात् महायान। “महावीहि” शब्द सूत्रकृतांग के वैतालीय नामक द्वितीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक की 21वीं गाथा में भी आता है :- “पणया वीरा महावीहिं सिद्धिपह” इत्यादि। यहाँ “महावीहि” का अर्थ “महामार्ग” बताया गया है और उस “सिद्धिपह” अर्थात् “सिद्धिपथ” के विशेषण के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार आचारांग में प्रयुक्त “महावीहि” शब्द का जो अर्थ है वही सूत्रकृतांग में प्रयुक्त “महावीहि” शब्द का भी है। “महाजाण-महायान” शब्द जो कि जैन परम्परा में मोक्षमार्ग का सूचक है, बौद्ध दर्शन के एक भेद के रूप में भी प्रचलित है। प्राचीन बौद्ध परम्परा का नाम हीनयान है और बाद की नयी बौद्ध परम्परा का नाम महायान है।

प्रस्तुत सूत्र में “वीर” व “महावीर” का प्रयोग बार-बार आता है। ये

दोनों शब्द व्यापक अर्थ में भी समझे जा सकते हैं और विशेष नाम के रूप में भी। जो संयम की साधना में शूर है वह वीर अथवा महावीर है। जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर का मूल नाम तो वर्धमान है किन्तु अपनी साधना की शूरता के कारण वे वीर अथवा महावीर कहे जाते हैं। “वीर” व “महावीर” शब्दों का अर्थ इन दोनों रूपों में समझा जा सकता है।

इस सूत्र में प्रयुक्त “आरिय” व “अणारिय” शब्दों का अर्थ व्यापक रूप में समझना चाहिए। जो सम्यक् आचार - सम्पन्न हैं - अहिंसा का सर्वांगीण आचरण करने वाले हैं वे आरिय - आर्य हैं। जो वैसे नहीं हैं वे अणारिय - अनार्य हैं।

मेहावी (मेधावी), मइमं (मतिमान्), धीर, पंडिअ (पण्डित), पासअ (परयक), वीर, कुसल (कुशल) माहण (ब्राह्मण), नाणी (ज्ञानी), परमचक्खु (परमचक्षुष), मुणि (मुनि), बुद्ध, भगवं (भगवान्) आसुपन्न (आशुप्रज्ञ), आययचक्खु (आयतचक्षुष) आदि शब्दों का प्रयोग प्रस्तुत सूत्र में कई बार हुआ है। इनका अर्थ बहुत स्पष्ट है। इन शब्दों को सुनते ही जो सामान्य बोध होता है वही इनका मुख्य अर्थ है और यही मुख्य अर्थ यहाँ बराबर संगत हो जाता है। ऐसा होते हुए भी चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने इन शब्दों का जैन परिभाषा के अनुसार विशिष्ट अर्थ किया है। उदाहरण के लिए पासअ (परयकद्रष्टा) का अर्थ सर्वज्ञ अथवा केवली, कुसल (कुशल) का अर्थ तीर्थंकर अथवा वर्धमान स्वामी, मुणि (मुनि) का अर्थ त्रिकालज्ञ अथवा तीर्थंकर किया है।

जाणइ-पासइ का प्रयोग भाषारौली के रूप में :- आचारांग में “अकम्मा जाणइ पासइ” (5, 6), “आसुपन्नेण जाणया पासया” (7,1) “अजाणओ अपासओ” (5, 4) आदि वाक्य आते हैं, जिनमें केवली के जानने व देखने का उल्लेख है। इस उल्लेख को लेकर प्राचीन ग्रन्थकारों ने सर्वज्ञ के ज्ञान व दर्शन के क्रमाक्रम के विषय में भारी विवाद खड़ा किया है और जिसके कारण एक आगमिक पक्ष व दूसरा तार्किक पक्ष इस प्रकार के दो पक्ष भी पैदा हो गये हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि “जाणइ” व “पासइ” ये दो क्रियापद केवल भाषारौली -

बोलने की एक शैली के प्रतीक हैं। कहने वाले के मन में ज्ञान व दर्शन के क्रम-अक्रम का कोई विचार नहीं रहा है। जैसे अन्यत्र “पन्नवेमि परूवेमि भासेमि” आदि क्रियापदों का समानार्थ में प्रयोग हुआ है वैसे ही यहाँ भी “जाणइ-पासइ” रूप युगल क्रियापद समानार्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जो मनुष्य केवली नहीं है अर्थात् छद्मस्थ हैं उसके लिए भी “जाणइ पासइ” अथवा “अजाणओ अपासओ” का प्रयोग होता है। दर्शन-ज्ञान के क्रम के अनुसार तो पहले “पासदू” अथवा “अपासओ” और बाद में “जाणइ” अथवा “अजाणओ” का प्रयोग होना चाहिए किन्तु ये वचन इस प्रकार के किसी क्रम को दृष्टि में रखकर नहीं कहे गये हैं। यह तो बोलने की एक शैली मात्र है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस शैली का प्रयोग दिखाई देता है। मज्झिमनिकाय के सव्वासवसुत्त में भगवान बुद्ध के मुख से ये शब्द कहलाये गये हैं : “जानतो अहं भिक्खवे पस्सतो आसवानं खयं वदामि, नो अजानतो नो अपस्सतो” अर्थात् हे भिक्षुओं ! मैं जानता हुआ - देखता हुआ आस्रवों के क्षय की बात करता हूँ, नहीं जानता हुआ- नहीं देखता हुआ नहीं। इसी प्रकार का प्रयोग भगवती सूत्र में भी मिलता है : “जे इमे भंते! बेइंदिया पंचिंदिया जीवा एसि आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा जाणामो पासामो, जे इमे पुढविकाइया एगिंदिया जीवा एसि णं आणामं वा नीसासं वा न याणामो न पासामो” (श. 2, उ. 1) - द्विन्द्रियादिक जीव जो श्वासोच्छ्वास आदि लेते हैं वह हम जानते हैं, देखते हैं किन्तु एकेन्द्रिय जीव जो श्वास आदि लेते हैं वह हम नहीं जानते, नहीं देखते।

ज्ञान के स्वरूप की परिभाषा के अनुसार दर्शन सामान्य, उपयोग सामान्य, बोध अथवा निराकार प्रतीति है, जबकि ज्ञान विशेष उपयोग, विशेष बोध अथवा साकार प्रतीति है। मनःपर्याय - उपयोग ज्ञानरूप ही माना जाता है, दर्शनरूप नहीं, क्योंकि उससे विशेष का ही बोध होता है, सामान्य का नहीं। ऐसा होते हुए भी नंदीसूत्र में ऋजुमति एवं विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी के लिए “जाणइ” व “पासइ” दोनों पदों का प्रयोग हुआ है। यदि “जाइण” पद केवल ज्ञान का ही द्योतक होता और “पासइ” पद केवल दर्शन का ही प्रतीक होता तो मनःपर्ययज्ञानी के लिए केवल

“जाणइ” पद का ही प्रयोग किया जाता, “पासइ” पद का नहीं। नंदी में एतद्विषयक पाठ इस प्रकार है :-

द्व्वओ णं उज्जुमई णं अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ, ते चेव विउलमई अब्भहियतराए विउलतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ। खेत्तओ णं उज्जुमई जहन्नेणं उक्कोसेणं मणोगए भावे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई विसुद्धतरं जाणइ पासइ। कालओ णं उज्जुमई जहन्नेणं उक्कोसेणं पि जाणइ पासइ तं चेव विउलमई विसुद्धतराणं जाणइ पासइ। भावओ णं उज्जुमई जाणइ पासइ। तं चेव विउलमई विसुद्धतराणं जाणइ पासइ।

इसी प्रकार श्रुतज्ञानी के सम्बन्ध में भी नंदीसूत्र में “सुअणाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइ जाणइ पासइ” ऐसा पाठ आता है। श्रुतज्ञान भी ज्ञान ही है, दर्शन नहीं। फिर भी उसके लिए “जाणइ” व “पासइ” दोनों का प्रयोग किया गया है।

यह सब देखते हुए यही मानना विशेष उचित है कि “जाणइ पासइ” का प्रयोग केवल एक भाषाशैली है। इसके आधार पर ज्ञान व दर्शन के क्रम-अक्रम का विचार करना युक्तियुक्त नहीं।

वसुपद :- आचारांग में वसु, अणुवसु, वसुमंत, दुव्वसु आदि वसु पद वाले शब्दों का प्रयोग हुआ है। “वसु” शब्द अवेस्ता, वेद एवं उपनिषद् में भी मिलता है। इससे मालूम होता है कि यह शब्द बहुत प्राचीन है। अवेस्ता में इस शब्द का प्रयोग “पवित्र” के अर्थ में हुआ है। वहाँ इसका उच्चारण “वसु” न होकर “वोहू” है। वेद व उपनिषद् में इसका उच्चारण “वसु” के रूप में ही है।²⁸ उपनिषद् में प्रयुक्त “वसु” शब्द हंस अर्थात् पवित्र आत्मा का द्योतक है : हंस शुचिवद् वसुः (कठोपनिषद्, वल्ली 5, श्लोक 2, छान्दोग्योपनिषद्, खण्ड 16, श्लोक 1-2) बाद में इस शब्द का प्रयोग वसु नामक आठ देवों अथवा धन के अर्थ में होने लगा। आचारांग में इस शब्द का प्रयोग आत्मार्थी पवित्र मुनि एवं आत्मार्थी पवित्र गृहस्थ के अर्थ में हुआ है। वसु अर्थात् मुनि। अणुवसु अर्थात् छोटा मुनि-आत्मार्थी पवित्र

गृहस्था दुव्वसु अर्थात् मुक्तिगमन के अयोग्य मुनि - अपवित्र मुनि-आचारहीन मुनि।

वेद :- वेयवं - वेदवान् और वेयवी - वेदवित् इन दोनों शब्दों का प्रयोग आचारांग में भिन्न - भिन्न अध्ययनों में हुआ है। चूर्णिकार ने इनका विवेचन करते हुए लिखा है :- “वेत्तिज्जइ जेण स वेदो तं वेदयति इति वेदवि” (आचारांग - चूर्णि, पृ. 152) “वदवी - तित्थगर एवं कित्तयति विवेगं, दुवालसगं वा प्रवचनं वेदो तं जे वेदयति स वेदवी” (वही पृ. 185)। इन अवतरणों में चूर्णिकार ने तीर्थकर को वेदवी - वेदवित् कहा है। जिससे वेदन हो अर्थात् ज्ञान हो वह वेद है। इसीलिए जैन सूत्रों को अर्थात् द्वादशांग प्रवचन को वेद कहा गया है। निर्युक्तिकार ने आचारांग को वेदरूप बताया है। वृत्तिकार ने भी इस कथन का समर्थन किया है एवं आचारांगादि आगमों को वेद तथा तीर्थकरों, गणधरों एवं चतुर्दशपूर्वियों को वेदवित् कहा है। इस प्रकार जैन परम्परा में ऋग्वेदादि को हिंसाचारप्रधान होने के कारण वेद न मानते हुए अहिंसाचारप्रधान आचारांगादि को वेद माना गया है। वसुदेवहिंडी (प्रथम भाग, पृ. 183-193) में इसी प्रकार के ग्रन्थों को आर्यवेद कहा गया है। वस्तुतः देखा जाय तो वेद की प्रतिष्ठा से प्रभावित होकर ही अपने शास्त्र को वेद नाम दिया गया है, यही मानना उचित है।

आमगंध :- आचारांग के “सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधे परिव्वए” (2, 5) वाक्य में यह निर्देश किया गया है कि मुनि को सर्व आमगंधों को जानकर उनका त्याग करना चाहिए एवं निरामगंध ही विचरण करना चाहिए। चूर्णिकार अथवा वृत्तिकार ने आमगंध का व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ नहीं बताया है। उन्होंने केवल यही कहा है कि “आमगंध” शब्द आहार से सम्बन्धित दोष का सूचक है। जो आहार उद्गम दोष से दूषित हो अथवा शुद्धि की दृष्टि से दोषयुक्त हो वह आमगंध कहा जाता है। सामान्यतया “आम” का अर्थ होता है कच्चा और गंध का अर्थ होता है वास। जिसकी गंध आम हो वह आमगंध है। इस दृष्टि से जो आहारादि परिपक्व न हो अर्थात् जिसमें कच्चे की गन्ध मालूम होती हो वह आमगंध में समाविष्ट होता है। जैन भिक्षुओं के लिए इस प्रकार का आहार त्याज्य है। लक्षणा से “आमगंध” शब्द इसी प्रकार के आहारादि सम्बन्धी अन्य दोषों का भी सूचक है।

बौद्धपिटक ग्रन्थ सूत्तनिपात में “आमगंध” शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमें तिष्य नामक तापस और भगवान् बुद्ध के बीच “आमगंध” के विचार के विषय में एक संवाद है। यह तापस कंद, मूल, फल जो कुछ भी धर्मानुसार मिलता है उसके द्वारा अपना निर्वाह करता है एवं तापसधर्म का पालन करता है। उसे भगवान् बुद्ध ने कहा कि हे तापस ! तू जो परप्रदत्त अथवा स्वोपार्जित कंद आदि ग्रहण करता है वह आमगंध है - अमेध्यवस्तु - अपवित्रपदार्थ है। यह सुनकर तिष्य ने बुद्ध से कहा - हे ब्रह्मबन्धु ! तू स्वयं सुसंकृत - अच्छी तरह से पकाये हुए पक्षियों के मांस से युक्त चावल का भोजन करने वाला है और मैं कंद आदि खाने वाला हूँ फिर भी तू मुझे तो आमगंधभोजी कहता है और अपने आपको निरामगंधभोजी। यह कैसे ? इसका उत्तर देते हुए बुद्ध कहते हैं कि प्राणघात, वध, छेद, चोरी असत्य, वंचना, लूट, व्याभिचार आदि अनाचार आमगंध है, मांसभोजन आमगंध नहीं। असंयम जिञ्जालोलुपता, अपवित्र आचरण, नास्तिकता, विषमता तथा अविनय आमगंध है, मांसाहार आमगंध नहीं। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में समस्त दोषों - आंतरिक व बाह्य दोषों को आमगंध कहा गया है।

आचारांग में प्रयुक्त “आमगंध” का अर्थ आंतरिक दोष तो है ही, साथ ही मांसाहार भी है। जैन भिक्षुओं के लिये मांसाहार के त्याग का विधान है। “सव्वामगंध परिन्नाय” लिखने का वास्तविक अर्थ यही है कि बाह्य व आंतरिक सब प्रकार का आमगंध हेय है अर्थात् बाह्य आमगंध-मांसादि एवं आन्तरिक आमगंध-आभ्यन्तरिक दोष ये दोनों ही त्याज्य है।

आस्रव व परिस्रव :- जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा; जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा” आचारांग (अ. 4, उ. 2) के इस वाक्य का अर्थ समझने के लिये आस्रव व परिस्रव का अर्थ जानना जरूरी है। आस्रव शब्द “बंधन के हेतु” के अर्थ में और परिस्रव शब्द “बंधन के नाश के हेतु” के अर्थ में जैन व बौद्ध परिभाषा में रूढ़ है। अतः “जे आसवा ” का अर्थ यह हुआ कि जो आस्रव है अर्थात् बंधन के हेतु हैं वे कई बार परिस्रव अर्थात् बंधन के नाश के हेतु बन जाते हैं और जो बंधन के नाश के हेतु हैं

वे कई बार बंधन के हेतु बन जाते हैं। इसी प्रकार जो अनास्रव है अर्थात् बंधन के हेतु नहीं है वे कई बार अपरिस्रव अर्थात् बंधन के हेतु बन जाते हैं और जो बंधन के हेतु हैं वे कई बार बंधन के अहेतु बन जाते हैं। इन वाक्यों का गूढार्थ “मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध - मोक्षयोः” सिद्धान्त के आधार पर समझा जा सकता है। बंधन व मुक्ति का कारण मन ही है। मन की विचित्रता के कारण ही जो हेतु बंधन का कारण होता है वही मुक्ति का भी कारण बन जाता है। इसी प्रकार मुक्ति का हेतु बंधन का कारण भी बन सकता है। उदाहरण के लिए एक ही पुस्तक किसी के लिए ज्ञानार्जन का कारण बनती है तो किसी के लिए क्लेश का, अथवा किसी समय विद्योपार्जन का हेतु बनती है तो किसी समय कलह का। तात्पर्य यह है कि चित्तशुद्धि अथवा अप्रमत्तता पूर्वक की जाने वाली क्रियाएँ ही अनास्रव अथवा परिस्रव का कारण बनती हैं। अशुद्ध चित्त अथवा प्रमादपूर्वक की गई क्रियाएँ आस्रव अथवा अपरिस्रव का कारण होती हैं।

वर्णाभिलाषा :- “वर्णाएसी नारभे कंचणं सव्वलोए” (आचारांग अ. 2, सू. 155) का अर्थ इस प्रकार है : वर्ण का अभिलाषी लोक में किसी का भी आलंभन न करे। वर्ण अर्थात् प्रशंसा, यशकीर्ति। उसके आदेशी अर्थात् अभिलाषी को सारे संसार में किसी की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए; किसी का भी भोग नहीं लेना चाहिए। इसी प्रकार असत्य, चौर्य आदि का भी आचरण नहीं करना चाहिए। यह एक अर्थ है। दूसरा अर्थ इस प्रकार है : संसार में कीर्ति अथवा प्रशंसा के लिए देहदमनादिक की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। तीसरा अर्थ यों है : लोक में वर्ण अर्थात् रूपसौन्दर्य के लिए किसी प्रकार का संस्कार - स्नानादि की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए।

उपर्युक्त सूत्र में मुमुक्षुओं के लिए किसी प्रकार की हिंसा न करने का विधान है। इसमें अपवाद का उल्लेख अथवा निर्देश नहीं है फिर भी वृत्तिकार कहते हैं। कि प्रवचन की प्रभावना के लिये अर्थात् जैनशासन की कीर्ति के लिए कोई इस प्रकार का आरंभ - हिंसा कर सकता है : प्रवचनोद्भवनाथं तु आरभते (आचारांगवृत्ति, पृ. 192)। वृत्तिकार का यह कथन कहाँ तक युक्तिसंगत है, यह विचारणीय है।

मुनियों के उपकरण :- आचारांग में भिक्षु के वस्त्र के उपयोग एवं अनुपयोग

के सम्बन्ध में जो पाठ हैं उनमें कहीं भी वृत्तिकारनिर्दिष्ट जिनकल्प आदि भेदों का उल्लेख नहीं है, केवल भिक्षु की साधन सामग्री का निर्देश है। इसमें अचेलकता एवं सचेलकता का प्रतिपादन भिक्षु की अपनी परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए किया गया है। इस विषय में किसी प्रकार की अनिवार्यता को स्थान नहीं है। यह केवल आत्मबल व देहबल की तरतमता पर आधारित है। जिसका आत्मबल अथवा देहबल अपेक्षाकृत अल्प है उसे भी सूत्रकार ने साधना का पूरा अवसर दिया है। साथ ही यह भी कहा है कि अचेलक, त्रिवस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी, एकवस्त्रधारी एवं केवल लज्जानिवारणार्थ वस्त्र का उपयोग करने वाला - ये सब भिक्षु समानरूप से आदरणीय हैं, इन सबके प्रति समानता का भाव रखना चाहिए। समत्तमेव समभिजाणिया। इनमें से अमुक प्रकार के मुनि उत्तम हैं अथवा श्रेष्ठ हैं एवं अमुक प्रकार के हीन हैं अथवा अधम हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में मुनियों के उपकरणों के सम्बन्ध में आने वाले समस्त उल्लेखों में कहीं भी मुहपत्ती नामक उपकरण का निर्देश नहीं है। उनमें केवल वस्त्र, पात्र, कंबल, पादपुंछन, अवग्रह तथा कटासन का नाम है : वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं ओग्गहं च कडासणं (2, 5), वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं (6, 2), वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा (8, 1) वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा (8, 2)। भगवतीसूत्र में तथा अन्य अंगसूत्रों में जहाँ-जहाँ दीक्षा लेने वालों का अधिकार आता है वहाँ-वहाँ रजोहरण तथा पात्र के सिवाय किसी अन्य उपकरण का उल्लेख नहीं दीखता है। यह हकीकत भी मुहपत्ती के सम्बन्ध में विवाद खड़ा करने वाली है। भगवती सूत्र में "गौतम मुँहपत्ती का प्रतिलेखन करते हैं।" इस प्रकार का उल्लेख आता है। इससे प्रतीत होता है कि आचारांग की रचना के समय मुँहपत्ती का भिक्षुओं के उपकरणों में समावेश न था किन्तु बाद में इसकी वृद्धि की गई। मुँहपत्ती के बांधने का उल्लेख तो कहीं दिखाई नहीं देता। संभव है बोलते समय अन्य पर थूँक न गिरे तथा पुस्तक पर भी थूँक न पड़े, इस दृष्टि से मुँहपत्ती का उपयोग प्रारम्भ हुआ हो। मुँह पर मुँहपत्ती बाँध रखने का रिवाज तो बहुत समय बाद ही चला है।⁹

महावीर-चर्या :- आचारांग के उपधानश्रुत नामक नववें अध्ययन में भगवान महावीर का जो चरित्र दिया गया है वह भगवान् की जीवनचर्या का साक्षात् द्योतक है। उसमें कहीं भी अत्युक्ति नहीं है। उनके पास इंद्र, सूर्य आदि के आने की घटना का कहीं भी निर्देश नहीं है। इस अध्ययन में भगवान् के धर्म चक्र के प्रवर्तन अर्थात् उपदेश का स्पष्ट उल्लेख है। इसमें भगवान् की दीक्षा से लेकर निर्वाण तक की समग्र जीवन-घटना का उल्लेख है। भगवान् ने साधना की, वीतराग हुए, देशना दी अर्थात् उपदेश दिया और अन्त में “अभिनिव्वुडे” अर्थात् निर्वाण प्राप्त किया। इस अध्ययन में एक जगह ऐसा पाठ है :-

अप्पं तिरियं पेहाए अप्पं पिट्टओ व पेहाए।
अप्पं बुइए पडिभाणी पंथपेही चरे जयमाणे॥

अर्थात् भगवान् ध्यान करते समय तिरछा नहीं देखते अथवा कम देखते, पीछे नहीं देखते अथवा कम देखते, बोलते नहीं अथवा कम बोलते, उत्तर नहीं देते अथवा कम देते एवं मार्ग को ध्यानपूर्वक यतना से देखते हुए चलते।

इस सहज चर्या का भगवान् के जन्मजात माने जाने वाले अवधिज्ञान के साथ विरोध होता देख चूर्णिकार इस प्रकार समाधान करते हैं कि भगवान् को आँख का उपयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं है। (क्योंकि वे छद्मावस्था में भी अपने अवधिज्ञान से बिना आँख के ही देख सकते हैं, जान सकते हैं) फिर भी शिष्यों को समझाने के लिए इस प्रकार का उल्लेख आवश्यक है: “ण एतं भगवतो भवति, तथावि आयरियं धम्माणं सिस्साणं इति काउं अप्प तिरिया।” (चूर्णि, पृ. 310) इस प्रकार चूर्णिकार ने भगवान् महावीर से सम्बन्धित महिमावर्धक अतिशयोक्तियों को सुसंगत कराने के लिए मूलसूत्र के बिलकूल सीधे - सादे एवं सुगम वचनों को अपने ढंग से समझाने का अनेक स्थानों पर प्रयास किया है। पीछे के टीकाकारों ने भी एक या दूसरे ढंग से इसी पद्धति का अवलम्बन लिया है। यह तत्कालीन वातावरण एवं भक्ति का सूचक है। ललितविस्तर आदि बौद्ध ग्रन्थों में भी भगवान् बुद्ध के विषय में जैन ग्रन्थों के ही समान अनेक अतिशयोक्तिपूर्ण उल्लेख उपलब्ध हैं।

महावीर के लिए प्रयुक्त सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंतज्ञानी, केवली आदि शब्द आचार्य हरिभद्र के कथनानुसार भगवान् के आत्मप्रभाव, वीतरागता एवं क्रान्तदर्शिता-दूरदर्शिता के सूचक हैं। बाद में जिस अर्थ में ये शब्द रूढ हुए हैं एवं शास्त्रार्थ का विषय बने हैं उस अर्थ में वे उनके लिए प्रयुक्त हुए प्रतीत नहीं होते। प्रत्येक महापुरुष जब सामान्य चर्या से ऊँचा उठ जाता है - असाधारण जीवनचर्या का पालन करने लगता है तब भी वह मनुष्य ही होता है। तथापि लोग उसके लिए लोकोत्तर शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ कर देते हैं और इस प्रकार अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते हैं। उत्तम कोटि के विचारक उस महापुरुष का यथाशक्ति अनुसरण करते हैं जबकि सामान्य लोग लोकोत्तर शब्दों द्वारा उनका स्तवन करते हैं, पूजन करते हैं, महिमा गाकर प्रसन्न होते हैं।

कुछ सुभाषित :- आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की समीक्षा समाप्त करने के पूर्व उसमें आने वाले कुछ सूक्त अर्थसहित नीचे दिये जाने आवश्यक हैं। वे इस प्रकार हैं :-

1. पणया वीरा महावीहि : वीर पुरुष महामार्ग की ओर अग्रसर होते हैं।
2. जाए सद्भाए निक्खंतो तमेव अणुपालिया : जिस श्रद्धा के साथ निकला उसी का पालन कर।
3. धीरे मुहुत्तमवि नो पमायए : धीरे पुरुष एक मुहूर्त के लिए भी प्रमाद न करे।
4. वओ अच्चेइ जोव्वणं च : वय चला जा रहा है और यौवन भी।
5. खणं जाणाहि पंडिए : हे पंडित! क्षण को-समय को समझ।
6. सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला : सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है। सुख अच्छा लगता है, दुःख अच्छा

- अप्यियवहा पियजीविणो जीविउकामा : नहीं लगता, वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है, जीने की इच्छा है।
7. सव्वेसि जीविअं पियं : सबको जीवन प्रिय है।
8. जेण सिया तेण णो सियां : जिसके द्वारा है उसके द्वारा नहीं है अर्थात् जो अनुकूल है वह प्रतिकूल हो जाता है।
9. जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो : जैसा अन्दर है वैसा बाहर है और जैसा बाहर है वैसा अन्दर है।
10. कामकामो खलु अयं पुरिसे : यह पुरुष सचमुच कामकामी है।
11. कासंकासेऽयं खलु पुरिसे : यह पुरुष "मैं करूँगा, मैं करूँगा" ऐसे ही करता रहता है।
12. वेरं वड्ढइ अप्पणो : ऐसा पुरुष अपना वैर बढ़ाता है।
13. सुत्ता अमुग्गी मुणिणो सययं जागरंति : अमुनि सोये हुए हैं और मुनि सतत जाग्रत हैं।
14. अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ : कर्महीन के व्यवहार नहीं होता।
15. अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे : हे धीर पुरुष! प्रपंच के अग्रभाग व मूल को काट डाल।
16. का अरह के आणंदे एत्थं पि अग्गहे चरे : क्या अरति और क्या आनन्द, दोनों में अनासक्त रहो।
17. पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि : हे पुरुष ! तू ही अपना मित्र है फिर बाह्य मित्र की इच्छा क्यों करता है?
18. पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झः एवं दुक्खा पमोक्खसि : हे पुरुष ! तु अपने आप को ही निगृहीत कर । इस प्रकार तेरा दुःख दूर होगा।
19. पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहिः : हे पुरुष ! सत्य को ही सम्यक् रूप से समझ।

20. जे एगं नामे से बहु नामे, जे बहु : जो एक को झुकाता है वह बहुतों
नामे से एगं नामे को झुकाता है और जो बहुतों को
झुकाता है वह एक को झुकाता है।
21. सव्वओ पमत्तस्स भयं : प्रमादी को चारों ओर से भय है,
अप्पमत्तस्स नत्थि भयं अप्रमादी को कोई भय नहीं।
22. जति वीरा महाजाणं : वीर पुरुष महायान की ओर जाते
हैं।
23. कसेहि अप्पाणं : आत्मा को अर्थात् खुद को कसा।
24. जरेहि अप्पाणं : आत्मा को अर्थात् खुद को जीर्ण
कर।
25. बहु दुक्खा हु जंतवो : सचमुच प्राणी बहुत दुःखी हैं।
26. तुमं सि नाम तं चेव जं हंतव्वं : तू जिसे हनने योग्य समझता है वह
ति मन्नसि तू खूद ही है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध :- आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की उपर्युक्त समीक्षा के ही समान द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भी समीक्षा आवश्यक है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सामान्य परिचय पहले दिया जा चुका है। यह पाँच चूलिकाओं में विभक्त है जिसमें आचार -प्रकल्प अथवा निशीथ नामक पंचम चूलिका आचारांग से अलग होकर एक स्वतन्त्र ग्रंथ ही बन गई है। अतः वर्तमान द्वितीय श्रुतस्कन्ध में केवल चार चूलिकाएँ ही हैं। प्रथम चूलिका में सात प्रकरण हैं जिनमें से प्रथम प्रकरण आहारविषयक है। इस प्रकरण में कुछ विशेषता है जिसकी चर्चा करना आवश्यक है।

आहार :- जैन भिक्षु के लिए यह एक सामान्य नियम है कि अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम छोटे - बड़े जीवों से युक्त हो, काई से व्याप्त हो, गँहू आदि के दानों के सहित हो, हरी वनस्पति आदि से मिश्रित हो, ठण्डे पानी से भिगोया हुआ हो, जीवयुक्त हो, रजवाला हो उसे भिक्षु स्वीकार न करे। कदाचित असावधानी से

ऐसा भोजन आभी जाये तो उसमें से जीवजन्तु आदि निकाल कर विवेकपूर्वक उसका उपयोग करे। भोजन करने के लिये स्थान कैसा हो? उसके उत्तर में कहा गया है कि भिक्षु एकान्त स्थान ढूँढे अर्थात् एकान्त में जाकर किसी वाटिका, उपाश्रय अथवा शून्यगृह में किसी के न देखते हुए भोजन करे। वाटिका आदि कैसे हो? जिसमें बैठने की जगह अंडे न हों, अन्य जीवजन्तु न हों, अनाज के दाने अथवा फूल आदि के बीज न हों, हरे पत्ते आदि न पड़े हों, ओस न पड़ी हो, ठण्डा पानी न गिरा हो, काई न चिपकी हो, गीली मिट्टी न हो, मकड़ी के जाले न हो ऐसे निर्जीव स्थान में बैठकर भिक्षु भोजन करे। आहार, पानी आदि में अखाद्य अथवा अपेय पदार्थ के निकलने पर उसे ऐसे स्थान में फेंके जहा एकान्त हो अर्थात् किसी का आना-जाना न हो तथा जीवजन्तु आदि भी न हो।

भिक्षा के हेतु अन्य मत के साधु अथवा गृहस्थ के साथ किसी के घर में प्रवेश न करे अथवा घर से बाहर न निकले क्योंकि वृत्तिकार के कथनानुसार अन्य तीर्थिकों के साथ प्रवेश करने व निकलने वाले भिक्षु को आध्यात्मिक व बाह्य हानि होती है। इस नियम से एक बात यह फलित होती है कि उस जमाने में भी सम्प्रदाय-सम्प्रदाय के बीच परस्पर सद्भावना का अभाव था।

आगे एक नियम यह है कि जो भोजन अन्य श्रमणों अर्थात् बौद्ध श्रमणों, तापसों, आजीविकों आदि के लिए अथवा अतिथियों, भिखारियों, वनीपकों³⁰ आदि के लिये बनाया गया हो उसे जैन भिक्षु ग्रहण न करें इस नियम द्वारा अन्य भिक्षुओं अथवा श्रमणों को हानि न पहुँचाने की भावना व्यक्त होती है। इसी प्रकार जैन भिक्षुओं को नित्यपिण्ड, अग्रपिण्ड (भोजन का प्रथम भाग) आदि देने वाले कुलों में से भिक्षा ग्रहण करने की मनाही की गई है।

भिक्षा के योग्य कुल :- जिन कुलों में भिक्षु, भिक्षा के लिये जाते थे वे ये हैं :- उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, क्षत्रियकुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवंशकुल, असिअकुल - गोष्ठों का कुल, वेसिअकुल-वैश्यकुल, गंडागकुल-गाँव में घोषणा करने वाले नापितों का कुल, कोट्टागकुल - बढईकुल, बुक्कस अथवा

बोक्कशालियकुल - बुनकरकुल। साथ ही यह भी बताया गया है कि जो कुल अनिन्दित हैं, अजुगुप्सित हैं उन्हीं में जाना चाहिए; निन्दित व जुगुप्सित कुलों में नहीं जाना चाहिए। वृत्तिकार के कथनानुसार चमार कुल अथवा दासकुल निन्दित माने जाते हैं। इस नियम द्वारा यह फलित होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध की योजना के समय जैनधर्म में कुल के आधार पर उच्चकुल एवं नीचकुल की भावना को स्थान मिला हो। इसके पूर्व जैन प्रवचन में इस भावना की गंध तक नहीं मिलती। जहाँ खुद चाण्डाल के मुनि बनने के उल्लेख हैं वहाँ नीचकुल अथवा गर्हितकुल की कल्पना ही कैसे हो सकती है?

उत्सव के समय भिक्षा :- एक जगह खान-पान के प्रसंग से जिन विशेष उत्सवों के नामों का उल्लेख किया गया है वे ये हैं : इन्द्रगह, रकंदगह, रूद्रगह, मुकुन्द्रमह, भूतमह, यक्षमह, नागमह, स्तूपमह, चैत्यमह, वृक्षमह, गिरिमह, कूपमह, नदीमह, सरोवरमह, सागरमह, आकरमह इत्यादि। इन उत्सवों पर उत्सव के निमित्त से आये हुए निमन्त्रित व्यक्तियों के भोजन कर लेने पर ही भिक्षु आहारप्राप्ति के लिए किसी के घर में जाय, उससे पूर्व नहीं। इतना ही नहीं, वह घर में जाकर गृहपति की स्त्री, बहन, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधु, दास, दासी, नोकर, नोकरानी से कहे कि जिन्हें जो देना था उन्हें वह दे देने के बाद जो बचा हो उसमें से मुझे भिक्षा दो। इस नियम का प्रयोजन यही है कि किसी के भोजन में अन्तराल न पड़े।

संखडि अर्थात् सामूहिक भोज में भिक्षा के लिए जाने का निषेध करते हुए कहा गया है कि इस प्रकार की भिक्षा अनेक दोषों की जननी है। जन्मोत्सव, नामकरणोत्सव आदि के प्रसंग पर होने वाले बृहद्भोज के निमित्त अनेक प्रकार की हिंसा होती है। ऐसे अवसर पर भिक्षा लेने जाने की स्थिति में साधुओं की सुविधा के लिए भी विशेष हिंसा की सम्भावना हो सकती है। अतः संखडि में भिक्षु भिक्षा के लिए न जाय। आगे सूत्रकार ने यह भी बताया है कि जिस दिशा में संखडि होती हो उस दिशा में भी भिक्षु को नहीं जाना चाहिए। संखडि कहाँ-कहाँ होती है? ग्राम, नगर, खेड, कर्बट, मडंब, पट्टण, आकर, द्रोणमुख, नैगम, आश्रम, संनिवेश व राजधानी- इन सब में संखडि होती है। संखडि में भिक्षा के लिए जाने से भयंकर

दोष लगते हैं। उनके विषय में सूत्रकार कहते हैं कि कदाचित वहाँ अधिक खाया जाय अथवा पीया जाय और वमन हो अथवा अपच हो तो रोग होने की संभावना होती है। गृहपति के साथ, गृहपति की स्त्री के साथ, परिव्राजकों के साथ, परिव्राजिकाओं के साथ एकमेव हो जाने पर, मदिरा आदि पीने की परिस्थिति उत्पन्न होने पर ब्रह्मचर्य - भंग का भय रहता है। यह एक विशेष भयंकर दोष है।

भिक्षा के लिये जाते समय :- भिक्षा के लिये जाने वाले भिक्षु को कहा गया है कि अपने सब उपकरण साथ रखकर ही भिक्षा के लिए जाय। एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय भी वैसा ही करे। वर्तमान में एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय इस नियम का पालन-किया जाता है किन्तु भिक्षा के लिए जाते समय वैसा नहीं किया जाता। धीरे - धीरे उपकरणों में वृद्धि होती गई। अतः भिक्षा के समय सब उपकरण साथ में नहीं रखने की नई प्रथा चली हो ऐसा शक्य है।

राजकुलों में :- आगे बताया गया है कि भिक्षु को क्षत्रियों अर्थात् राजाओं के कुलों में, कुराजाओं के कुलों में, राजभृत्यों के कुलों में, राजवंश के कुलों में भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। इससे मालूम होता है कि कुछ राजा एवं राजवंश के लोग भिक्षुओं के साथ असद्व्यवहार करते होंगे अथवा उनके यहाँ का आहार संयम की साधना में विघ्नकर होता होगा।

किसी गाँव में निर्बल वृद्ध भिक्षुओं ने स्थिरवास कर रखा हो अथवा कुछ समय के लिए मासकल्पी भिक्षुओं ने निवास किया हुआ हो और वहाँ ग्रामानुग्राम विचरते हुए अन्य भिक्षु अतिथि के रूप में आये हों जिन्हें देखकर पहले से ही वहाँ रहे हुए भिक्षु यों कहे कि हे श्रमणों ! यह गाँव तो बहुत छोटा है अथवा घर-घर सूतक लगा हुआ है इसलिए आप लोग आस-पास के अमुक गाँव में भिक्षा के लिए जाइए। वहाँ हमारे अमुक सम्बन्धी रहते हैं। आपको उनके यहाँ से दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, तेल जलेबी, श्रीखण्ड, पूड़ी आदि सब कुछ मिलेगा। आपको जो पसन्द हो वह लें। खा-पीकर पात्र साफ कर फिर यहाँ आ जावें। सूत्रकार कहते

है कि भिक्षु को इस प्रकार की भिक्षा प्राप्त नहीं करनी चाहिए।

सम्मिलित सामग्री :- भिक्षा के लिए जाते हुए बीच में खाई, गढ़ आदि आने पर उन्हें लॉघ कर आगे न जाय। इसी प्रकार मार्ग में उन्मत्त सांड, भैंसा, मनुष्य आदि होने पर उस ओर न जाय। भिक्षा के लिए गये हुए जैन भिक्षु आदि को भिक्षा देने वाला गृहपति यदि यों कहे कि हे आयुष्मान् श्रमणों ! मैं अभी विशेष काम में व्यस्त हूँ। मैंने यह सारी भोजन - सामग्री आप सब को दे दी है इसे आप लोग खा लीजिए अथवा आपस में बाँट लीजिए। ऐसी स्थिति में वह भोजन सामग्री जैन भिक्षु स्वीकार न करे। कदाचित् कारणवशात् ऐसी सामग्री स्वीकार करनी पड़े तो ऐसा न समझे कि दाता ने यह सारी सामग्री मुझ अकेले को दे दी है अथवा मेरे लिए ही पर्याप्त है। उसे आपस में बांटते समय अथवा साथ में मिलकर खाते समय किसी प्रकार का पक्षपात अथवा चालाकी न करे। भिक्षा ग्रहण का यह नियम औत्सर्गिक नहीं अपितु आपवादिक है। वृत्तिकार के अनुसार अमुक प्रकार के भिक्षुओं के लिए ही यह नियम है, सबके लिए नहीं।

ग्राह्य जल :- भिक्षु के लिए ग्राह्य पानी के प्रकार ये हैं :- उत्स्वेदिम-पिसी हुई वस्तु को भिगोकर रखा हुआ पानी, संस्वेदिम-तिल आदि बिना पिसी वस्तु को धोकर रखा हुआ पानी, तण्डुलोदक-चावल का धोवन, तिलोदक - तिल का धोवन, तुषोदक - तुष का धोवन, यवोदक - यव का धोवन, आयाम - आचाम्ल - अवश्यान, आरनाल-कांजी, शुद्ध अचित्त-निर्जीव पानी, आम्रपानक - आम का पानक, द्राक्षा का पानी, बिल्व का पानी, अमचूर का पानी, अनार का पानी, खूजर का पानी, नारियल का पानी, केर का पानी, बेर का पानी, आंवले का पानी, इमली का पानी इत्यादि।

अग्राह्य भोजन :- भिक्षु पकाई हुई वस्तु ही भोजन के लिए ले सकता है, कच्ची नहीं।*

*अग्राह्य भोजन के संदर्भ में पंडित बेचरदास जी दोशी ने विस्तार से चर्चा

शय्येषणा :- शय्येषणा नामक द्वितीय प्रकरण में कहा गया है कि जिस स्थान में गृहस्थ सकुटुम्ब रहते हों वहाँ भिक्षु नहीं रह सकता क्योंकि ऐसे स्थान में रहने से अनेक दोष लगते हैं। कई बार ऐसा होता है कि लोगों की इस मान्यता से कि ये श्रमण ब्रह्मचारी होते हैं अतः इनसे उत्पन्न होने वाली सन्तान तेजस्वी होती है, कोई स्त्री अपने पास रहने वाले भिक्षु को कामदेव के पंजे में फँसा देती है जिससे

की है किन्तु वह समग्र चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है। अतः प्रस्तुत आलेख में हम उस अंश को नहीं दे रहे हैं। हमारी दृष्टि में अग्राह्य भोजन के संदर्भ में आचारांग में भोजन की अनौद्देशिकता पर ही अधिक बल दिया गया है। प्राचीन काल में मुनि की भिक्षाचर्या एवं आहारचर्या की चर्चा करते हुए इस पक्ष पर अधिक बल दिया गया था कि भिक्षु जिस भिक्षा को ग्रहण करे वह भिक्षा औद्देशिक नहीं होनी चाहिए क्योंकि औद्देशिक भिक्षा को ग्रहण करने पर कहीं न कहीं उसके अहिंसा महाव्रत पर दोष आता है। यह ज्ञातव्य है कि परवर्ती काल में भोजन की शुद्धता पर भी बल दिया गया और यह कहा गया कि मात्र अनौद्देशिक ही नहीं अपितु ऐसा भोजन जो अचित्त होते हुए भी परिशुद्ध नहीं है, उसे नहीं लेना चाहिए।

भोजन की परिशुद्धि के सम्बन्ध में 22 अभक्ष्यों का विचार किया गया है। आचारांग में भी आमगंध अर्थात् सामिष भोजन लेने का स्पष्ट निषेध है। चाहे दाता ऐसा भोजन देना भी चाहे तो भी भिक्षु यह कहकर उसका स्पष्ट निषेध कर दे कि ऐसा भोजन मेरे लिए अकल्प्य अर्थात् अग्राह्य है। आगमिक व्याख्याओं में यह भी निर्देश है कि मुनि को अचित्त होने पर भी अपरिशुद्ध भोजन इसलिए भी नहीं लेना चाहिए कि उससे गृहस्थ उपासकों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता है। यह भी माना गया है कि अपवाद मार्ग में चाहे किसी परिस्थिति में औद्देशिक आहार लेना पड़े किन्तु अपरिशुद्ध आहार तो कभी नहीं लेना चाहिए।

उसे संयमभ्रष्ट होना पड़ता है। प्रस्तुत प्रकरण में मकान के प्रकार, मकानमालिकों के व्यवसाय, उनके आभूषण, उनके अभ्यंग के साधन, उनके स्नान सम्बन्धी द्रव्य आदि का उल्लेख है। इससे प्राचीन समय के मकानों व सामाजिक व्यवसायों का कुछ परिचय मिल सकता है।

ईर्यापथ :- ईर्यापथ नामक तृतीय अध्ययन में भिक्षुओं के पाद-विहार, नौकारोहण, जल प्रवेश आदि का निरूपण किया गया है। ईर्यापथ शब्द बौद्ध-परम्परा में भी प्रचलित है। तदनुसार स्थान, गमन, निषद्या और शयन इन चार का ईर्यापथ में समावेश होता है। विनयपिटक में एतद्विषयक विस्तृत विवेचन है। विहार करते समय बौद्ध भिक्षु अपनी परम्परा के नियमों के अनुसार तैयार होकर चलता है इसी का नाम ईर्यापथ है। दूसरे शब्दों में अपने समस्त उपकरण साथ में लेकर सावधानीपूर्वक गमन करने, शरीर के अवयव न हिलाने, हाथ न उछालने, पैर न पछाड़ने का नाम ईर्यापथ है। जैन परम्पराभिमत ईर्यापथ के नियमों के अनुसार भिक्षु को वर्षाऋतु में प्रवास नहीं करना चाहिए। जहाँ स्वाध्याय, शौच आदि के लिए उपयुक्त स्थान न हो, संयम की साधना के लिए यथेष्ट उपकरण सुलभ न हों, अन्य श्रमण, ब्राह्मण, याचक आदि बड़ी संख्या में आये हुए हों अथवा आने वाले हों वहाँ भिक्षु को वर्षावास नहीं करना चाहिए। वर्षाऋतु बीत जाने पर व हेमन्त ऋतु आने पर मार्ग निर्दोष हो गये हों- जीवयुक्त न रहे हों तो भिक्षु को विहार कर देना चाहिए। चलते हुए पैर के नीचे कोई जीव जन्तु मालूम पड़े तो पैर को ऊँचा रखकर चलना चाहिए, संकुचित कर चलना चाहिए, टेढ़ा रखकर चलना चाहिए, किसी भी तरह चलकर उस जीव की रक्षा करनी चाहिए। विवेकपूर्वक नीची नजर रखकर सामने चार हाथ भूमि देखते हुए चलना चाहिए। वैदिक परम्परा व बौद्ध परम्परा के भिक्षुओं के लिए भी प्रवास करते समय इसी प्रकार से चलने की प्रक्रिया का विधान है। मार्ग में चोरों के विविध स्थान, म्लेच्छों-बर्बर, शबर, पुलिंद, भील आदि के निवासस्थान आवें तो भिक्षु को

उस ओर विहार नहीं करना चाहिए क्योंकि ये लोग धर्म से अनभिज्ञ होते हैं तथा अकालभोजी, असमय में घूमने वाले, असमय में जगने वाले एवं साधुओं से द्वेष रखने वाले होते हैं। इसी प्रकार भिक्षु राजा-रहित राज्य, गणराज्य (अनेक राजाओं वाला राज्य), अल्पवयस्कराज्य (कम उम्र वाले राजा का राज्य), द्विराज्य (दो राजाओं का संयुक्त राज्य) एवं अशान्त राज्य (एक दूसरे का विरोधी राज्य) की ओर भी विहार न करे क्योंकि ऐसे राज्यों में जाने से संयम की विराधना होने का भय रहता है। जिन गाँवों की दूरी बहुत अधिक हो अर्थात् जहाँ दिन भर चलते रहने पर भी एक गाँव से दूसरे गाँव न पहुँचा जाता हो उस ओर विहार करने का भी निषेध किया गया है। मार्ग में नदी आदि आने पर उसे नाव की सहयता के बिना पार न कर सकने की स्थिति में ही भिक्षु नाव का उपयोग करे, अन्यथा नहीं। पानी में चलते समय अथवा नाव से पानी पार करते समय पूरी सावधानी रखे। यदि दो-चार कोस के घेरे में भी स्थलमार्ग हो तो जलमार्ग से न जाय। नाव में बैठने पर नाविक द्वारा किसी प्रकार सेवा माँगी जाने पर न दे किन्तु मौनपूर्वक ध्यान परायण रहे। कदाचित् नाव में बैठे हुए लोग उसे पकड़ कर पानी में फेंकने लगें तो वह उन्हें कहे कि आप लोग ऐसा न करिये। मैं खुद ही पानी में कूद जाता हूँ। फिर यदि लोग पकड़ कर फेंक दे तो समभावपूर्वक पानी में गिर जाये एवं तैरना आता हो तो शान्ति से तैरते हुए बाहर निकल जाय। विहार करते हुए मार्ग में चोर मिले और भिक्षु से कहे कि ये कपड़े हमें दे दो तो वह उन्हें कपड़े न दे। छीनकर ले जाने की स्थिति में दयनीयता न दिखावे और न किसी प्रकार की शिकायत ही करे।

भाषा प्रयोग :- भाषाजात नामक चतुर्थ अध्ययन में भिक्षु की भाषा का विवेचन है। भाषा के विविध प्रकारों में से किस प्रकार की भाषा का प्रयोग भिक्षु को करना चाहिए, किसके साथ कैसी भाषा बोलनी चाहिए, भाषा - प्रयोग में किन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये - इन सब पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

वस्त्रधारण :- वस्त्रैषणा नामक पंचम प्रकरण में भिक्षु के वस्त्रग्रहण व वस्त्रधारण का विचार है। जो भिक्षु तरूण हो, बलवान् हो, रूग्ण न हो उसे एक

वस्त्र धारण करना चाहिए, दूसरा नहीं। भिक्षुणी को चार संघटियाँ धारण करनी चाहिये जिनमें से एक दो हाथ चौड़ी हो, दो तीन हाथ चौड़ी हों और एक चार हाथ चौड़ी हो। श्रमण किस प्रकार के वस्त्र धारण करे? जंगिय - ऊँट आदि की ऊन से बना हुआ, भंगिय - द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की लार से बना हुआ, साणिय-सनकी छाल से बना हुआ, पोत्तग - ताडपत्र के पत्तों से बना हुआ, खोमिय - कपास का बना हुआ एवं तूलकड - आक आदि की रूई से बना हुआ वस्त्र श्रमण काम में ले सकता है। पतले, सुनहले, चमकते एवं बहुमूल्य वस्त्रों का उपयोग श्रमण के लिये वर्जित है ब्राह्मणों के वस्त्र के उपयोग के विषय में मनुस्मृति (अ. 2, श्लो. 40-41) में एवं बौद्ध श्रमणों के वस्त्रोपयोग के सम्बन्ध में विनयपिटक (पृ. 275) में प्रकाश डाला गया है। ब्राह्मणों के लिए निम्नोक्त छः प्रकार के वस्त्र अनुमत है। : कृष्णमृग, रुरू (मृगविशेष) एवं छाग (बकरा) का चमड़ा, सन, क्षुमा (अलसी) एवं मेष (भेड़) के लोम से बना वस्त्र। बौद्ध श्रमणों के लिए निम्नोक्त छः प्रकार के वस्त्र विहित है :- कौशेय - रेशमी वस्त्र, कंबल, कोजव - लंबे बाल वाला कंबल, क्षौम-अलसी की छाल से बना हुआ वस्त्र, शाण - सन की छाल से बना हुआ वस्त्र, भंग-भंग की छाल से बना हुआ वस्त्र। जैन भिक्षुओं के लिए जंगिय आदि उपर्युक्त छः प्रकार के वस्त्र ग्राह्य हैं। बौद्ध भिक्षुओं के लिए बहुमूल्य वस्त्र न लेने के सम्बन्ध में कोई विशेष नियम नहीं है। जैन श्रमणों के लिए कंबल, कोजव एवं बहुमूल्य वस्त्र के उपयोग का स्पष्ट निषेध है।

पात्रैषणा :- पात्रैषणा नामक षष्ठ अध्ययन में बताया गया है कि तरूण, बलवान् एवं स्वस्थ भिक्षु को केवल एक पात्र रखना चाहिए। यह पात्र अलाबु, काष्ठ अथवा मिट्टी का हो सकता है। बौद्ध श्रमणों के लिए मिट्टी व लोहे के पात्र का उपयोग विहित है, काष्ठादि के पात्र का नहीं।

अवग्रहैषणा :- अवग्रहैषणा नामक सप्तम अध्ययन में अवग्रहविषयक विवेचन है। अवग्रह अर्थात् किसी के स्वामित्व का स्थान। निर्ग्रन्थ भिक्षु किसी स्थान में ठहरने के पूर्व उसके स्वामी की अनिवार्यरूप से अनुमति ले। ऐसा करने पर उसे अदत्तादान-चोरी करने का दोष लगता है।

मलमूलविसर्जन :- द्वितीय चूलिका के उच्चार - प्रस्रवणनिक्षेप नामक दसवें अध्ययन में बताया गया है कि भिक्षु को अपना टट्टी - पेशाब कहाँ व कैसे डालना चाहिए? ग्रन्थ की योजना करने वाले ज्ञानी एवं अनुभवी पुरुष यह जानते थे कि यदि मलमूल उपयुक्त स्थान पर न डाला गया तो लोगों के स्वास्थ्य की हानि होने के साथ ही साथ अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचेगा एवं जीवहिंसा में वृद्धि होगी। जहाँ व जिस प्रकार डालने से किसी भी प्राणी के जीवन की विराधना की आशंका हो वहाँ व उस प्रकार भिक्षु को मलमूत्रादिक नहीं डालना चाहिए।

शब्दश्रवण व रूपदर्शन :- आगे के दो अध्ययनों में बताया गया है कि किसी भी प्रकार के मधुर शब्द सुनने की भावना से अथवा कर्करा शब्द न सुनने की इच्छा से भिक्षु को गमनागमन नहीं करना चाहिए। फिर भी यदि सुनने ही पड़े तो समभावपूर्वक सुनना व सहन करना चाहिए। यही बात मनोहर व अमनोहर रूपादि के विषय में भी है। इन अध्ययनों में सूत्रकार ने विविध प्रकार के शब्दों व रूपों पर प्रकाश डाला है।

परक्रियानिषेध :- इनसे आगे के दो अध्ययनों में भिक्षु के लिए परक्रिया अर्थात् किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसके शरीर पर की जाने वाली किसी भी प्रकार की क्रिया, यथा श्रृंगार, उपचार आदि स्वीकार करने का निषेध किया गया है। इसी प्रकार भिक्षु - भिक्षु के बीच की अथवा भिक्षुणी-भिक्षुणी के बीच की परक्रिया भी निषिद्ध है।

महावीर-चरित :- भावना नामक तृतीय चूलिका में भगवान् महावीर का चरित्र है। इसमें भगवान का स्वर्गच्यवन, गर्भापहार, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान एवं निर्वाण वर्णित है। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में भारतवर्ष के दक्षिण ब्राह्मणकुंडपुर ग्राम में भगवान स्वर्ग से मृत्युलोक में आये। तदनन्तर भगवान के हितानुकम्पक देव ने उनके गर्भ को आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में उत्तर - क्षत्रियकुंडपुर ग्राम में रहने वाले ज्ञातक्षत्रिय काश्यपगोत्रीय सिद्धार्थ की वासिष्ठगोत्रीया त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि से बदला और त्रिशला के गर्भ को दक्षिण ब्राह्मणकुण्डपुर ग्राम में रहने वाली जालंधर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की

कुक्षि में बदला। उस समय महावीर तीन ज्ञानयुक्त थे। नौ महीने व साढ़े सात दिन-रात बीतने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में भगवान् का जन्म हुआ। जिस रात्रि में भगवान पैदा हुए उस रात्रि में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देव व देवियाँ उनके जन्मस्थान पर आये। चारों ओर दिव्य प्रकाश फैल गया। देवों ने अमृत की तथा अन्य सुगन्धित पदार्थों व रत्नों की वर्षा की। भगवान् का सूतिकर्म देव - देवियों ने सम्पन्न किया। भगवान् के त्रिशला के गर्भ में आने के बाद सिद्धार्थ का घर धन, सुवर्ण आदि से बढ़ने लगा। अतः माता-पिता ने जातिभोजन कराकर खूब धूमधाम के साथ भगवान् का वर्धमान नाम रखा। भगवान् पाँच प्रकार के अर्थात् शब्द, स्पर्श, रस, रूप व गन्धमय कामभोगों का भोग करते हुए रहने लगे। भगवान् के तीन नाम थे, वर्धमान, श्रमण व महावीर। इनके पिता के भी तीन नाम थे : सिद्धार्थ, श्रेयांस व जसंस। माता के भी तीन नाम थे : त्रिशला, विदेहदत्ता व प्रियकारिणी। इनके पितृव्य अर्थात् चाचा सुपार्व, ज्येष्ठ भ्राता का नाम नन्दिवर्धन, ज्येष्ठ भगिनी का नाम सुदर्शना व भार्या का नाम यशोदा था। इनकी पुत्री के दो नाम थे : अनवद्या व प्रियदर्शना³¹ इनकी दोहित्री के भी दो नाम थे : शेषवती व यशोमती। इनके माता, पिता पार्ष्वापत्य अर्थात् पार्ष्वनाथ के अनुयाथी थे। वे दोनों श्रावक धर्म का पालन करते थे। महावीर तीस वर्ष तक सागारावस्था में रहकर माता-पिता के स्वर्गवास के बाद अपनी प्रतिज्ञा पूरी होने पर, समस्त रिद्धिसिद्धि का त्याग कर, अपनी संपत्ति को लोगों में बाँट कर हेमन्त ऋतु की मृगशीर्ष - अगहन कृष्णा दशमी के दिन हस्तोत्तरा नक्षत्र में अनगार वृत्ति वाले हुए। उस समय लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान् महावीर से कहा कि भगवन् ! समस्त जीवों के हितरूप तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये। बाद में चारों प्रकार के देवों ने उनका दीक्षा-महोत्सव किया। उन्हें शरीर पर व शरीर के नीचे के भाग पर फूँक मारते ही उड़ जाय ऐसा पारदर्शक हंसलक्षण वस्त्र पहनाया, आभूषण पहनाये और पालकी में बैठाकर अभिनिष्क्रमण - उत्सव किया। भगवान् पालकी में सिंहासन पर बैठे। उनके दोनों ओर शक्र और ईशान इन्द्र खड़े-खड़े चँवर डूलाते थे। पालकी के अग्रभाग अर्थात् पूर्वभाग को सूरों ने, दक्षिणभाग को असुरों ने, पश्चिम भाग को गरूड़ों ने एवं

उत्तरभाग को नागों ने उठाया। उत्तरक्षत्रियकुण्डपुर के बीचोबीच होते हुए भगवान् ज्ञातखण्ड नामक उद्यान में आये। पालकी से उतर सारे आभूषण निकाल दिये। बाद में भगवान् के पास घूटनों के बल बैठे हुए वैश्रमणी देवों ने हंसलक्षण कपड़े में वे आभूषण ले लिये। तदन्तर भगवान् ने अपने दाहिने हाथ से सिर को दाहिनी ओर के व बाये हाथ से दायी ओर के बालों को लोंच किया। इन्द्र ने भगवान् के पास घुटनों के बल बैठकर वज्रमय थाल में वे बाल ले लिये व भगवान् की अनुमति से उन्हें क्षीरसमुद्र में डाल दिये। बाद में भगवान् ने सिद्धों को नमस्कार कर “सर्वं मे अकरणिज्जं पाव कम्म” अर्थात् “मेरे लिए सब प्रकार का पापकर्म अकरणीय है”, इस प्रकार का सामायिकचारित्र स्वीकार किया। जिस समय भगवान् ने यह चारित्र स्वीकार किया उस समय देवपरिषद् एवं मनुष्यपरिषद् चित्रवत् स्थिर एवं शान्त हो गई। इन्द्र की आज्ञा से बजने वाले दिव्य बाजे शान्त हो गये। भगवान् द्वारा उच्चारित चारित्रग्रहण के शब्द सबने शान्त भाव से सुने। क्षायोपशमिक चारित्र स्वीकार करने वाले भगवान् को मनःपर्यायज्ञान उत्पन्न हुआ। इस ज्ञानद्वारा वे ढाई द्वीप में रहे हुए व्यक्त मनवाले समस्त पंचेन्द्रिय प्राणियों के मनोगत भावों को जानने लगे। बाद में दीक्षित हुए भगवान् को उनके मित्रजनों, ज्ञातिजनों, स्वजनों एवं सम्बन्धीजनों ने विदाई दी। विदाई लेने के बाद भगवान् ने यह प्रतिज्ञा की कि आज से बारह वर्ष पर्यन्त शरीर की चिन्ता न करते हुए देव, मानव, पशु एवं पक्षीकृत समस्त उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करूँगा।, क्षमापूर्वक सहन करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा कर वे मुहूर्त दिवस शेष रहने पर उत्तरक्षत्रियकुण्डपुर से रवाना होकर कम्मारग्राम पहुँचे। तत्पश्चात् शरीर की किसी प्रकार की परवाह न करते हुए महावीर उत्तम संयम, तप, ब्रह्मचर्य, क्षमा, त्याग एवं सन्तोषपूर्वक पाँच समिति व तीन गुप्ति का पालन करते हुए, अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे एवं आने वाले उपसर्गों को शान्तिपूर्वक प्रसन्न चित्त से सहन करने लगे। इस प्रकार भगवान् ने बाहर वर्ष व्यतीत किये। तेरहवाँ वर्ष लगने पर वैशाख शुक्ला दशमी के दिन छाया के पूर्व दिशा की ओर मुड़ने पर अर्थात् अपरान्ह में जिस समय महावीर जंभिग्राम के बाहर उज्जुवालिया नामक नदी के उत्तरी किनारे पर श्यामाक नामक गृहपति के खेत में व्यावृत्त नामक

चैत्य के समीप गोदोहासन से बैठे हुए आतापना ले रहे थे, दो उपवास धारण किये हुए थे, सिर नीचे रख कर दोनों घुटने ऊँचे किये हुए ध्यान में लीन थे उस समय उन्हें अनन्त प्रतिपूर्ण - समग्र - निरावरण केवलज्ञान - दर्शन हुआ।

अब भगवान् अर्हत् - जिन हुए, केवली-सर्वज्ञ-सर्वभावदर्शी हुए। देव, मनुष्य एवं असुरलोक पर्यायों के ज्ञाता हुए। आगमन, गमन, स्थिति, च्यवन, उपपात, प्रकट, गुप्त, कथित, अकथित आदि समस्त क्रियाओं व भावों के द्रष्टा हुए, ज्ञाता हुए। जिस समय भगवान् केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हुए उस समय भवनपति आदि चारों प्रकार के देवों व देवियों ने आकर भारी उत्सव किया।

भगवान् ने अपनी आत्मा तथा लोक को सम्पूर्णतया देखकर पहले देवों को और बाद में मनुष्यों को धर्मोपदेश दिया। बाद में गोतम आदि श्रमण-निर्ग्रहों को भावनायुक्त पाँच महाव्रतों तथा छः जीवनिकायों का स्वरूप समझाया। भावना नामक प्रस्तुत चूलिका में इन पाँच महाव्रतों का स्वरूप विस्तारपूर्वक समझाया गया है। साथ ही प्रत्येक व्रत की पाँच - पाँच भावनाओं का स्वरूप भी बताया गया है।

ममत्वमुक्ति :- अन्त में विमुक्ति नामक चतुर्थ चूलिका में ममत्वमूलक आरम्भ और परिग्रह के फल की मीमांसा करते हुए भिक्षु को उनसे दूर रहने को कहा गया है। उसे पर्वत की भाँति निश्चल व दृढ़ रह कर सर्प की केंचूली की भाँति ममत्व को उतार कर फेंक देना चाहिए।

वीतरागता एवं सर्वज्ञता :- पातंजल योगसूत्र में यह बताया गया है कि अमुक भूमिका पर पहुँचे हुए साधक को केवलज्ञान होता है और वह उस ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों एवं समस्त घटनाओं को जान लेता है। इस परिभाषा के अनुसार भगवान् महावीर को भी केवली, सर्वज्ञ अथवा सर्वदर्शी कहा जा सकता है। किन्तु साधक -जीवन में प्रधानता एवं महत्ता केवलज्ञान - केवलदर्शन की नहीं है अपितु वीतरागता, वीतमोहता, निरास्रवता, निष्कषायता की है। वीतरागता की दृष्टि से ही आचार्य हरिभद्र ने कपिल और सुगत को भी सर्वज्ञ के रूप में स्वीकार किया है। भगवान् महावीर को ही सर्वज्ञ मानना व किसी अन्य को सर्वज्ञ न मानना ठीक नहीं। जिसमें वीतरागता

है वह सर्वज्ञ है- उसका ज्ञान निर्दोष है। जिसमें सरागता है वह अल्पज्ञ है - उसका ज्ञान सद्दोष है।

सन्दर्भ :-

1. (अ) प्रथम श्रुतस्कन्ध - W. Schubring, Leipzig, 1910, जैन साहित्य संशोधक समिति; पूना, सन् 1924
- (आ) निर्युक्ति तथा शीलांक, जिनहंस व पार्वचन्द्र की टीकाओं के साथ, धनपत सिंह, कलकत्ता, वि.सं. 1936
- (ई) निर्युक्ति व शीलांक की टीका के साथ - आगमोदय समिति, सूरत, वि.सं. 1972-1973
- (ई) अंग्रेजी अनुवाद - H. Jacobi, S.B.E. Series; Vol. 22, Oxford 1884.
- (उ) मूल - H. Jacobi, Pali Text Society, London 1882.
- (ऊ) प्रथम श्रुतस्कन्ध का जर्मन अनुवाद - Worte Mahavira, W. Schuring, Leipzig; 1926.
- (ऋ) गुजराती अनुवाद - रवजीभाई देवराज, जैन प्रिंटिंग प्रेस, अहमदाबाद, सन् 1902 व 1906
- (ए) गुजराती छायानुवाद - गोपालदास जीवाभाई पटेल, नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद, वि.सं. 1992
- (ऐ) हिन्दी अनुवाद सहित - अमोलकऋषि, हैदराबाद, वी.सं. 2446
- (ओ) प्रथम श्रुतस्कन्ध का गुजराती अनुवाद - मुनि सौभाग्यचन्द्र (संतबाल) महावीर साहित्य प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, सन् 1936
- (औ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ - मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन 1957,

- (अं) हिन्दी छायानुवाद – गोपालदास जीवाभाई पटेल, श्वे.स्था. जैन कॉन्फ्रेंस, बम्बई, वि.सं. 1994
- (अः) प्रथम श्रुतस्कन्ध का बंगाली अनुवाद-हीराकुमारी, जैन श्वे. तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, वि.सं. 2009
2. सप्तमे त्वयम्- संयमादिगुणयुक्तस्य कदाचिद् मोहसमुत्थाः परीषहा उपसर्गा वा प्रादुर्भवेयुः ते सम्यक् सोढव्याः - पृ. 9
 3. मूल में सेज्या व जिज्जा शब्द है। इसका संस्कृत रूप “सद्या” मानना विशेष उचित होगा। निषद्या और सद्या ये दोनों समानार्थक शब्द हैं तथा सदन, सद्म आदि शब्द वसति-निवास-स्थान के सूचक हैं परन्तु प्राचीन लोगों ने सेज्जा व सिज्जा का संस्कृत रूप “शय्या” स्वीकार किया है। हेमचन्द्र जैसे प्रखर प्रतिभाशाली वैयाकरण ने भी “शय्या का “सेज्जा” बनाने का नियम दिया है। सदन, सद्म और सद्या ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं।
 4. आगमों को पुस्तकारूढ करने वाले आचार्य का नाम देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण है। अमुक गीतार्थ पुरुष को “गणी” और “क्षमाश्रमण” कहा जाता है। जैसे विशेषावश्यकभाष्य के प्रणेता जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण हैं वैसे ही उच्चकोटि के गीतार्थ देवर्द्धि भी गणिक्षमाश्रमण हैं। इनकी गुरुपरंपरा का क्रम कल्पसूत्र की स्थविरावली में दिया हुआ है। इनको किसी भी ग्रन्थकार ने वाचकवंश में नहीं गिनाया। अतः वाचकों से ये गणिक्षमाश्रमण अलग मालूम होते हैं और वाचकवंश की परम्परा अलग मालूम होती है। नन्दिसूत्र के प्रणेता देववाचक नाम के आचार्य हैं। उनकी गुरु परम्परा नन्दिसूत्र की स्थविरावली में दी है और वे स्पष्टरूप से वाचकवंश की परंपरा में है अतः देववाचक और देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण अलग-अलग आचार्य के नाम हैं तथा किसी प्रकार से कदाचित गणिक्षमाश्रमण पद और वाचक पद भिन्न नहीं है। ऐसा मानने पर भी इन दोनों आचार्यों की

गुरूपरम्परा भी एक सी नहीं मालूम होती। इसलिए भी ये दोनों भिन्न-भिन्न आचार्य हैं। प्रश्नपद्धति नामक छोटे-से ग्रन्थ में लिखा है कि नंदिस्त्र देववाचक ने बनाया है और पाठों को बारबार न लिखना पड़े इसलिए देववाचककृत नन्दिस्त्र की साक्षी पुस्तकारूढ़ करते समय देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण ने दी है। ये दोनों आचार्य भिन्न-भिन्न होने पर ही प्रश्नपद्धति का यह उल्लेख संगत हो सकता है। प्रश्नपद्धति के कर्ता के विचार से ये दोनों एक ही होते तो वे ऐसा लिखते कि नंदिस्त्र देववाचक की कृति है और अपनी ही कृति की साक्षी देवर्द्धि ने दी है परन्तु उन्होंने ऐसा न लिखकर ये दोनों भिन्न-भिन्न हों, इस प्रकार निर्देश किया है। प्रश्नपद्धति के कर्ता मुनि हरिश्चन्द्र हैं जो अपने को नवांगीवृत्तिकार या अभयदेवसूरि के शिष्य कहते हैं।

- देखो प्रश्नपद्धति, पृ. 2

5. "पतेतपशोमानी" नामक प्रकरण।

6. मनुस्मृति, अ. 3, श्लो. 68

7. कृषि साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।
भूमि भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्॥

- मनुस्मृति, अ. 10, श्लोक. 84

8. अ. 4, श्लो. 201-2.

9. अ. 12, श्लो. 16; अ. 4, श्लो. 19

10. सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्चते - अ. 24, श्लो. 25

11. अ. 17, श्लो. 5-6, 14, 16-7

12. देखिये - श्री लक्ष्मणशास्त्री जोशी लिखित वैदिक संस्कृति का इतिहास (मराठी), पृ. 176

13. अन्य विशेष - साँवा

14. छान्दोग्य - तृतीय अध्याय, चौदहवाँ खण्ड ; आत्मोपनिषद् - प्रथम कण्डिका; नारायणोपनिषद् - श्लो. 71

15. पृ. 253-255
16. मूलशब्द "पायपुंछण" है। प्राकृत भाषा में "पुंछ" धातु परिमार्जन अर्थ में आता है। देखिए - प्राकृत व्याकरण, 8.4. 104, संस्कृत भाषा का "मृज्" धातु और प्राकृत भाषा का "पुंछ" धातु समानार्थक हैं। अतः "पायपुंछण" शब्द का संस्कृत रूपान्तर "पादमार्जन" हो सकता है। जैन परम्परा में "पुजंगी" नाम का एक छोटा सा उपकरण प्रसिद्ध है। इसका सम्बन्ध भी "पुंछ" धातु से है और यह उपकरण परिमार्जन के लिए ही उपयुक्त होता है। "अंगोछा" शब्द का सम्बन्ध भी "अंगपुंछ" शब्द के साथ है। "पोंछना" क्रियापद इस "पुंछ" धातु से ही सम्बन्ध रखता है - पोंछना माने परिमार्जन करना।
17. आचारांग, 1. 3. 3
18. वही 1. 4. 4
19. प्रकरण 2, श्लोक 6
20. आचारांग, 1.5.6
21. केनोपनिषद्, ख. 1, श्लो. 3
22. कठोपनिषद्, अ. 1, श्लो. 14
23. वृहदारण्यक, ब्राह्मण 8, श्लोक 8
24. माण्डुक्योपनिषद्, श्लोक 7
25. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली 2, अनुवाक 4।
26. ब्रह्मविद्योपनिषद्, श्लोक 81-91।
27. आचारांग, 1.6.3।
28. अवेस्ता के लिए देखिए - गाथाओं पर नवो प्रकाश, पृ. 448, 462, 464, 823
वेद के लिए देखिए - ऋग्वेद मंडल 2, सूक्त 23, मंत्र 9 तथा सूक्त 11, मंत्र 1
29. जैन शासन के क्रियाकांड में परिवर्तन करने वाले और स्थानकवासी

परम्परा के प्रवर्तक प्रधान पुरुष श्री लोकाशाह भी मुहपत्ती नहीं बांधते थे। बांधने की प्रथा बाद में चली है। - देखिए गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति-ग्रन्थ में पं. दलसुखभाई मालवणिया का लेख "लोकाशाह और उनकी विचारधारा"।

30. विशिष्ट वेषधारी भिखारी।

31. ज्येष्ठ भगिनी व पुत्री के नामों के कुछ गड़बड़ी हुई मालूम होती है। विशेषावश्यकभाष्यकार ने (गाथा 2307) महावीर की पुत्री का नाम ज्येष्ठा सुदर्शना व अनवद्यांगी बताया है जबकि आचारांग में महावीर की बहिन का नाम सुदर्शना तथा पुत्री का नाम अनवद्या व प्रियदर्शना बताया गया है।

आचारांग के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र; एक विश्लेषण

□ प्रो. सुरेन्द्र वर्मा

देखो और समझो (पासं)

महावीर का समस्त दर्शन अमूर्त चिंतन का परिणाम न होकर सहज प्रत्यक्षीकरण पर आधारित है। भगवान महावीर कभी यह नहीं कहते हैं कि मैंने जो कुछ कहा है उसे आँख बंद कर सही मान ही लिया जाए। वे बार-बार हमें संसार की गतिविधियों को स्वयं देखने के लिए कहते हैं। (देखने के लिए प्राकृत भाषा में पास शब्द का प्रयोग हुआ है जो वस्तुतः (संस्कृत पश्य धातु से आया है।) इस प्रकार वे हमें स्वतंत्र रूप से अपनी अनुभूतियों के द्वारा उन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए प्रेरित करते हैं जो स्वयं महावीर ने अपने अनुभव और प्रत्यक्ष से फलित किए थे।

महावीर का यह आग्रह कि हम संसार की गतिविधियों को स्वयं ही देखें, एक ओर जहाँ स्वतंत्र चिंतन पर बल देता है वहीं दूसरी ओर दार्शनिक विचार को केवल अमूर्त सोच और किताबी ज्ञान से मुक्त करता है।

महावीर हमें आमंत्रित करते हैं कि हम देखें कि इस संसार में सभी जीव एक दूसरे को दुःख पहुँचाते हैं, इससे समस्त प्राणी जगत् एक आतंकित स्थिति में जीने के लिए अभिशप्त है, वे कहते हैं :-

पाणा पाणे किलेसति।

पास लोए महब्भयं।

(पृष्ठ 230/13-14)

‘पाणा पाणे किलेसति’ - यह एक तथ्य है कि प्राणी, प्राणियों को क्लेश पहुँचाते हैं, लेकिन महावीर यहाँ जिस बात की ओर हमें विशेषकर संकेत करते हैं वह यह है कि प्राणियों का एक-दूसरे के प्रति ऐसा व्यवहार संसार में महाभय व्याप्त करता है उनकी चिंता है कि आतंक से आखिर प्राणियों को किस प्रकार छुटकारा प्राप्त कराया जाए। जहाँ एक मनुष्य का संबंध है, एक विचारशील प्राणी होने के नाते, उससे तो यह अपेक्षा की ही जा सकती है कि वह कम से कम इस आतंक

का कारण न बने; लेकिन ऐसा वस्तुतः है नहीं, बल्कि इस महाभय को प्रश्रय देने में मनुष्य का योगदान शायद सबसे अधिक ही हो। महावीर संकेत करते हैं कि तनिक आतुर व्यक्तियों को देखो; वे कहीं भी क्यों न हों, हर जगह प्राणियों को परिताप देने से बाज नहीं आते :-

तत्थ-तत्थ पुढा पास, आतुरा परितावेत्ति। (8/15)

ये आतुर लोग आखिर हैं कौन? सामान्यतः हम सभी तो आतुर हैं। वह बीमार मानसिकता जो व्यक्ति को अधीर बनाती है वस्तुतः उसकी देहासक्ति है। हम आतुर मनुष्य कहें, आसक्त कहें- बात एक ही है। महावीर कहते हैं, इसलिए आसक्ति को देखो। इसका स्वरूप ही ऐसा है कि वह हमारे शांति के मार्ग में सदैव रोड़ा बनती है, फिर भी हम उसकी ओर खिंचे ही चले जाते हैं-

तम्हा संगं ति पासह।

गंथेहिं गढिया णरा, विसण्णा कामविप्पिया।

(252/103-109)

महावीर हमें यह देखने के लिए निर्देश देते हैं कि वे लोग जो देहासक्त हैं, पूरी तरह से पराभूत हैं। ऐसे लोग बार-बार दुःख को प्राप्त होते हैं। वस्तुतः वे बताते हैं, इस जगत् में जितने लोग भी हिंसा-जीवी हैं, इसी आसक्ति कारण से हिंसा जीवी हैं। देह और दैहिक विषयों के प्रति व्यक्ति का लगाव ही हिंसा का कारण है :-

पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे।

एत्थ फासे पुणो पुणो।

आवंती केआवंती लोर्यंसि आरंभजीवी,

एएसु चेव आरंभजीवी।

(178/13-15)

महावीर कहते हैं कि संसार में व्याप्त आतंक और महाभय जिस व्यक्ति ने देख और समझ लिया है, वही हिंसा से निवृत्त होने में सफल हो सकता है (पृष्ठ

43/145,146)। आतुर लोग जहाँ स्थान-स्थान पर परिताप देते हैं, वहीं दूसरी ओर देखो कि साधुजन संयम का जीवन जीते हैं। लज्जमाण पुढा पास! (8/17)। ऐसे शांत और धीर व्यक्ति देहासक्ति से मुक्त होते हैं - इह संति गया दविया णावकंखंति (42/149)

संक्षेप में महावीर हमें आमंत्रित करते हैं कि हम प्रत्यक्षतः देखें कि संसार में हिंसा के कारण जो आतंक व्याप्त है उसका मूल देहासक्ति में है और इस आसक्ति को समाप्त करने के लिए संयम आवश्यक है। वे इस संदर्भ में साधुओं को लक्षित करते हैं और कहते हैं कि देखो, उन्होंने किस प्रकार हिंसा से विरत होकर संयम को अपनाया है। ऐसे लोग ही हमारे सच्चे मार्गदर्शक हैं।

क्षण को पहचानो और प्रमाद न करो

महावीर कहते हैं कि हे पंडित! तू क्षण को जान-खणं जाणाहि पंडिए (74/24)।

यह जैन दर्शन का एक बहुत महत्वपूर्ण सूत्र है। प्रश्न किया जा सकता है कि यहाँ “क्षण” से क्या आशय है? “क्षण” मनुष्य की यथार्थ स्थिति की ओर संकेत करता है जो कम से कम संतोषजनक तो नहीं ही कही जा सकती। यदि हम अपनी ओर संसार की वास्तविक दशा की ओर गौर करें तो हमें स्पष्ट समझ में आ जाएगा कि :-

1. यह संसार परिवर्तनशील है और यह सदैव एक सा नहीं बना रहता। आज व्यक्ति यौवन और शक्ति से भरपूर है किन्तु कल यही व्यक्ति वृद्ध और अशक्त हो जाएगा। आयु बीतती चली जा रही है और उसके साथ-साथ यौवन भी ढलता जा रहा है- वयो उच्चेइ जोव्वणं च (72/12)
2. दुःख और सुख व्यक्ति का अपना-अपना होता है, इसे भी समझ लेना चाहिए। जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, (74/22)। अतः यह

‘सोचना कि कोई भी अन्य व्यक्ति/परिजन विपरीत स्थितियों में व्यक्ति का सहायक हो सकता है, केवल भ्रम मात्र है न तो हम दूसरों को त्राण या शरण दे सकते हैं और न ही दूसरे हमें त्राण या शरण दे सकते हैं।

नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा।

तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा।

(72/8)

3. परिस्थितियाँ बहुत कठिन हैं। व्यक्ति दिन-ब-दिन दुर्बल होता जा रहा है, उसे किसी श्री क्षण मृत्यु घेर सकती है। बहुत ही कलात्मक भाषा में कहा गया है- णत्थि कालस्स णागमो (82/66)- मृत्यु के लिए कोई भी क्षण अनवसर नहीं है। कोई भी व्यक्ति अपने साधनों को जुटाता है और समझता है कि यह अर्थाज्जन उसे सुरक्षा प्रदान कर सकेगा। वह धन एकत्रित करने के लिए स्वयं चोर और लुटेरा बन जाता है किन्तु एक समय ऐसा भी आता है कि चोर और लुटेरे ही उसका धन छीन ले जाते हैं और इस प्रकार सुख का अर्थी वस्तुतः दुःख को प्राप्त होता है (84/69)। संसार की इस निःसरता को समझना ही ‘क्षण’ को पहचानना है।

महावीर कहते हैं कि धैर्यवान पुरुषों को अवसर की समीक्षा करना चाहिए और मुहूर्तभर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। अंतरं च खलु इमं संपेहाए-धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए। (72/11) वस्तुतः जिस व्यक्ति ने क्षण को पहचान लिया है वह एक पल का भी विलम्ब किए बिना अपनी जन्म-मरण की स्थिति से मुक्ति के लिए प्रयास आरम्भ कर ही देगा। कौशल इसी में है इसीलिए महावीर कहते हैं:- कुशल को प्रमाद से क्या प्रयोजन। अलं कुसलस्स पमाएणं (88/95)। वे निर्देश देते हैं कि उठो और प्रमाद न करो- उट्टिए णो पमायए। (182/23)

‘प्रमाद’ किसे कहते हैं? प्रमाद न करने का क्या अर्थ है? जो पराक्रम करता

है, वह प्रमाद नहीं करता। महावीर पराक्रम के लिए प्रेरित करते हैं, प्रमाद के लिए नहीं। महावीर के दर्शन में पराक्रम का अर्थ है- क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों को शांत कर देना, शब्द और रूप में आसक्ति न रखना तथा पूरी तरह अप्रमत्त हो जाना (देखें, 338/15)। वैसे भी प्रमाद छः प्रकार के बताए गए है :-

- | | |
|----------------------------------|--------------------|
| 1. मद्य प्रमाद | 2. निद्रा-प्रमाद |
| 3. विषय प्रमाद | 4. कषाय प्रमाद |
| 5. द्युत-प्रमाद (प्रतिलेखना) तथा | 6. निरीक्षण प्रमाद |
- (स्थानांगसूत्र, 6-44)

इन सभी प्रकार के प्रमादों से बचना ही पराक्रम है और यह पराक्रम व्यक्ति को स्वयं ही दिखाना है इसके लिए उसे किसी अन्य से कोई सहायता प्राप्त होने वाली नहीं है।

प्रमाद न करने का एक अर्थ यह भी है कि व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिए स्वयं ही प्रयत्न करे। पुरुषार्थ और पराक्रम वस्तुतः मानव-प्रयत्न में है। जैनदर्शन में किसी भी अतिप्राकृतिक और दैवी शक्ति, जिसे हम प्रायः "ईश्वर" कहते हैं, में विश्वास नहीं किया गया है। मनुष्य का एकमात्र मित्र मनुष्य स्वयं ही है। मनुष्य अकेला आया है। अकेला ही जाएगा। उसे किसी अन्य से- ईश्वर से भी- कोई सहायता प्राप्त होने वाली नहीं है। किसी मित्र या सहायक को अपने से बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है महावीर कहते हैं - पुरिसा! तुममेव तुमं मित्त, किं बहिया मित्तमिच्छसि? (136/62) अतः उठो और प्रमाद न करो! अनन्य और परम पद प्राप्त करने हेतु क्षणभर प्रमाद न करो-अणण परमं नाणी, णो पमाए कयाई वि (134/56)।

जब तक कान सुनते हैं, आँखे देखती हैं, नाक सूँघ सकती है और जीभ रस प्राप्त कर सकती है, जब तक स्पर्श की अनुभूति अक्षुण्य है - इन नाना रूप इन्द्रिय ज्ञान के रहते पुरुष के लिए यह अपने ही हित में है कि वह सम्यक् अनुश्रमिलन करे (74/75)। बाद में यह अवसर नहीं आएगा। हे पंडित ! तू क्षण को जान और प्रमाद न कर।

मेधावी-बनाम मंदमति – आयारो में मनुष्य के दो स्पष्ट प्रारूप बताए गए हैं- मेधावी और मूढ़ या मंदमति।

प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है मेधावी और मूढ़ मानव बुद्धि का एक माप है जिसके एक छोर पर 'मेधावी' और दूसरे छोर पर 'मंद-मति' है लेकिन वस्तुतः ऐसा है नहीं। यह मानव बुद्धि का पैमाना न होकर व्यक्तियों के दो वर्ग हैं। मेधावी व्यक्तियों की कुछ नैतिक-चारित्रिक विशेषताएँ हैं जो मंदमति व्यक्तियों से भिन्न और उनकी विरोधी हैं।

मंदमति लोग मोह से आवृत्त होते हैं। ये आसक्ति में फंसे हुए लोग हैं-मंदा मोहेण पाउडा (736/30)। दूसरी ओर मेधावी पुरुष मोह और आसक्ति को अपने पास फटकने नहीं देते। वे इन सब से निवृत्त होते हैं। अरइं आउट्टे से मेधावी (73/27)- जो अरति का-चैतसिक उद्वेगों का- निवर्तन करता है, वही मेधावी है। आसक्ति मनुष्य को बेचैन करती है, अशांत करती है उसे व्यथित और उद्वेलित करती है किंतु मेधावी पुरुष वह है जो न चिंतित होता है न व्यथित या उद्वेलित। वह सभी उद्वेगों को अपने से बाहर निकाल फेंकता है। उनसे निवृत्ति पा लेता है।

“अरति” (अरई) का अर्थ जहाँ एक ओर बेचैनी और अशांति से है, वहीं दूसरी ओर, विरक्ति या राग के अभाव को भी “अरति” कहा गया है। किंतु “अरइं आउट्टे” राग के अभाव से निवृत्ति नहीं है, वह तो स्वयं राग से असंयम से निवृत्ति है। संयम में रति और असंयम में अरति करने से चैतन्य और आनंद का विकास होता है। संयम में अरति और असंयम में रति करने से उसका हास होता है। “अरइं आउट्टे” संयम से होने वाली “अरति” (विरक्ति) का निवर्तन है (पृ. 106)। असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।

जो व्यक्ति मंदमति है, सतत मूढ़ है वह धर्म को नहीं समझता। सततं मूढ़े धम्मं णभिजाणइ (88/63)। दूसरी ओर जो व्यक्ति आज्ञा (धर्म) में श्रद्धा रखता है, वह मेधावी है- सड्ढी आणाए मेधावी (140/80)। मेधावी सदा धर्म का पालन करता है और निर्देश की कभी अतिक्रमण नहीं करता। णिद्देसं णतिवट्टेज्जा मेधावी (202/115)।

आयारो में मेधावी, धीर, वीर आदि शब्द लगभग समानार्थक हैं। जो मेधावी नहीं है, वह मंदमति है; जो धीर नहीं है, वह आतुर है; जो वीर नहीं है, वह कायर है। संसार में दो प्रकार के व्यक्ति हैं। एक वर्ग मेधावी, धीर और वीर पुरुषों का है और दूसरा मंदमति, आतुर और कायर लोगों का है। जो मेधावी हैं वे धीर भी हैं। जो मंदमति हैं वे आतुर और कायर भी हैं।

वीर पुरुष कौन है? वीर पुरुष हिंसा में लिप्त नहीं होता— ण लिप्पई छणपएण वीरे (106/180)। मेधावी अहिंसा के मर्म को जानता है— से मेहावी अणुग्घायणास्स खयण्णे (106/181)। इसके विपरीत कायर मनुष्य हिंसक होते हैं; विषयों से पीड़ित, विनाश करने वाले भक्षक और क्रूर होते हैं। हिंसा की अपेक्षा से कायर दूबल नहीं है और न ही वीर बलवान है। वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवन्ति— विषयों में लिप्त कायर व्यक्ति “लूषक” (हिंसक, भक्षक, प्रकृति से क्रूर) होता है।

धीर पुरुष धैर्यवान है। आतुर अधीर हैं। आतुर-लोग हर जगह प्राणियों को दुःख और परिपात देते हैं, इसे स्पष्ट देखा जा सकता है— तत्थ-तत्थ पुढो पास, आतुरा परितावेन्ति (8/15)। इसका कारण है, आतुर मनुष्य आसत्ति से ग्रस्त होता है। यही आसक्ति मनुष्य को आशा/निराशा के झूले में झुलाती है और उसे स्वेच्छाचारी बनाती है। किंतु धीर पुरुष वह है जो इस आशा और स्वच्छंदता को छोड़ देता है— आसं च छंदं च विगिंच धीरे (88/86)।

आयारो जब मनुष्य के दो विपरीत गुण-धर्मी प्ररुपों का उल्लेख करता है तो क्या वह इनको पूर्णतः एकांतिक मानता है? क्या मेधावी और मंदमति पूर्णतः मंदमति ही रहता है? स्पष्टतः ‘मेधावी’ और ‘मूढ’ एकांतिक प्ररुप नहीं हैं। आयारो में स्पष्ट दिखाया गया है कि मेधावी पुरुष भी किस प्रकार च्युत होकर पुनः मंदमति या मूढ हो जाते हैं। उत्तरोत्तर आने वाले दुःसह परीषहों को सहन न कर पाने के कारण (234/32) वे प्रयत्न द्वारा अर्जित किया हुआ अपना मुनि-पद छोड़ देते हैं। इसी प्रकार मेधावी आरंभ से ही मेधावी नहीं होते। वे उत्तरोत्तर ही इस दिशा की ओर अग्रसर होते हैं।

वस्तुतः मेधावी पुरुष ही मुनि है। मुनि का अर्थ है ज्ञानी। आचार्यो के अनुसार जो पुरुष अपनी प्रज्ञा से लोक (संसार) को जानता है वह मुनि कहलाता है। ऐसा व्यक्ति धर्मविद् और ऋजु होता है- पण्णाणेहिं परियाणह लोयं मुणीति वच्चे, धम्मविउत्ति अंजू (122/5) मुनि को "कुराल" भी कहा गया है। कुराल का भी अर्थ है- ज्ञानी। कुराल अपने ज्ञान से जन्म-मरण के चक्र का अतिक्रमण कर पुनः न बद्ध होता है और मुक्त न होता है- कुसले पुण णो बद्धे, णो मुक्के (106/182)।

आत्मतुला-अहिंसक जीवन का रक्षाकवच (तावीज़)

यदि हम हिंसा के गति-विज्ञान से परिचित हैं तो हमें यह समझते देर नहीं लगेगी कि हिंसा के कारण हमारा संसार नरक बन गया है। हिंसा एक ऐसी मानसिक ग्रंथि है जिसका मोह हम छोड़ नहीं पाते और हमारी मृत्यु का वह कारण बनती है :-

एस खलु गंथे

एस खलु मोहे

एस खलु मारे

एस खलु णरए

- (पृष्ठ 11/25)

जिसने हिंसा में निहित इस आतंक और अहित को देख लिया है, उसे हिंसा से निवृत्त होने में समय नहीं लगेगा लेकिन यह "देखना" कोरा बौद्धिक ज्ञान नहीं है। यह तो वस्तुतः एक आध्यात्मिक अनुभव है। जब तक कि हम अपने आप में अंदर से इस बात को नहीं समझते, हम बाह्य जगत में व्याप्त हिंसा को भी नहीं समझ सकते। महावीर कहते हैं- जो अध्यात्म को जानता है, बाह्य को जानता है। जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।

जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ ।

जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ ॥

- (पृष्ठ 42/147)

यही “आत्मतुला” है। महावीर इसी आत्मतुला के अन्वेषण के लिए हमें आमंत्रित करते हैं— एयं तुलमण्णेसिं (वही प्र.148)।

आत्मतुला वस्तुतः सब जीवों के दुःख-सुख के अनुभव की समानता पर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। महावीर कहते हैं कि हमारी ही तरह सभी प्राणियों को आयुष्य प्रिय है। वे सुखास्वादन करना चाहते हैं। दुःख से घबराते हैं। उन्हें वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है। वे जीवित रहना चाहते हैं -

सव्वे पाणा पियाउसा सुहसाया दुक्खपडिकूला

अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा। (82/63)

सव्वेसिं जीवियं पियं।

अंदर ही अंदर हम सब भी यही चाहते हैं। अतः महावीर कहते हैं कि तू बाह्य जगत को अपनी आत्मा के समान देख-आयओ बहिया पास (134/52)।

यदि हम बाह्य जगत को अपनी आत्मा के समान देख पाते हैं तो निश्चित ही हिंसा से विरत हो सकते हैं। महावीर ने अहिंसक जीवन जीने का हमें यह एक उत्तम रक्षा-कवच दिया है, जिससे मनुष्य न केवल स्वयं अपने को बल्कि समस्त प्राणी जगत को हिंसा से बचाए रख सकता है। हमारी सारी कठिनाई यही है कि हम जिस तराजू से स्वयं को तोलते हैं, दूसरों को नहीं तोलते। दूसरों के लिए हम दूसरा तराजू इस्तेमाल करते हैं। किंतु महावीर “आत्मतुला” पर ही सबको तोलने के पक्षधर हैं। जब तक हम दूसरे प्राणियों को भी आत्मवत नहीं समझते, हम वस्तुतः अपनी रक्षा भी नहीं कर सकते। सबकी रक्षा में ही अपनी रक्षा भी सम्मिलित है। इसीलिए महावीर कहते हैं, सभी लोगों को समान जानकर, व्यक्ति को शस्त्र से, हिंसा से, उबरना चाहिए -

समयं लोगस्स जाणित्ता, एत्थ सत्थोवरए।

- (पृष्ठ 122/3)

यहाँ यह दृष्टव्य है कि महावीर ने हमें यह जो हिंसा-अहिंसा विवेक के लिए

आत्मतुला का मापदंड दिया है, उसे किसी न किसी रूप में अन्य दर्शनों/दार्शनिकों ने भी अपनाया है। इस संदर्भ में पश्चात्य विख्यात दार्शनिक कांट का नाम सहज ही स्मरण हो आता है। कांट, यद्यपि जैनदर्शन से निश्चित ही अपरिचित रहे होंगे लेकिन उन्होंने नैतिक आचरण के जो मापदंड दिए हैं उनमें से एक आत्मतुला की ओर ही संकेत करता है। उनके अनुसार मनुष्य को ठीक उसी तरह व्यवहार करना चाहिए जैसा कि वह अपने लिए दूसरों से अपेक्षा करता है। कांट का कहना है कि व्यक्ति को सदैव ऐसे सूत्र के अनुसार काम करना चाहिए जो सार्वभौम नियम बन सके- **"KCT ONLY ON THAT MAXIM(OR PRINCIPLE), HKHICH THO CANSTAT THE SAME TIME ILL TO BECOME A UNIVERSAL LAW."** दूसरे शब्दों में हम दूसरों के प्रति कोई ऐसा काम न करें जिसे हम अपने लिए गलत समझते हों।

महावीर की "आत्मतुला" के संदर्भ में यदि हम देखें तो इससे यह अर्थ निकलेगा कि यदि हमें हिंसा अपने लिए प्रिय नहीं है तो हमें दूसरों की हिंसा नहीं करनी चाहिए। अहिंसा ही एक ऐसा नियम हो सकता है जिसे सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया जा सकता है, हिंसा नहीं।

हिंसा का प्रारूप-विज्ञान (TYPOLOGY)

यद्यपि जैन धर्मग्रंथों में अन्य स्थानों पर हिंसा के अमुक प्रारूपों का वर्णन और वर्गीकरण हुआ है किंतु आचार्यो में स्पष्ट रूप से हिंसा का कोई प्रारूप विज्ञान नहीं मिला परन्तु एक स्थल पर हिंसा की दो विमाओं (DIMENSIONS) का उल्लेख किया गया है। (40/140)। इसमें कहा गया है कि कुछ लोग प्रयोजनवश प्राणियों का वध करते हैं किंतु कुछ व्यक्ति बिना प्रयोजन ही वध करते हैं। इस प्रकार हिंसा अर्थवान भी हो सकती है और अनर्थवान भी हो सकती है। इसी गाथा में आगे चलकर हिंसा की एक और विमा बताई गई है जो हिंसा को तीनों कालों-विगत, वर्तमान और भविष्य से जोड़ती है। हिंसा इस प्रकार भूत-प्रेरित हो सकती है, वर्तमान प्रेरित हो सकती है और भविष्य प्रेरित भी हो सकती है-

अप्पेगे अट्टाए वहंति, अप्पेगे अणट्टाए वहंति
 अप्पेगे हिंसंसु मेत्ति वा वहंति
 अप्पेगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति
 अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति

- (40/140)

जहाँ तक हिंसा का प्रयोजनात्मक "अट्टाए" और अप्रयोजनात्मक "अणट्टाए" विमा का प्रश्न है, अर्थवान अथवा प्रयोजनात्मक हिंसा के कुछ उदाहरण इसी गाथा के आरंभ में दिए गए हैं जिसमें कहा गया है कि कुछ व्यक्ति शरीर के लिए प्राणियों का वध करते हैं तो कुछ लोग चर्म, मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, केश, सींग, दंत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि और प्राणियों की अस्थिमज्जा के लिए उनका वध करते हैं। यह स्पष्ट ही प्रयोजनात्मक हिंसा है। हिंसा करने के बेशक और भी प्रयोजन हो सकते हैं। एक अन्य गाथा, जिसे आयारो में बार-बार दोहराया गया है, के अनुसार मनुष्य हिंसा वर्तमान जीवन के लिए प्रशंसा सम्मान और पूजा के लिए जन्म-मरण और मोचन के लिए, दुःख प्रतिकार के लिए करता है। (39/130)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रयोजनार्थ हिंसा के कई विवरण हमें आयारो में मिलते हैं किन्तु अप्रयोजनात्मक (अणट्टाए) हिंसा का कोई स्पष्ट उदाहरण हमें नहीं मिलता परंतु एक गाथा में यह कहा गया है कि आसक्त मनुष्य हास्य-विनोद में (कभी-कभी) जीवों का वध कर आनंद प्राप्त करता है।

अवि से हासमासज्ज, हंता गंदीति मन्नति

- (130/32)

इसे स्पष्ट ही निरर्थक (अप्रयोजनात्मक) हिंसा कहा जा सकता है। इस प्रकार की हिंसा से मनुष्य को कोई लाभ नहीं होता सिवा इसके कि वह इस प्रकार की हिंसा करके एक अस्वस्थ सुख प्राप्त करे। इस प्रकार की निरर्थक हिंसा को हम क्रीड़ात्मक हिंसा भी कह सकते हैं। आयारो के अनुसार इस प्रकार की क्रीड़ात्मक

हिंसा में केवल बाल और अज्ञानी लोग ही प्रवृत्त हो सकते हैं क्योंकि इससे कोई मानव प्रयोजन तो सधता नहीं है, बल्कि इससे व्यक्ति निरर्थक ही अन्य प्राणियों से अपना बैर ही बढ़ाता है।

अलं बालस्य संगेण, वेरं वड्ढेति अप्पणो।

- (130/32)

आयारो में इस प्रकार जहाँ एक ओर प्रयोजन-सापेक्ष हिंसा का अर्थवान और निरर्थक विमा का उल्लेख मिलता है वहीं एक दूसरी विमा, जो काल-सापेक्ष है, भी बतलाई गई है। इसके अनुसार (देखिए, 40/140, ऊपर उद्धरित)

1. कुछ व्यक्ति (हमारे स्वजनों की) हिंसा की गई थी (भूतकाल) इसलिए वध करते हैं कुछ
2. कुछ व्यक्ति इसलिए कि लोग हिंसा कर रहें हैं (वर्तमान), वध करते हैं तथा कुछ
3. कुछ व्यक्ति इसलिए भी हिंसा में प्रवृत्त होते हैं कि उन्हें (भविष्य में) संभावना लगती है कि हिंसा की जाएगी।

प्रथम प्रकार की हिंसा स्पष्ट ही भूतकाल से प्रेरित हिंसा है क्योंकि विगत में कभी (परिजनों की) हिंसा की गई थी इसलिए व्यक्ति हिंसा में विगत हिंसा का बदला लेने के लिए हिंसा करता है।

द्वितीय प्रकार की हिंसा वर्तमान में हो रही हिंसा के प्रतिक्रिया स्वरूप की जाती है। आज कुछ लोग हिंसा में प्रवृत्त हैं इसलिए उसका जबाब देने के लिए इस प्रकार की हिंसा में प्रतिक्रिया स्वरूप, जबाबी आक्रमण किया जाता है। इसे हम प्रतिक्रियात्मक हिंसा कह सकते हैं।

तृतीय प्रकार की हिंसा में व्यक्ति भविष्य की आशंका में, इस डर से कि कहीं हमारे ऊपर हिंसा न हो जाए, हिंसा पर उतारू हो जाता है। इस प्रकार की हिंसा को हम आशंकित हिंसा या भयाक्रांत हिंसा कह सकते हैं।

यह जानना एक दिलचस्पी का विषय हो सकता है कि आज के विख्यात मनोविश्लेषक एरिक फ्रॉम ने हिंसा के जो अनेक प्रारूप बताए हैं उनमें भूतकाल प्रेरित (प्रतिशोधात्मक) हिंसा और वर्तमान प्रेरित (प्रतिक्रियात्मक) हिंसा का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। उन्होंने हिंसा का एक प्रकार, क्रीड़ात्मक हिंसा भी बताया है लेकिन क्रीड़ात्मक हिंसा से उनका तात्पर्य मनोरंजन या प्रमोद के लिए हिंसा से न होकर खेलते समय (जूडो-कराटे, मुक्केबाजी इत्यादि) में जो हिंसा कभी-कभी हो जाती है उससे है। वे ऐसी क्रीड़ात्मक हिंसा को बुरा नहीं मानते। उसे वे जीवनोन्मुख मानते हैं। फिर भी ऐसी हिंसा वस्तुतः तो निरर्थक ही है। इस प्रकार हमें देखते है कि आचारांग को यथाश्र जीवन ये जीने की प्रेरणा देता है।

□ उपनिदेशक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
आई.टी.आई. रोड़, वाराणसी

स्थानांगसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन

□ प्रो. सागरमल जैन

स्थानांगसूत्र के वर्तमान में अनेक संस्करण उपलब्ध हैं जिनमें गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद द्वारा संचालित “पूजाभाई जैन ग्रन्थमाला” के 23वें पुष्प के रूप में स्थानांग तथा समवायांग का पं. दलसुखभाई मालवणिया कृत जो सुन्दर, सुबोध तथा सुस्पष्ट अनुवाद एवं प्रस्तावना और तुलनात्मक टिप्पणियों के साथ प्रकाशन हुआ है, उससे स्थानांग और समवायांग की विषयवस्तु को समझने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में पं. दलसुख भाई मालवणिया ने इन ग्रन्थों के विषय परिचय के साथ-साथ इनकी रचना शैली एवं रचनाकाल के संबंध में भी विचार किया है। इसी प्रकार मुनि कन्हैयालालजी “कमल” द्वारा संपादित एवं युवाचार्य मधुकर मुनि द्वारा संपादित “स्थानांगसूत्र” और उसकी देवेन्द्रमुनि शास्त्री द्वारा लिखित भूमिका भी स्थानांग के परिचय के लिये महत्वपूर्ण कही जा सकती है। यद्यपि इस भूमिका में मुख्य रूप से पं. दलसुख भाई के लेखन और विशेष रूप से उनकी टिप्पणियों को ही आधार बनाया गया है। इन ग्रन्थों के संबंध में विशिष्ट जानकारी के लिये उन संस्करणों को देखा जा सकता है। यहाँ पर हम संक्षेप में ही इन ग्रन्थों के स्वरूप, रचना शैली, रचनाकाल एवं विषयवस्तु के संबंध में प्रकाश डालेंगे।

स्थानांग का स्वरूप :- द्वादश अंग सूत्रों में स्थानांग तृतीय अंग सूत्र माना जाता है। स्थानांग शब्द स्थान + अंग से बना है। नन्दी सूत्र के अनुसार एक से प्रारम्भ करके एक-एक बढ़ाते हुए 10 स्थानों तक विभिन्न भावों का वर्णन होने से इसे स्थानांग नाम दिया गया है। जिनदासगणि महत्तर के अनुसार जिसका स्वरूप स्थापित किया जाये अथवा ज्ञापित किया जाये, वह स्थान है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार जिसमें जीवादि विषयों का व्यवस्थित रूप से प्रतिपादन किया जाता है वह स्थान है। वस्तुतः यह अर्थ स्थानांग की विषयवस्तु को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किये गये हैं। वस्तुतः यहाँ “स्थान” शब्द संख्या क्रम का सूचक है। उपदेशमाला में “स्थान” शब्द का अर्थ “मान” अथवा “परिमाण” किया गया है इससे इसका संख्यासूचक

होना सिद्ध होता है। वस्तुतः स्थानांग में संख्या के क्रम से बौद्धों के अंगुत्तर निकाय की भांति विभिन्न विषयों का प्रतिपादन किया गया है। यथा एक-एक वस्तु में क्या है? दो-दो वस्तुयें क्या हैं? आदि। इस क्रम में एक से लेकर दस तक की वस्तुओं की चर्चा की गयी है। समवायांग सूत्र में 12 अंगों का जो परिचय उपलब्ध होता है, उसमें स्पष्ट कहा गया है कि एकविध, द्विविध यावत् दसविध जीव, पुद्गल और लोक स्थिति का वर्णन इस ग्रन्थ में है।

अन्य अंग सूत्रों से स्थानांग के स्वरूप की तुलना करते हुए हम यह पाते हैं कि जहाँ अन्य अंग सूत्रों में मुमुक्षु जीवों के लिए विधि-निषेध रूप से आचार नियमों का प्रतिपादन है अथवा साधक आत्माओं के जीवन विवरण हैं अथवा संवादों के रूप में उपदेश हैं, वहाँ स्थानांग और समवायांग में ऐसा कुछ भी नहीं है। स्थानांग और समवायांग दोनों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि ये ग्रन्थ संग्रहात्मक कोष के रूप में लिखे गये हैं। अन्य अंगों की अपेक्षा इनका विषय निरूपण सर्वथा भिन्न प्रकार का है। स्मृति में सुविधा हो और वह चिरकाल तक स्थिर रह सके इसलिये संख्या के क्रम से विभिन्न आगमों की जानकारी के लिये आवश्यक ऐसी विषय वस्तु को इसमें संग्रहित कर दिया गया है। इन अंगों की विषय निरूपण शैली से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि जब अन्य सभी अंग बन गये होंगे तब स्मृति तथा धारणा की सरलता की दृष्टि से अथवा विषयों के खोज की सुगमता की दृष्टि से इन दोनों अंगों की योजना की गयी होगी तथा इन्हें विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करने हेतु अंगों में समाविष्ट कर लिया गया होगा।

स्थानांगसूत्र में दस अध्याय और सात सौ तेरासी सूत्र हैं। इसके दसवें अध्याय में दस-दस अध्याय वाले दस दशाग्रन्थों का उल्लेख है, किन्तु उनमें कहीं भी स्थानांग का दशा के रूप में उल्लेख नहीं है, इससे ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ दस दशाओं के पश्चात ही निर्मित हुआ होगा।

स्थानांग का परिचय हमें समवायांग और नन्दीसूत्र में मिलता है। समवायांग के अनुसार स्थानांग में स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त और स्वपर सिद्धान्त का, जीव, अजीव और जीवाजीव का, लोक-अलोक और लोकालोक का, द्रव्य, गुण और पर्यायों का तथा पर्वत, नदी, समुद्र, देवों के प्रकार, पुरुषों के विभिन्न प्रकार,

उनके गोत्र, नदियों, निधियों एवं ज्योतिषिक देवों की विभिन्न गतियों का वर्णन है। नंदी सूत्र में भी लगभग किंचित अंतर के साथ स्थानांग की यही विषयवस्तु निरूपित की गयी है। समवायांग और नंदीसूत्र दोनों ही इसमें एक श्रुतस्कंध, दस अध्ययन, 21 उद्देशन काल, 21 समुद्देशन काल और 72 हजार पदों के होने का उल्लेख करते हैं। परवर्ती श्वेताम्बर ग्रंथों (विधिमार्गप्रपा आदि) में भी इसी आधार पर इसकी विषयवस्तु का उल्लेख मिलता है।

दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थवार्तिक में इसकी विषयवस्तु का निरूपण करते हुए कहा गया है कि “स्थानांग में अनेक आश्रय वाले अर्थों का निर्णय है।” धवला और जयधवला में स्थानांग की विषयवस्तु को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि इसमें एक से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का वर्णन है, जैसे महत् आत्मा एक है, वह बद्ध और मुक्त के भेद से दो प्रकार का है। उत्पाद, व्यय और श्रौष्य लक्षणों से युक्त होने के कारण वह तीन प्रकार का है। चार गतियों में संक्रमण करने से चार प्रकार का है। पांच गुणों (भावों) में भेद से वह पाँच प्रकार का है। छः दिशाओं में गमन करने के भेद से जीव छः प्रकार का है। सप्तभंगी के भेद से वह सात प्रकार का है। आठ कर्माश्रवों के आधार पर जीव आठ प्रकार का है। नौ अर्थक होने से वह नौ प्रकार का है। दस स्थान यथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक बनस्पति, निगोध, द्विइन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुर्इन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय के भेद से दस प्रकार का है। इस प्रकार अजीव पुद्गल भी एक प्रकार, दो प्रकार आदि का है। दिगम्बर परम्परा में इसके पदों की संख्या 42 हजार मानी गयी है।

यदि हम उपर्युक्त विवरणों की तुलना स्थानांग के वर्तमान स्वरूप से करते हैं तो एक-दो आदि संख्या क्रम से इसमें दस संख्या तक के विषयों का निरूपण उपलब्ध होता है, अतः यह कहा जा सकता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में इसके संख्याओं के उत्तरोत्तर क्रम से विवेचन वाले स्वरूप की वर्तमान स्वरूप से कोई भिन्नता नहीं है परन्तु यह स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थवार्तिककार की जानकारी में स्थानांग नहीं था। इसी प्रकार धवला, जयधवला और अंग प्रज्ञप्ति के लेखकों के समक्ष या उनकी जानकारी में भी वर्तमान स्थानांग नहीं था, किन्तु

अनुश्रुति से उन्हें इस संख्या क्रम वाले स्वरूप का बोध था। विषयवस्तु की कल्पना उन्होंने अपने ढंग से की है। श्वेताम्बर परम्परा में 2 हजार और दिगम्बर परम्परा में 42 हजार पद प्रमाण होने की जो बात कही गयी है, वह अतिशयोक्ति पूर्ण ही लंगती है। वर्तमान में प्रस्तुत सूत्र का श्लोक परिमाण 3770 है।

स्थानांग का रचना काल :- परम्परागत दृष्टि से सभी अंग आगमों के अर्थ रूप से उपदेष्टा भगवान् महावीर और शब्द रूप से उनके प्रणेता गौतम गणधर आदि माने गये हैं किन्तु यदि हम स्थानांग की विषयवस्तु पर विचार करें तो स्पष्ट रूप से ऐसा लगता है कि इसमें समय-समय पर विषयसामग्री डाली जाती रही है। पं. दलसुख भाई मालवणिया के शब्दों में इस ग्रन्थ की रचना पद्धति को समझ लेने के पश्चात् यह समझना अत्यन्त सरल हो जाता है कि इस ग्रन्थ में समय-समय पर किस प्रकार की विषयवस्तु को जोड़ा जाता रहा है। यद्यपि यह अभिवृद्धि संख्या की दृष्टि से ही हुई है, किन्तु इनका संबंध इतिहास के साथ भी है। इसमें जिस-जिस प्रकार की विषयवस्तु की अभिवृद्धि की गयी है, उसे पहचान पाना भी कठिन नहीं है उदाहरण के रूप में सातवें स्थान में निहनव संबंधी सामग्री और नवें स्थान में गण संबंधी सामग्री बाद में जोड़ी गयी है। स्थानांग को देखने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि सम्यक् दृष्टि सम्पन्न गीतार्थ पुरुषों ने पूर्व परम्परा से चली आने वाली श्रुत सामग्री में महावीर के निवाण के पश्चात् यत्र-तत्र हानि-वृद्धि की है। स्थानांग के नवें अध्ययन के तृतीय उद्देशक में भगवान् महावीर के नौ गणों के नाम आते हैं। ये नाम इस प्रकार हैं :- गोदासगण, उत्तरबलिस्सहगण, उद्देहगण, चारणगण, उड्डिवातितगण, विस्सवातितगण, कामडिद्धतगण, मालवगण और कौडिकगण। कल्पसूत्र की स्थिविरावली में इन गणों की उत्पत्ति इस प्रकार बताई गयी है :- प्राचीन गोत्रीय आर्य भद्रबाहु के चार स्थविर शिष्य थे जिनमें से एक का नाम गोदास था। इन काश्यप गोत्रीय गोदास स्थविर से गोदास नामक गण की उत्पत्ति हुई। एलावच्च गोत्रीय आर्य महागिरि के आठ स्थविर शिष्य थे इनमें से एक का नाम उत्तरबलिस्सह था। इनसे उत्तरबलिस्सह नामक गण निकला। ब्रशिष्ठ गोत्रीय आर्य सुहस्ती के बारह स्थविर शिष्य थे जिनमें से एक का नाम आर्य रोहण था। इन्हीं

कारयप गोत्रीय रोहण से उद्देहगण निकला। उन्हीं गुरु के शिष्य हारितगोत्रीय सिरिगुत्त से चारणगण की उत्पत्ति हुई। भारद्वाजगोत्रीय भद्रजस से उड्डुवाडियगण उत्पन्न हुआ एवं कुंडिल (कुंडलि अथवा कुडिल) गोत्रीय कमडिद्ध स्थविर से वेसवाडियगण निकला। इसी प्रकार कांकदी नगरी निवासी वशिष्ठगोत्रीय इसिगुत्त से मालवगण एवं वग्धावच्चगोत्रीय सुस्थित व सुप्रतिबद्ध से कोडिक नामक गण निकला।

उपर्युक्त उल्लेख में कामडिद्धतगण की उत्पत्ति का कोई निर्देशन नहीं है। संभव है आर्य सुहस्ति के शिष्य कामडिद्ध स्थविर से ही यह गण भी निकला हो। कल्पसूत्र की स्थविरावली में कामडिद्धतगण विषयक उल्लेख नहीं है किन्तु कामडिद्धतकुल संबंधी उल्लेख अवश्य है। यह कामडिद्धतकुल उस वेसवाडिय-विस्सवाडित गण का ही एक कुल है, जिसकी उत्पत्ति कामडिद्ध स्थविर से बतलाई गयी है। उपर्युक्त सभी गण भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग दो सौ वर्ष के बाद के भी हो सकते हैं।

इसी प्रकार स्थानार्णग के सातवें स्थान में जामालि, तिष्यगुत्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुत्त और गोष्ठामाहिल इन सात निह्नवों का उल्लेख आता है। यह स्पष्ट है कि इनमें से प्रथम दो को छोड़कर शेष पाँच निह्नव भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद की तीसरी शताब्दी से छठी शताब्दी के मध्य हुए हैं अर्थात् ई.पू. द्वितीय शती से ईसा की प्रथम शती के बीच हुए है। इन निह्नवों के प्रसंग में बोटिक का उल्लेख नहीं पाया जाता। बोटिक की उत्पत्ति वीर निर्वाण संवत् 906 या 909 में मानी गयी है। अतः इतना निश्चित है कि इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से वीर निर्वाण की छठी शताब्दी अथवा ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद की कोई ऐतिहासिक सामग्री की सूचना इसमें नहीं है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ की रचना का अंतिम स्वरूप वीर निर्वाण की छठी शताब्दी या ईसा की प्रथम द्वितीय शताब्दी से आगे नहीं जाता। अतः यह मानना अधिक उपयुक्त है कि इस सूत्र की अंतिम योजना वीर निर्वाण की अंतिम शताब्दी में होने वाले किसी गीतार्थ आचार्य ने अपने समय तक की घटनाओं को पूर्व परम्परा से चली आने वाली घटनाओं के साथ मिलाकर की है। यदि ऐसा न माना जाये तो यह मानना पड़ेगा कि महावीर के बाद घटित होने

वाली सभी घटनायें किसी गीतार्थ आचार्य द्वारा इस सूत्र में पीछे से जोड़ दी गयी है। वेसे यह मानने में कोई बाधा नहीं आनी चाहिए कि आगमों को ग्रन्थबद्ध करने वाले देवर्धिगणिकमाश्रमण ही स्थानांग और समवायांग को अन्तिम रूप देने वाले रहे होंगे। यद्यपि इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि ग्रन्थ की सम्पूर्ण सामग्री ही अर्वाचीन या परवर्ती है। इसका तात्पर्य मात्र यह है कि ग्रन्थ को अंतिम स्वरूप कब मिला। यद्यपि यह मानना कि यह आगम गणधर कृत ही है और श्रमण भगवान् महावीर ने अपनी सर्वज्ञता में भविष्य काल की घटनाओं को देखकर उनका विवरण प्रस्तुत कर दिया था, व्यक्तिगत श्रद्धा का विषय हो सकता है, परन्तु गवेषणात्मक रूप से तर्क संगत नहीं लगता। मात्र यही नहीं यदि महावीर ने भविष्य काल की घटनाओं को कहा था तो उनके क्रियापद भविष्यकालिक होने चाहिए थे न कि भूतकालिक। जबकि वास्तविकता यह है कि मूल आगम में ये क्रियापद भूतकालिक हैं। अतः यह मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए कि इस ग्रन्थ में महावीर के काल से लेकर वीर निर्वाण की छठीं शताब्दी के अन्त तक की सामग्री का संकलन होता रहा है क्योंकि गोष्ठामाहिल का इसमें उल्लेख है और उसका काल वीर निर्वाण 584 वर्ष उल्लिखित है। पं. दलसुख भाई मालवणिया का यह स्पष्ट विचार है कि वीर निर्वाण 585 अर्थात् ईसा की प्रथम शताब्दी के परचात् इसमें किसी सामग्री की अभिवृद्धि नहीं हुई है क्योंकि इसमें वीर निर्वाण स. 609 में होने वाले निहनव "बोटिक" का उल्लेख नहीं है। यदि स्थानांग में वीर निर्वाण 980 या 993 में हुई वल्लभी वाचना तक परिवर्धन या परिवर्तन हुए होते तो इसमें आठवें स्थान में 8 निहनवों का उल्लेख अवश्य होता। इनता ही नहीं इसमें उल्लिखित अंग ग्रंथों और उनके अध्ययनों का परिचय भी परिवर्तित हो गया होता। स्थानांग में जिन दस दशाओं और उनके अध्ययनों का उल्लेख मिलता है, वह वल्लभी वाचना के समय के उन ग्रन्थों के अध्ययनों में समवायांग के अनुवाद के 231 से 263 पृष्ठ तक की टिप्पणियों में विस्तार से उल्लिखित है। इसी प्रकार अंग ग्रन्थों की विषयवस्तु में स्थानांग में जो उल्लेख हैं वे समवायांग नंदीसूत्र और नंदी चूर्णी से किस प्रकार भिन्न हैं इसकी चर्चा हमने इसी ग्रन्थ में उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरणदशा और

विपाकदशा की विवेचना करते समय की है। पाठक इसे वहाँ देख सकते हैं। पं. दलसुख भाई मालवणिया लिखते हैं कि इस आधार पर एक बात जो निश्चित होती है वह यह कि वल्लभी वाचना के समय उपलब्ध ग्रन्थों की विषयवस्तु में अभिवृद्धि या कमी नहीं की गयी। यदि की गयी होती तो स्थानांग में अनेक सूत्रों को कम करना होता और अनेक सूत्रों को बढ़ाना होता। वल्लभी वाचना के समय संकलन में पूर्ण प्रामाणिकता रखी गयी। संकलन कर्ता ने अपनी ओर से ग्रन्थों की विषयवस्तु में न तो नई विषयवस्तु को जोड़ा है और न अस्पष्ट और अवांछित विषयवस्तु को परिवर्तित किया है। इतना ही नहीं परस्पर विसंगतियों को उन्होंने हटाने का भी प्रयत्न नहीं किया, मात्र इतना ही किया कि जो वस्तु जिस रूप में थी उसी रूप में व्यस्थित करके ग्रन्थ बद्ध कर दिया। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ को अंतिम रूप वीर निर्वाण संवत् की छठीं शताब्दी के अन्त में अर्थात् ईसा की प्रथम शताब्दी में मिला और उसके बाद इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ।

यद्यपि यह स्पष्ट है कि ग्रन्थ की प्रथम संकलना से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी से इसे अंतिम रूप मिलने तक इसमें कुछ अभिवृद्धि या परिवर्तन हुए, क्योंकि वे इसकी विषय प्रतिपादन शैली आदि से भिन्न हैं। उदाहरण के रूप में स्थानांग में भावी तीर्थकर विमलवाहन का जो विस्तृत जीवन परिचय दिया गया है वह निश्चित रूप से बाद में जोड़ा गया है, क्योंकि वह पूरा विवरण कथा रूप में है और राजा श्रेणिक के जीव का भविष्य में विमलवाहन नामक तीर्थकर के रूप में जन्म लेने का उल्लेख करता है। इसी प्रकार नन्दीश्वर द्वीप के चार पर्वतों के नाम में अंजनक पर्वत का उल्लेख तो अप्रासंगिक नहीं है किन्तु पर्वत का विस्तृत विवरण निश्चित ही कहीं से जोड़ा गया है। इसी प्रकार सुख-शैया, दुःख शैया, मोहनीय स्थान, विभंग ध्यान, बलदेव-वासुदेव का वर्णन, स्वरमंडल प्रकरण और तृतीय स्थान के द्वितीय उद्देशक में गौतम और महावीर के बीच का संवाद यह सब कहीं से इसमें जोड़ा गया है, किन्तु यह सब ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक हो चुका था। इस प्रकार स्थानांग का रचना काल वीर निर्वाण की प्रथम शताब्दी से छठीं शताब्दी तक विस्तृत है। यद्यपि इसे अंतिम रूप वीर निर्वाण छठीं शताब्दी में ही मिला।

स्थानांग के उपलब्ध पाठ को समझने में आचार्यों को कितनी असुविधायें हुई थी तथा पाठभेदों के कारण स्वरूप निर्धारण में किस प्रकार की कठिनाई हुई होगी, इसका चित्रण स्वयं स्थानांग के प्रथम टीकाकार अभयदेवसूरि ने स्थानांग वृत्ति के अन्त की प्रशस्ति में किया है-

सम्प्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः।

सर्वस्वपरशास्त्रानामद्रष्टेरस्मृतेश्चमे॥१॥

वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धतः।

सूत्रानामतिगाम्भीर्यात् मतभेदाच्च कुत्रचित्॥२॥

- स्थानांगवृत्ति प्रशस्ति

अर्थात् ग्रन्थ को समझने में परम्परा का अभाव है। सुतर्क का वियोग है। सब स्व-पर शास्त्र देखे नहीं जा सके हैं और न मुझे उनकी स्मृति ही है। ऐसी स्थिति में उनकी व्याख्या में मतभेद होना स्वाभाविक है। इससे निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अभयदेव के काल तक ग्रन्थ की वाचना में विभिन्नता आ गयी थी। यद्यपि इस विभिन्नता का तात्पर्य विषयवस्तुगत विभिन्नता से न लेकर केवल पाठान्तरों से ही लेना चाहिए। यह स्पष्ट है कि अभयदेव के काल तक अर्धमागधी आगमों पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आ गया था और इसी कारण आगमों में पाठान्तरों की सृष्टि हो गयी थी और अर्धमागधी आगमों में प्रयुक्त बहुत से देशी शब्दों का अर्थ आचार्यों को मालूम नहीं था।

शैली :- जहाँ तक इस सूत्र की शैली का प्रश्न है स्वयं समवायांग में 12 अंगों का परिचय देते हुए स्थानांग के विषय में कहा गया है कि इसमें एकविध-द्विविध यावत् दस विध जीव, पुद्गल और लोक स्थिति का वर्णन है। समवायांग में सूचित यह शैली आज भी इस ग्रन्थ में पायी जाती है। स्थानांग के प्रथम प्रकरण में एक-एक पदार्थ अथवा क्रिया आदि का निरूपण है, द्वितीय में दो-दो का, तृतीय में तीन-तीन का, यावत् अन्तिम प्रकरण में दस-दस पदार्थों अथवा क्रियाओं का वर्णन है। जिस प्रकरण में एक संख्यक वस्तु का विचार है उसका नाम एक स्थान अथवा प्रथम स्थान है। इसी प्रकार द्वितीय स्थान यावत् दशमस्थान के विषय में समझना चाहिए।

इस प्रकार स्थानांग में दस स्थान, अध्ययन अथवा प्रकरण हैं। जिस प्रकरण में निरूपणीय सामग्री अधिक है उसके चार उपविभाग भी किये गये हैं। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ प्रकरण में ऐसे चार-चार उपविभाग हैं तथा पंचम प्रकरण में भी तीन उपविभाग हैं। इनके उपविभागों का पारिभाषिक नाम “उद्देशक” है।

समवायांग की शैली भी इसी प्रकार की है, किन्तु उसमें दस से आगे की संख्या वाली वस्तुओं का भी निरूपण है। अतः उसकी प्रकरण संख्या स्थानांग की तरह निश्चित नहीं है, अथवा यों समझना चाहिए कि उसमें स्थानांग की तरह कोई प्रकरण व्यवस्था नहीं की गयी है। इसीलिये नंदीसूत्र में समवायांग का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमें एक ही अध्ययन है।

स्थानांग व समवायांग की कोश शैली बौद्ध परम्परा एवं वैदिक परम्परा के ग्रंथों में भी उपलब्ध होती है। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय, पुगलपञ्चमि, महाव्युत्पत्ति एवं धर्म संग्रह में इसी प्रकार की शैली में विचारणाओं का संग्रह किया गया है। वैदिक परम्परा के ग्रन्थ महाभारत के वनपर्व (अध्याय 134) में भी इसी शैली में विचार संग्रहीत किये गये हैं।

स्थानांग व समवायांग में संग्रह प्रधान कोश शैली होते हुए भी अनेक स्थानों पर या तो शैली खंडित हो गयी है या विभाग करने में पूरी सावधानी नहीं रखी गयी है। उदाहरण के लिये अनेक स्थानों पर व्यक्तियों के चरित्र आते हैं, पर्वतों का वर्णन आता है, महावीर और गौतम के संवाद आते हैं, ये सब खंडित शैली के सूचक हैं। स्थानांग के सूत्र 244 में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय चार प्रकार के हैं, सूत्र 431 में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय पांच प्रकार के हैं, सूत्र 484 में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय छः प्रकार के हैं। यह अंतिम सूत्र तृणवनस्पतिकाय के भेदों का पूर्ण निरूपण करता है, जबकि पहले के दोनों सूत्र इस विषय में अपूर्ण हैं। अंतिम सूत्र की विद्यमानता में ये दोनों सूत्र व्यर्थ हैं। यह विभाजन की असावधानी का उदाहरण है।

विषय सम्बद्धता का प्रश्न :- संख्या के आधार पर विषयों का संकलन होने के कारण इस ग्रन्थ के अभिधेयों अथवा प्रतिपाद्य विषयों में परस्पर सम्बद्धता

का होना आवश्यक नहीं। यद्यपि वृत्तिकार ने खींचतान कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अमुक विषय के बाद अमुक विषय का कथन क्यों किया गया है परन्तु हमारी दृष्टि में वृत्तिकार ने जो सब सूत्रों के बीच पारस्परिक संबंध बिठाने का प्रयास किया है, वह युक्तिसंगत नहीं लगता। वास्तव में शब्दकोश के शब्दों की भांति इन सूत्रों में परस्पर कोई संबंध नहीं है। संख्या की दृष्टि से जो भी विषय सामने आये उसका उस संख्या वाले अध्ययन में समावेश कर दिया गया। इनमें पारस्परिक संबद्धता केवल संख्या की दृष्टि से है विषय वैविध्य की दृष्टि से नहीं।

स्थानांग और अन्य आगम ग्रन्थ :- स्थानांग ग्रन्थ किसी एक निश्चित विषय का न होकर विविध विषयों का एक संग्रह ग्रन्थ है। यद्यपि इसे अंग ग्रन्थों में स्थान देकर यह माना गया है कि इसमें भगवान् महावीर के उपदेशों का साक्षात् संकलन है किन्तु इसमें भगवान् के उपदेशों का कितना भाग है, यह विचारणीय है। पं. दलसुख भाई के शब्दों में उपर्युक्त चर्चा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समय-समय पर हुए परिवर्धनों से इसमें भगवान् महावीर के साक्षात् उपदेश के अतिरिक्त अधिकांश भाग ऐसा है, जो संकलित किया गया है। स्थानांग में उपलब्ध विषयवस्तु विविध आगमों में भी उपलब्ध होती हैं। स्थानांग के अनेक सूत्र समवायांग में यथावत् रूप में उपलब्ध हैं। मात्र यही नहीं बलदेव और वासुदेव के प्रकरण (अध्ययन सूत्र 672) में विस्तार के लिये समवायांग को देख लेने का निर्देश दिया गया है। वस्तुतः अनेक विषय ऐसे हैं जो स्थानांग की अपेक्षा समवायांग में अधिक विस्तार से विवेचित हुए हैं। यद्यपि पुरुषों के प्रकार संबंधी जो विस्तृत विवरण स्थानांग में है वह समवायांग में नहीं है। यद्यपि इतना स्पष्ट है कि समवायांग की अपेक्षा स्थानांग की विषयवस्तु अधिक प्राचीन है किन्तु स्थानांग में समवायांग का उल्लेख उपलब्ध होना इस बात का भी सूचक है कि स्थानांग की संकलना के समय ही समवायांग की संकलना भी हुई थी।

स्थानांग और समवायांग में यह विषयसाम्य किस प्रकार का है, इसकी सूचना सर्वप्रथम पं. दलसुख भाई ने अपने ग्रन्थ स्थानांग और समवायांग की पादटिप्पणियों में दी है। उसके पश्चात् दोनों की समान विषय वस्तुओं का एक तुलनात्मक विवरण

मुनि श्री कन्हैयालाल जी “कमल” ने अपने स्थानांग सूत्र के परिशिष्ट में दिया है। युवाचार्य मधुकर मुनि जी द्वारा संपादित ‘स्थानांग’ की भूमिका में उपाचार्य देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री ने इन्हीं आधारों पर स्थानांग की विषयवस्तु अन्य आगमों में कहाँ मिलती है उसका उल्लेख अपनी भूमिका में किया है जो इस प्रकार है :-

सन्दर्भ :-

- ★ स्थानांग (10/2) में द्वितीय सूत्र है “एगे आया”। यही सूत्र समवायांग(10/1) में भी शब्दशः मिलता है। भगवती (12/10) में भी इसी का द्रव्य दृष्टि से निरूपण है।
- ★ स्थानांग (1/4) का चतुर्थ सूत्र “एगा किरिया” है। समवायांग (1/5) में भी इसका शब्दशः उल्लेख है। भगवती (1/9) और प्रज्ञापना (पद 16) में भी क्रिया के संबंध में वर्णन है।
- ★ स्थानांग (1/5) में पांचवां सूत्र है- “एगोलोए”। समवायांग (1/7) में भी इसी तरह का पाठ है। भगवती (12/7/7) और औपपातिक (सूत्र 56) में भी यही स्वर मुखरित हुआ है।
- ★ स्थानांग (1/6) में सातवां सूत्र है- “एगे धम्मे”। समवायांग (1/9) में भी यह पाठ इसी रूप में मिलता है। सूत्र कृतांग (2/5) और भगवती (20/2) में भी इसका वर्णन है।
- ★ स्थानांग (1/8) का आठवां सूत्र है “एगे अधम्मे”। समवायांग (1/10) में भी यह पाठ इसी रूप में मिलता है। सूत्रकृतांग (2/5) और भगवती (20/2) में भी इस विषय को देखा जा सकता है।
- ★ स्थानांग (1/11) का ग्यारहवां सूत्र है “एगे पुण्णे”। समवायांग (1/11) में भी इसी तरह का पाठ है। सूत्रकृतांग (2/5) और औपपातिक (सूत्र 34) में भी यह विषय इसी रूप में मिलता है।
- ★ स्थानांग (1/12) का बारहवां सूत्र है “एगे पावे”। समवायांग (1/12) में यह सूत्र इसी रूप में आया है। सूत्रकृतांग (2/5) और औपपातिक

(सूत्र 34) में भी इसका निरूपण हुआ है।

- ★ स्थानांग (1/9-10) का नवम सूत्र “एगो बन्धे” है और दशवां सूत्र “एगो मोक्खे” है। समवायांग (1/1/13-14) में ये दोनों सूत्र इसी रूप में मिलते हैं। सूत्रकृतांग (2/5) और औपपातिक (सूत्र-34) में भी इसका वर्णन हुआ है।
- ★ स्थानांग (1/13-14-15-16) का तेरहवां सूत्र “एगो आसवे” चौदहवां सूत्र “एगो संवरे”, पंद्रहवां सूत्र “एगा वेयणा” और सोलहवां सूत्र “एगा निर्जरा” है। यही पाठ समवायांग (1/15-16-17-18) में मिलता है तथा सूत्रकृतांग (2/5) और औपपातिक (सूत्र 34) में भी इन विषयों का इसी रूप में निरूपण हुआ है।
- ★ स्थानांगसूत्र के 55 वें सूत्र में आर्द्रा नक्षत्र, चित्रा नक्षत्र, स्वाति नक्षत्र का वर्णन है। यही वर्णन समवायांग (सूत्र-23,24,25) और सूर्यप्रज्ञप्ति (पृ.10, पृ.9) में भी मिलता है।
- ★ स्थानांगसूत्र के 328 वें सूत्र में अप्रतिष्ठान नरक, जम्बूद्वीप पालकयान विमान आदि का वर्णन है। उसकी तुलना समवायांग (सम.1, सूत्र 19,20,21,22) से की जा सकती है और साथ ही प्रज्ञापना (पद 2) और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (वक्ष1 सूत्र 3) से भी की जा सकती है।
- ★ स्थानांग के 95 वें सूत्र में जीव-अजीव आवलिका का वर्णन है। यही वर्णन समवायांग (4/4/95), प्रज्ञापना (पद1, सूत्र1), जीवाभिगम (प्रति1 सूत्र1) और उत्तराध्ययन (36) में भी है।
- ★ स्थानांग (2/4/110) में पूर्व भाद्रपद आदि के तारों का वर्णन है तो सूर्य प्रज्ञप्ति (प्रा.10, प्रा.9, सूत्र 42) और समवायांग (2/5) में भी यही वर्णन मिलता है।
- ★ स्थानांग (3/1/126) में तीन गुप्तियों एवं तीन दण्डको का वर्णन मिलता है। समवायांग (3/1) प्रश्नव्याकरण (5वाँ संवर द्वार), उत्तराध्ययन

(31) और आवश्यक (अ.4) में भी यही वर्णन है।

- ★ स्थानांग (3/3/182) में उपवास करने वाले श्रमण को कितने प्रकार के धोवन पानी लेना कल्पता है, यह वर्णन मिलता है। यह वर्णन समवायांग (3/3) प्रश्न व्याकरण (5वां संवर द्वार), उत्तराध्ययन (31), और आवश्यक सूत्र (अ.4) में प्रकारान्तर से मिलता है।
- ★ स्थानांग (3/4/214) में विविध दृष्टियों से ऋद्धि के तीन प्रकार बताये गये हैं। इसी प्रकार का वर्णन समवायांग (3/4), प्रश्न व्याकरण (5वां संवर द्वार) में भी मिलता है।
- ★ स्थानांग (3/3/226) में अभिजित, श्रवण, अश्विनी, भरणी, मृगशिर, पुष्य, ज्येष्ठा के तीन-तीन तारे कहे गये हैं। यही वर्णन समवायांग (3/6), और सूर्य प्रज्ञप्ति (10/9/42) में भी प्राप्त है।
- ★ स्थानांग (4/1/247) में चार ध्यान का स्वरूप और प्रत्येक ध्यान के लक्षण तथा आलम्बन बताये गये हैं, वैसा ही वर्णन समवायांग (4/2), भगवती (25/7/282) और औपपातिक (सूत्र30) में भी मिलता है।

□ निदेशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई.टी.आई. रोड़, वाराणसी

सूत्रकृतांग सूत्र : एक दार्शनिक अध्ययन

□ डॉ. श्रीप्रकारा पाण्डेय

समग्र भारतीय संस्कृति एवं विचारधारा का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक विकास एवं लोक कल्याण रहा है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन जिसका मूल स्वर अध्यात्मवाद है, की रुचि किसी काल्पनिक एकांत में न होकर मानव समुदाय के कल्याण में रही है। भारतीय दर्शन की दो प्रमुख धाराओं-वैदिक एवं अवैदिक में से अवैदिक धारा के प्रतिनिधि जैन दर्शन में आत्मवाद, कर्मवाद, परलोकवाद एवं मोक्षवाद का विशद विवेचन मिलता है। इन चारों सिद्धान्तों में भारतीय दर्शनों की मूल प्रवृत्तियाँ समविष्ट हैं। जैन दर्शन के ये सिद्धान्त उनके आगमों में सुरक्षित हैं।

आगम ही जैन परम्परा के वेद एवं पिटक हैं। जैन परम्परा, इतिहास और संस्कृति के विशेष निधि रूप से आगम-अंग, उपांग, मूलसूत्र, छेदसूत्र, चूलिका एवं प्रकीर्णकों में वर्गीकृत हैं। समस्त जैन सिद्धान्त बीजरूप में इनमें सुरक्षित हैं। काल की दृष्टि से अंग प्राचीनतम हैं। वर्तमान में उपलब्ध 11 अंगों में सूत्रकृतांग जिसके एकार्थक नाम सूतकृत, सूलकृत, सूचाकृत, भी हैं, का द्वितीय एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु दार्शनिक साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इसका महत्त्व आचारांग से भी अधिक है। यह स्वसमय (स्व-सिद्धान्त) और पर समय (पर-सिद्धान्त) का ज्ञान (सत्यासत्य दर्शन) कराने वाला शास्त्र है।

दो श्रुतस्कंधों में विभक्त सूत्रकृतांग में कुल 23 अध्ययन एवं तैंतीस उद्देशन काल तथा 36,000 पद हैं। सूत्रकृतांग के 23 अध्ययन इस प्रकार हैं- समय, वैतालीय, उपसर्गपरिज्ञा, स्त्री परिज्ञा, नरकविभक्ति, महावीरस्तुति, कुशील परिभाषक, वीर्य, धर्म, समाधि मार्ग, समवसरण, यथातथ्य, ग्रन्थ, यमातीत, गाथा, पुण्डरीक क्रिया स्थान, आहारपरिज्ञा, प्रत्याख्यान क्रिया, अनगार सूत्र, आर्द्रकीय एवं नालंदीप। “समय” नामक प्रथम अध्ययन में स्वसमय, परसमय का निरूपण करते हुए पंचभूतवादी, अद्वैतवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी, अकर्तावादी, पंच भूतात्मषष्ठवादी, अक्रियावादी सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है तथा नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद एवं लोकवाद का निरसन किया गया है। “वैतालीय” अध्ययन में शरीर की अनित्यता,

उपसर्गसहन, कामपरित्याग, और अशरणत्व आदि का प्ररूपण है। “उपसर्गपरिज्ञा” में श्रमण धर्म का पालन करते समय उपस्थित होने वाले विभिन्न उपसर्गों का सांगोपांग विवेचन है। “स्त्रीपरिज्ञा” अध्ययन में स्त्रीजन्म उपसर्ग तथा साधु को उससे बचने तथा ब्रह्मचर्य में स्थिर रहने की आवश्यकता को बतलाया गया है। “नरकविभक्ति” में नरक के घोर दुःखों का वर्णन है। ‘वीरस्तुति’ में अनेक गुणों से विभूषित भगवान महावीर की महिमा का वर्णन विविध उपमाओं द्वारा किया गया है। “कुशील” परिभाषित नामक सातवें अध्ययन में कुशीलकृत जीव हिंसा एवं उसके दुष्परिणाम तथा सुशील साधक के आचार विचार के विवेक सूत्र, “वीर्य” अध्ययन में वीर्य संबंधी विवेचन, “धर्म” में जिनोक्त श्रमण धर्म का निरूपण, “समाधि” अध्ययन में समाधि प्राप्ति के प्रेरणा सूत्र विवेचित हैं, “मार्ग” में महावीरोक्त मार्ग को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित करते हुए अहिंसादि धर्मों का निरूपण, “समवसरण” नामक अध्ययन में एकान्त अज्ञानवाद, क्रियावाद, विनयवाद का खण्डन, “याथातथ्य” में उत्तम साधु आदि के लक्षण, “आदानीय” में स्त्री सेवन आदि के त्याग का विधान, “ग्रन्थ” में गुरुकुलवासी साधु द्वारा शिक्षा ग्रहण विधि तथा गुरुकुलवास के महत्त्व और लाभ, तथा “गाथा” अध्ययन में माहण, श्रमण, मिश्रु और निर्ग्रन्थ की व्याख्या की गयी है। द्वितीय श्रुतस्कंध के “पुण्डरीक” अध्ययन में लोक को पुष्करिणी की संज्ञा देते हुए तज्जीवतच्छरीरवाद आदि मतों का खण्डन, तथा अशन, पान, खादिम, स्वादिम रूप आहारग्रहण विधि, “क्रियास्थान” अध्ययन में 13 क्रियास्थानों का वर्णन, “आहारपरिज्ञा” अध्ययन में अनेकविध वनस्पति कायिक जीवों की उत्पत्ति, मनुष्य तथा त्रस प्राणियों की उत्पत्ति एवं समुच्चय रूप से समस्त जीवों की आहारादि प्रक्रिया का निरूपण किया गया है। “प्रत्याख्यान” अध्ययन में अप्रत्याख्यानी आत्मा का स्वरूप तथा जीवहिंसा हो जाने पर प्रत्याख्यान की आवश्यकता, ‘अनाचार श्रुत’ अध्ययन में साधुओं के अनाचार के निषेध सूत्र, ‘आर्द्रकीय’ में गोशालक, शाक्यमिश्रु, ब्राह्मण, एकदण्डी तापसे के साथ आर्द्रक मुनि संवाद एवं “नालन्दीप” नामक अंतिम अध्ययन में गौतम गणधर का नालन्दा में पार्वनाथ शिष्य उदक-पेदाल पुत्र के साथ वाद-विवाद का वर्णन है।

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध में मुख्यतः अन्य मतवादों का खण्डन किया गया है जो दूसरे श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन में भी वर्णित है। द्वितीय श्रुतस्कंध जो अधिकांशतः गद्य में है लगभग उन्हीं विषयों की व्याख्या करता है जो प्रथम श्रुतस्कंध में हैं। दूसरे शब्दों में इसे प्रथम श्रुतस्कंध का पूरक कहा जा सकता है। जो निश्चित रूप से बाद में सूत्रकृतांग में जोड़ा गया है। दूसरे श्रुतस्कंध में मुख्यतः नवदीक्षित श्रमणों के आचार का वर्णन है। क्योंकि प्राचीन परम्परा के अनुसार श्रमण जीवन के चौथे वर्ष के बाद ही उन्हें सूत्रकृतांग पढ़ने की अनुमति थी।

इसका मुख्य कारण सम्भवतः यह था कि सूत्रकृतांग में पाये जाने वाले विभिन्न दार्शनिक मतों से कहीं वह प्रभावित न हो जाय या उन्हें अंगीकार न कर ले।

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध का समय प्रथम शताब्दी से पहले का है। द्वितीय श्रुतस्कंध निश्चित रूप से बाद का यानि प्रथम शताब्दी का है। सूत्रकृतांग में जिन मतों का उल्लेख है उनमें से कुछ का संबंध तत्त्ववाद या दर्शन शास्त्र से है एवं कुछ का आचार से है। इन मतों का वर्णन करते समय उस पद्धति को अपनाया गया है जिसमें पूर्वपक्ष का परिचय देकर बाद में उसका खण्डन किया जाता है। बौद्ध परम्परा के अभिधम्म पिटक की रचना भी इसी शैली में की गयी है। सम्पूर्ण सूत्रकृतांग को अध्ययन एवं समीक्षा की दृष्टि से दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम उसका दार्शनिक पक्ष एवं दूसरा-आचार पक्ष। प्रस्तुत पत्र में हमारा अभीष्ट दार्शनिक पक्ष ही है।

दार्शनिक पक्ष :- समस्त भारतीय दर्शनों का एक ही लक्ष्य रहा है। बंधन से मुक्ति या आत्यंतिक दुःखों से निवृत्ति। अन्य दर्शनों की भांति जैन दर्शन की चरितार्थता कर्म से बंधन में पड़ी आत्मा की मुक्ति है। बंधन जैन दर्शन का एक परिभाषिक शब्द है जिसके अनुसार आत्म प्रदेशों के साथ कर्म पुद्गलों का बंध जाना या नीर क्षीरवत् एक रूप हो जाना ही बंधन है एवं इस बंधन से मुक्ति ही मोक्ष है। सूत्रकृतांग का प्रारम्भ ही इस बंधन से मुक्ति के उद्घोष के साथ होता है। सूत्रकृतांग⁽³⁾ के आदि के प्रथम चार पदों में सम्पूर्ण जैन तत्त्व चिंतन का सार समाविष्ट है। ये पद हैं :-

बुज्झिज्ज विउट्टेज्जा	:	समझो और तोड़ो
बंधणं परिजाणिया	:	बंधन को जानकर
किमाह बंधणं वीरे	:	भगवान ने बंधन किसे कहा है
किं वा जाण तिउट्टई	:	और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है।

सूत्रकार ने आदि पद में बोध प्राप्ति जिसका तात्पर्य आत्मबोध से है, का उपदेश दिया है। बोध प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। यह तथ्य सूत्रकृतांग, आचारांग, उत्तराध्ययन⁴ आदि ग्रन्थों में परिलक्षित होता है। आत्मबोध का अर्थ है “में कौन हूँ” आत्मा तत्त्वतः बंधन रहित होते हुए भी इस प्रकार के बंधन में क्यों पड़ी। बंधनों को कौन और कैसे तोड़ सकता है।

बंधन का स्वरूप :- “बध्यते परतन्सीक्रियते आत्माऽनेनेति बंधनम्” (कर्मग्रन्थ टीका) अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा बांधा जाता है या परतन्त्र कर दिया जाता है वह बंधन है। सूत्रकृतांग की शीलांक टीका⁵ में कहा गया है कि आत्मप्रदेशों के साथ जो कर्म पुद्गल एक होकर स्थित हो जाते हैं वे बंधन या बंध कहलाते हैं। वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र⁶ में कषाय युक्त जीव द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण करना बंध है, ऐसा कहा है। अकलंक देव ने बंधन की परिभाषा करते हुए विशेष की अपेक्षा से बंध के दो प्रकार बताये हैं :-

I. द्रव्य बंध एवं

II. भाव बंध⁷

III. द्रव्यबंध :- ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गल प्रदेशों का जीव के साथ संयोग द्रव्यबंध है।⁸

I. भावबंध :- आत्मा के अशुद्ध चेतन परिणाम (भाव) मोह, राग, द्वेष और क्रोधादि जिनसे ज्ञानावरणादि कर्म के योग्य पुद्गल परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, भावबंध कहलाता है।⁹ आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य संग्रह¹⁰ में कर्मबंध के कारणभूत चेतन परिणाम को भावबंध कहा है।

“किमाह बंधणं वीरे” एवं “बंधणं परिजाणिया” में बंधणं शब्द बंधन

के कारणों को भी जानने का निर्देश करता है। स्थानांग, समवायांग, एवं तत्त्वार्थसूत्र में मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व), अविरति कषाय और योग को ही बंधन का कारण माना गया है।

सूत्रकृतांग इनमें से अविरति के पांच भेदों :- हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह में से परिग्रह को कर्मबंध का सबसे प्रबल कारण मानता है क्योंकि हिंसाये परिग्रह को लेकर होती हैं, संसार के सभी समारम्भ रूप कार्य में और मेरा इस प्रकार की स्वार्थ, मोह, आसक्ति, ममत्व और तृष्णा की वृद्धि से होते हैं और यह परिग्रह है।¹¹ अतः वही बंधन का प्रमुख कारण है। बंधन तोड़ने के उपाय के अन्तर्गत सूत्रकार कहते हैं कि

1. समस्त सजीव निर्जीव पदार्थ प्राणी की रक्षा करने में असमर्थ तथा
2. जीवन को क्षणभंगुर मानकर कर्मों के बंधन को तोड़ सकता है अथवा कर्मों से छूट सकता है। “सर्वमेव न ताणइ जीविय चेव संखाए, कम्मुणा व तिउट्टइ”¹²।

इस प्रकार सूत्रकृतांग स्वसिद्धान्त (स्वसमय) की दृष्टि से बंधन और उनके कारणों का स्वरूप बतलाकर परसमय (परसिद्धान्त) के सन्दर्भ में दो मुख्य बातें सूचित करता है। एक तो दूसरे मतवादियों या दार्शनिकों की बंधन विषयक मान्यता तथा आत्मा के स्वरूप-बोध के संबंध में उनके मन्तव्य। यहाँ सूत्रकार का आशय उन सिद्धान्तवादियों से है जिनमें से कुछ आत्मा की सत्ता में विश्वास ही नहीं करते या कुछ मानते भी हैं तो उनके सिद्धान्तकार के मत से भिन्न है। इस सन्दर्भ में सूत्रकृतांग में 180 क्रियावादियों, 84 अक्रियावादियों, 67 अज्ञानवादियों एवं 32 विनयवादियों, इस प्रकार 363 पाखंडियों के सिद्धान्तों का खण्डन कर स्वसिद्धान्त की स्थापना की गयी है, यहाँ उनमें से कुछ प्रमुख मतवादों की समीक्षा करेंगे-

पाँच महाभूतवाद या भूत चैतन्यवाद¹³ :- सूत्रकृतांग की गाथा संख्या सात और आठ में वर्णित इस मत का नाम्मोल्लेख नहीं है, निर्युक्तिकार इसे चार्वाक मत कहते हैं। अवधेय है कि अर्वाचीन चार्वाक मतानुयायी पृथ्वी, जल, तेज, वायु और

आकाश इन पाँच तत्त्वों या पाँच महाभूतों को मानते हैं। प्राचीन लोकायतों के मत में पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार तत्त्व ही हैं। परन्तु अर्वाचीन चार्वाक मतावलम्बी इन पाँच महाभूतों से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। पृथ्वी आदि जो पाँच महाभूत हैं, इनके शरीर रूप में परिणित होने पर इन भूतों से अभिन्न चैतन्य गुण उत्पन्न होता है। उनकी मान्यता है कि जैसे-गुड़, महुआ, आदि के संयोग से मद्शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार इन भूतों के संयोग से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है¹⁴। चूँकि ये भौतिकवादी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं मानते, इसलिए दूसरे मतवादियों द्वारा मान्य इन पंचमहाभूतों से भिन्न परलोकगामी और सुख-दुःख के भोक्ता किसी आत्मा संज्ञक पदार्थ को नहीं मानते। इस अनात्मवाद से ही शरीरात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनसात्मवाद, प्राणात्मवाद एवं विषय चैतन्यवाद फलित हैं जिसे कतिपय चार्वाक दार्शनिक मानते हैं।

निर्युक्तिकार¹⁵ ने इस वाद का खण्डन किया है। अपने मत के समर्थन में निर्युक्तिकार का तर्क है कि पृथ्वी आदि पंचभूतों के संयोग से चैतन्यादि उत्पन्न नहीं हो सकते क्योंकि शरीर के घटक इन पंचमहाभूतों में से किसी में भी चैतन्य नहीं है। अन्य गुण वाले पदार्थों के संयोग से अन्य गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार जैसे बालू में स्निग्धता न होने से उसमें से तेल नहीं निकल सकता। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत रूप पांच इन्द्रियों के जो उपादानकारण हैं, उनका गुण भी चैतन्य न होने से भूतसमुदाय का गुण चैतन्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त एक इन्द्रिय के द्वारा जानी हुई बात दूसरी इन्द्रिय नहीं जान पाती तो फिर मैंने सुना, देखा, चखा, सूँघा इस प्रकार का संकलन रूप ज्ञान किसको होगा? परंतु यह संकलन ज्ञान अनुभव सिद्ध है। इससे प्रमाणित होता है कि भौतिक इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञाता है जो पांचो इन्द्रियों द्वारा जानता है और वही तत्त्व आत्मा है। यह आत्मा द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य है।

सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुतस्कंध के प्रथम “पुण्डरीक” नायक अध्ययन के दसवें सूत्र में भी शास्त्रकार ने द्वितीय पुरुष के रूप में पंचमहाभूतियों की चर्चा की है एवं सांख्य दर्शन को भी परिगणित किया है। यद्यपि सांख्यवादी पूर्वोक्त पंचमहाभूत

तथा छठे आत्मा को भी मानते हैं तथापि वे पंचमहाभूतियों से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि सांख्य दर्शन आत्मा को निष्क्रिय मानकर पंचमहाभूतों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को ही समस्त कार्यों का कर्ता मानता है। आत्मा को सांख्य अकर्ता मानता है। सांख्य पुरुष या आत्मा को प्रकृति द्वारा किये हुए कर्मों का फल भोक्ता और वृद्धि द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों को प्रकाशित करता है। इसलिए “से किण्विमाणे, हर्षं घायमाणे णत्थित्थ दोसो”¹⁶ अर्थात् सांख्य के आत्मा को भारी से भारी पाप करने पर भी उसका दोष नहीं लगता क्योंकि वह निष्क्रिय है। शास्त्रकार कहता है कि यह मत निःसार एवं युक्ति रहित है क्योंकि अचेतन प्रकृति विश्व को कैसे उत्पन्न कर सकती है जो स्वयं ज्ञान रहित एवं जड़ है। तथा सांख्य की दृष्टि में जो वस्तु है ही नहीं वह कभी नहीं होती और जो है उसका अभाव नहीं होता तो जिस समय प्रकृति और पुरुष दो ही थे उस समय यह सृष्टि तो थी ही नहीं फिर यह कैसे उत्पन्न हो गयी। इसका कोई उत्तर सांख्य के पास नहीं है। इस प्रकार लोकायतों का पंचमहाभूतवाद एवं सांख्यों का आंशिक पंचमहाभूतवाद दोनों ही मिथ्या हैं।

एकात्मवाद :- एकात्मवाद को मानने वाले वेदान्ती हैं क्योंकि वे ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त पदार्थों को असत्य मानते हैं एवं चेतन-अचेतन सबको आत्मा या ब्रह्म रूप ही मानते हैं।¹⁷ शास्त्रकार के अनुसार नाना रूप में भासित पदार्थों को भी एकात्मवादी दृष्टान्त द्वारा आत्मरूप ही सिद्ध करते हैं, जैसे पृथ्वी समुदाय रूप पिण्ड एक होते हुये भी नदी, समुद्र, पर्वत, नगर, घर आदि रूपों में नाना प्रकार का दिखाई देता है।¹⁸ आत्मा या ब्रह्म एक ही है, वह अद्वितीय है। सूत्रकृतांग एकात्मवाद को युक्तिहीन बताते हुए उसका खण्डन करता है।

- (i) उसके अनुसार एकात्मवाद में एक के द्वारा किये गये शुभ या अशुभ कर्म का फल दूसरे सभी को भोगना पड़ेगा जो कि अनुचित एवं अयुक्ति युक्त है।
- (ii) एकात्मवाद में एक के कर्मबन्धन होने पर सभी कर्म बंधन से बद्ध और एक के मुक्त होने पर सभी मुक्त हो जायेंगे और इस प्रकार बंधन एवं मोक्ष की अव्यवस्था हो जायेगी।

- (iii) एकात्मवाद में देवदत्त को प्राप्त ज्ञान यज्ञदत्त को होना चाहिए एवं उसी प्रकार एक के जन्म लेने या मरने पर सभी का जन्म लेना या मरना सिद्ध होगा जो कथमपि सम्भव नहीं है।
- (iv) इसके अतिरिक्त जड़ और चेतन सभी में एक ही आत्मा मानने पर जड़ एवं चैतन्य में भेद ही नहीं रह जायेगा। तथा जिसे शास्त्र का उपदेश दिया जाता है एवं जो शास्त्र का उपदेष्टा है दोनों में भेद न हो सकने के कारण शास्त्र की रचना कैसे होगी।

अतः एकात्मवाद अयुक्ति युक्त है क्योंकि “एगो किच्चा सयं पावं तिव्वं दुक्खं नियच्छइ”¹⁹ अर्थात् जो पाप कर्म करता है उसे अकेले ही उसके फल तीव्र दुःख को भोगना पड़ता है, दूसरे को नहीं।

तज्जीवतच्छरीरवाद :- तज्जीवतच्छरीरवाद²⁰ लोकायतों के अनात्मवाद का फलित रूप है। तज्जीवतच्छरीरवादी मानते हैं कि “वही जीव है, वही शरीर है”। शरीर से आत्मा अभिन्न है। वैसे तो जैन दर्शन, न्याय दर्शन आदि भी कहते हैं कि “प्रत्यगात्माभिद्यते” प्रत्येक प्राणी की आत्मा भिन्न है, वह अपने आप में सम्पूर्ण है, पूर्ण शक्तिमान है किन्तु तज्जीवतच्छरीरवादी कहता है कि जब तक शरीर रहता है तब तक ही उसकी आत्मा रहती है, शरीर के नष्ट होते ही आत्मा नष्ट हो जाती है क्योंकि शरीर रूप में परिणित पंचमहाभूतों से जो चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है, वह उनके बिखरते ही या अलग होते ही नष्ट हो जाती है तथा चैतन्य अन्यत्र जाता हुआ प्रत्यक्षतः दिखाई भी नहीं देता इसीलिए कहा गया कि “पेच्चा ण ते संति” अर्थात् मरने के बाद परलोक में वे आत्माएं नहीं जाती²¹। वृहदारण्यक उपनिषद्²² में भी कहा गया है कि प्रज्ञान (विज्ञान) का पिण्ड यह आत्मा, इन भूतों से उठकर (उत्पन्न होकर) इनके नाश के पश्चात् ही नष्ट हो जाता है अतः मरने के पश्चात् इसकी चेतना (संज्ञा) नहीं रहती। बौद्धग्रन्थ “सुत्तपिटक” के उदान तथा “दीघनिकाय के सामव्यफलसुत्त” में भी इसी से मिलते-जुलते मन्तव्यों का उल्लेख है।²³

तज्जीवतच्छरीरवादियों पर आक्षेप करते हुए सूत्रकार कहता है कि यदि शरीर ही आत्मा है एवं लोक-परलोक आदि नहीं हैं तो धनी-निर्धन, रोगी-निरोगी,

सुखी-दुःखी रूप विचित्रताएं क्यों हैं।²⁴ पुनः यदि शरीर ही आत्मा है तो शरीर से आत्मा को वर्ण, गन्ध, रस, आकार-प्रकार आदि के रूप में पृथक करके स्पष्टतया दिखलाया जाना चाहिये। तज्जीवहच्छरीरवादी जीव और शरीर को तलवार और मयान की तरह, मांस और हड्डी की तरह, हथेली और आंवले की तरह, दही और मक्खन की तरह तिल और तेल आदि की तरह पृथक-पृथक उपलब्ध नहीं करा सकता।²⁵ इसलिये उनका मत स्वतः खंडित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त तज्जीवतच्छरीरवाद में पूर्वगृहीत महाव्रतों, त्याग, नियमादि की प्रतिज्ञा का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता। अतः उनका मत समीचीन नहीं है।

अकारवाद या अकर्तृत्ववाद²⁶ :- सांख्य-योग मतवादी आत्मा को अकर्ता मानते हैं। उनके मत में आत्मा या पुरुष अपरिणामी एवं नित्य होने से कर्ता नहीं हो सकता। शुभ-अशुभ कर्म प्रकृति कृत होने से वही कर्ता है। सांख्य-योग के मत में आत्मा अमूर्त, कूटस्थ, नित्य एवं स्वयंक्रिया शून्य होने से कर्ता नहीं हो सकता। शास्त्रकार की अकर्तृत्वादियों के विरुद्ध आपत्ति इस प्रकार है :-

- (i) आत्मा को एकान्त, कूटस्थ, नित्य, अमूर्त, सर्वव्यापी एवं निष्क्रिय मानने पर प्रत्यक्ष दृश्यमान जन्ममरण रूप या नरकादि गमन रूप यह लोक सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि कूटस्थ, नित्य आत्मा एक शरीर व योनि को छोड़कर दूसरे शरीर व योनि में संक्रमण नहीं कर सकता।
- (ii) सामान्यतया जो कर्ता होता है वही भोक्ता होता है। परन्तु उन कर्तृत्ववादियों के मत में कर्ता प्रकृति है, भोक्ता पुरुष है। दानादि कार्य अचेतन प्रकृति करती है और फल भोगता है चेतन पुरुष, जो सर्वथा सिद्धान्त विरुद्ध है।
- (iii) निर्युक्तिकार का मत है कि जब आत्मा कर्ता नहीं है तो बिना कर्म किये सुःख-दुःखादि फलभोक्ता कैसे हो सकता है। इसमें तो कृतनाश एवं अकृतागम दोष प्रसक्त होंगे।
- (iv) सांख्य के मतानुसार यदि मिथ्याग्रहवश आत्मा को एकान्त निष्क्रिय

कूटस्थ मान लिया जायेगा तो न तो विविध दुःखों का नाश होगा, और न ही मोक्षादि की प्राप्ति होगी और उस स्थिति में कूटस्थ, नित्य निष्क्रिय, जड़त्मा 25 तत्वों का ज्ञान भी कैसे हो सकेगा। अतः अकारवाद युक्ति, प्रमाण एवं अनुभव विरुद्ध है।

आत्मषष्ठवाद :- आत्मषष्ठवाद वेदवादी सांख्य एवं वैशेषिकों का मत है। प्रो. हर्मन जैकोबी इसे चरक का मत मानते हैं। इनके अनुसार अचेतन पंचमहाभूत एवं सचेतन आत्मा ये छः पदार्थ हैं। आत्मा और लोक दोनों नित्य हैं। इन छः पदार्थों का सहेतुक या अहेतुक किसी प्रकार से विनाश नहीं होता। ये चेतनाचेतनात्मक पदार्थ अपने-अपने स्वभाव से अच्युत रहकर सदा नित्य रहते हैं।²⁷ भगवद्गीता में आत्मा की त्रिकालाबाधित नित्यता को बताते हुए कहा गया है कि जो असत् है वह हो ही नहीं सकता और जो सत् है उसका अभाव नहीं हो सकता।²⁸ इसी प्रकार सांख्य सत्कार्यवाद के आधार पर आत्मा और लोक की नित्यता सिद्ध करता है।²⁹

आत्मा एवं लोक को नित्य मानने में विरोध जैन दर्शन में भी नहीं है किन्तु जैन दर्शन एकान्त नित्यता का विरोधी है। यदि आत्मा को एकान्त नित्य माना जायेगा तो आत्मा में कर्तृत्व परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकता। कर्तृत्व के अभाव में कर्मबन्धन न होने से सुख-दुःख रूप कर्मफल भोग भी नहीं हो सकता। अतः आत्मा, पंचभूत आदि सभी पदार्थों को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य तथा किसी अपेक्षा से सत् एवं किसी अपेक्षा से असत् अर्थात् सदसत्कार्य रूप न मानकर, एकान्त मिथ्या ग्रहण करना ही आत्मषष्ठवादियों का मिथ्यात्व है।³⁰ प्रत्येक पदार्थ द्रव्य रूप से सत् और पर्याय रूप से असत् या अनित्य है। यहाँ शास्त्रकार ने आत्मषष्ठवादी के मत को अनेकांत की कसौटी पर कसने का सफल प्रयास किया है।

क्षणिकवाद :- बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद, क्षणिकवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पाद पर निर्भर है। यह अनात्मवाद सर्वथा तुच्छभाव रूप नहीं है, क्योंकि आत्मवादियों की तरह पुण्य-पाप, कर्मफल, लोक-परलोक आदि की इसमें मान्यता है। दीधनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त³¹ और मज्झिमनिकाय के सव्वासव्व सुत्त³² के अनुसार महात्मा बुद्ध के समय में आत्मवाद की दो विचारधाराएँ प्रचलित थी-प्रथम शाश्वत आत्मवादी

विचारधारा जो आत्मा को नित्य एवं दूसरी उच्छेदवादी विचारधारा जो आत्मा का उच्छेद अर्थात् उसे अनित्य मानती थी। बुद्ध ने इन दोनों का खण्डन कर अनात्मवाद का उपदेश दिया परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उन्हें आत्मा में विरवांस नहीं था। वे आत्मा को नित्य और व्यापक न मानकर क्षणिक चित संतति के रूप में स्वीकार करते थे। वही मत क्षणिकवाद है जिसके अनुसार आत्मा और सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं। विशुद्धिमग्ग, सुत्तपिटकगत अंगुत्तर निकाय आदि बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार क्षणिकवाद के दो रूप हैं- एक मत रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पंचस्कंधों⁽³³⁾ से भिन्न या अभिन्न सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष व ज्ञानादि के आधार भूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं मानता। दूसरा रूप चार धातुओं-पृथ्वी, जल, तेज और वायु को स्वीकार करता है। ये चारों जगह का धारण, पोषण करते हैं इसलिए धातु कहलाते हैं।³⁴ वे चारों एकाकार होकर भूतसंज्ञक रूप स्कंध बन जाते हैं एवं जब शरीर रूप में परिणित हो जाते हैं तो उन्हीं की जीव संज्ञा होती है। वृत्तिकार शीलांक के अनुसार ये सभी बौद्धमतवादी अफलवादी हैं। जब आत्मा और सभी क्रियाएँ क्षणिक हैं तो क्रिया-क्षण में ही कर्ता आत्मा का समूल विनाश हो जाता है, फिर क्रियाफल के साथ आत्मा संबंध ही कहाँ रहता है। जब फल के समय तक आत्मा भी नहीं रहती और क्रिया भी उसी क्षण नष्ट हो गयी तो ऐहिक-पारलौकिक क्रिया-फल का भोक्ता कौन होगा। पंचस्कंधों से भिन्न यदि आत्मा नहीं माना जायेगा तो सुख, दुःखेंदि फलों का उपभोग कौन करेगा? साथ ही आत्मा के अभाव में बंध-मोक्ष, जन्म-मरण की व्यवस्था गड़बड़ हो जायेगी और शास्त्रविहित प्रवृत्तियाँ निरर्थक हो जायेगी। अतः क्षणिकवादियों का मत असंगत है।

नियतिवाद :- नियतिवाद आजीवकों का सिद्धान्त है। मरंवल्लिपुत्र गोशालक नियतिवाद का प्रवर्तक था। सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध में गोशालक या आजीवक का नामोल्लेख नहीं है परन्तु उपसक दशांग के सातवें अध्ययन के सद्दालपुत्र एवं कुण्डकोलिय प्रकरण में गोशालक और उसके मत का स्पष्ट उल्लेख है। इस मतानुसार उत्थान, कर्मबल, वीर्य, पुरुषार्थ आदि कुछ भी नहीं है। सब भाव सदा से नियत है। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय, संयुक्तनिकाय तथा जैनागम स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, उपासकदशांग आदि में आजीवक मत प्रवर्तक नियतिवादी गोशालक का वर्णन उपलब्ध है।³⁵

नियतिवादी जगत में सभी जीवों का पृथक व स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं। परंतु आत्मा को पृथक-पृथक मानने पर जीव स्वकृत कर्म बंध से प्राप्त सुख-दुःखादि का भोग नहीं कर सकेगा और न ही सुख-दुःख भोगने के लिये अन्य शरीर, गति तथा योनि में संक्रमण कर सकेगा। शास्त्रवार्तासमुच्चय में नियतिवादियों के मत को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि चूंकि संसार के सभी पदार्थ स्व-स्व नियत स्वरूप से उत्पन्न होते हैं अतः ये सभी पदार्थ नियति से नियमित होते हैं जिसे जब-जब जिस रूप में होना होता है वह तब-तब उस रूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रमाण से सिद्ध इस नियति की गति को कौन रोक सकता है। नियतिवादी काल, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ आदि के विरोध का भी युक्तिपूर्वक निराकरण करता है। नियतिवादी एक ही काल में दो पुरुषों द्वारा सम्पन्न एक ही कार्य में सफलता-असफलता, सुख-दुःख का मूल नियति को ही मानते हैं। इस प्रकार नियतिवादियों के अनुसार नियति ही समस्त जागतिक पदार्थों का कारण है।³⁶

सूत्रकार उक्त मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि “णियाऽणिययं संतं अजाणता अबुद्धिया”³⁷ अर्थात् वे अज्ञ नियतिवादी एकान्त नियतिवाद को पकड़े हुए हैं वे यह नहीं जानते कि सुखदुःखादि सभी नियतकृत नहीं होते। कुछ सुख-दुःख नियतिकृत होते हैं क्योंकि उन सुख-दुःख रूप कर्म का अबाधाकाल समाप्त होने पर अवश्य उदय होता ही है जैसे निकाचित कर्म का। परंतु कई सुख-दुःख अनियत होते हैं। अनेक सुख-दुःख पुरुष के उद्योग, काल, स्वभाव और कर्म द्वारा किये हुये होते हैं। अतः केवल नियति ही समस्त वस्तुओं का कारण है ऐसा मानना कथमपि उचित नहीं है। काल, स्वभाव, अदृष्ट, नियति और पुरुषार्थ ये पांचों कारण प्रत्येक कार्य या सुखादि में परस्पर सापेक्ष सिद्ध होते हैं अतः एकांत रूप से केवल नियति को मानना सर्वथा दोष युक्त है।

जैन दार्शनिक चार प्रमुख मतवादों :-

- | | |
|-----------------|----------------------------------|
| 1. क्रियावाद | 2. अक्रियावाद |
| 3. अज्ञेयवाद और | 4. वैनयिकवाद का उल्लेख करते हैं। |

1. क्रियावादी :- जो आत्मा की सत्ता में विश्वास करते हैं,
2. अक्रियावादी :- जो इससे विपरीत मत रखते हैं,

3. अज्ञानवादी:- जो यह मानते हैं कि मोक्ष के लिए ज्ञान नहीं बल्कि तप आवश्यक है।
4. विनयवादी :- जो विनय को ही मोक्ष का साधन मानते हैं।

अज्ञानवाद स्वरूप³⁸ :- अज्ञानवादियों के सन्दर्भ में दो प्रकार के मत मिलते हैं- एक तो वे अज्ञानवादी हैं जो स्वयं के अल्प मिथ्याज्ञान से गर्वोन्मत्त समस्त ज्ञान को अपनी विरासत मानते हैं, जबकि यथार्थतः उनका ज्ञान पल्लवग्राही होता है। ये तथाकथित शास्त्रज्ञानी वीतराग सर्वज्ञ की अनेकान्तवाद तत्त्वज्ञान से युक्त वाणी को असत्य समझकर उसे संशयवाद की संज्ञा देकर टुकरा देते हैं। दूसरे अज्ञानवादी अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानते हैं। उनके मत में ज्ञानाभाव में वे वाद-विवाद, वितण्डा, संघर्ष, अहंकार आदि के प्रपंच से बचे रहेंगे। इसलिए मुमुक्षु को अज्ञान ही श्रेयस्कर है। इन दोनों में से दूसरे प्रकार की भूमिका वाले अज्ञानवादी की तुलना भगवान महावीर के समकालीन मत प्रवर्तक संजयवेलट्टिपुत्र नामक अज्ञानवादी से की जा सकती है जिसके अनुसार यदि आप पूछें कि क्या परलोक है? और यदि मैं समझूँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता। परलोक है भी और नहीं भी, परलोक न है और न नहीं है।³⁹ निष्कर्ष यह कि तत्त्वविषयक अज्ञेयता अथवा अनिश्चितता ही अज्ञानवाद की आधार शिला है। स्पष्ट है कि अज्ञानवादी अस्तित्व और अनस्तित्व के सभी संभावित पहलुओं पर विचार करते थे एवं आति भौतिक या अत्यानुभविक किसी भी कथन के प्रकारों का उन्होंने खण्डन किया। अज्ञानवाद के इस खण्डन में स्याद्वाद के बीजों को खोजा जा सकता है (SECRET BOOK OF THE EAST-VOL.X LV. H. JACOBI PAGE XXVII)

अज्ञेयवादियों का प्रभाव बौद्धों के निर्वाण सिद्धान्त पर भी परिलक्षित होता है जैसा कि पालि ग्रन्थों से स्पष्ट है। प्रोफेसर ओल्डेनवर्ग ने संयुक्त निकाय के राजा पसेणदि एवं खेमा के एक संवाद को आधार बनाते हुए इसकी व्याख्या की है जिसमें राजा मृत्यु के बाद तथागत (आत्मा) के अस्तित्व अन्मस्तित्व के सन्दर्भ में लगभग उसी प्रकार का प्रश्न पूछता है जैसा कि सामञ्जफलसूत्र में संजयवेलट्टिपुत्र

पूछता है। (SECRETED BOOK OF THE EAST VOL 1 PAGE-XXIX) हर्मन जैकोबी का मत है कि बौद्ध संजय के समकालीन अज्ञेयवाद से बहुत प्रभावित थे इसका स्पष्ट प्रमाण महावग्ग में मिलता है। (1/23-24) जिसमें सारिपुत्त एवं मोग्गलान को बुद्ध की दीक्षा के पहले संजय का शिष्य बताया गया है एवं जो लगभग 250 शिष्यों के साथ बौद्ध संघ में आये थे।

अज्ञानवादी असुरक्षित होते हुए भी सुरक्षित एवं अशंकाणीय स्थानों को असुरक्षित और शंकास्पद मान लेते हैं और असुरक्षित एवं शंकाणीय स्थानों को सुरक्षित। वे पैरों पड़े उस पाशबन्धन से छूट सकते हैं पर वे उस बंधन को बंधन ही नहीं समझते।⁴⁰ सूत्रकार के अनुसार अज्ञानवादी का कथन वदहोव्याघात सहारा लेते है। अज्ञानवाद ग्रस्त जब स्वयं सन्मार्ग से अनभिज्ञ है तो उनके नेतृत्व में बेचारा दिशामूढ मार्ग से अनभिज्ञ भी दुःखी होगा। उसी प्रकार जैसे अंधे मार्गदर्शक के नेतृत्व में चलने वाला दूसरा अन्धा भी मार्ग भ्रष्ट हो जाता है।

कर्मापचय निषेधवाद या क्रियावाद :- बौद्ध दर्शन को सामान्यतया अक्रियावादी दर्शन कहा गया है⁴¹ क्योंकि वे कारक को नहीं मानते और कारक के अभाव में कोई क्रिया संभव नहीं है किन्तु सूत्रकृतांग के बारहवें समवसरण अध्ययन में सूत्र 535 की चूर्णि और वृत्ति में बौद्धों को अपेक्षा भेद से क्रियावादी कहा है। क्रियावादी केवल चैत्यकर्म (चित्त विशुद्धि पूर्वक) किये जाने वाले किसी भी कर्म आदि क्रिया को मोक्ष का अंग मानते हैं। बौद्ध चित्तशुद्धिपूर्वक सम्पन्न प्रभूत हिंसा युक्त क्रिया को एवं अज्ञानादि से किये गये निम्न चार प्रकार के कर्मापचय को बंध का कारण नहीं मानते :-

- (i) परिज्ञोपचित कर्म - जानते हुए भी क्रोधवशा शरीर से अकृत एवं केवल मन से चिंतित हिंसादि कर्म।
- (ii) अविज्ञोपचितकर्म - अज्ञानवशा शरीर से सम्पन्न हिंसादि कर्म।
- (iii) ईर्यापथ कर्म - मार्ग में जाते समय अनभिर्साधि से होने वाला हिंसादि कर्म।
- (iv) स्वप्नान्तिक कर्म - स्वप्न में होने वाले हिंसादि कर्म।

बौद्धों के अनुसार ऐसे कर्मों से पुरुष स्पृष्ट होता है बद्ध नहीं, क्योंकि ये चारों कर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते हैं। वे रागद्वेष रहित बृद्धि पूर्वक या विशुद्ध मन से हुए शारीरिक प्राणातिपात को भावविशुद्धि होने के कारण कर्मोपचय नहीं मानते।⁴²

सूत्रकार ने बौद्धों के इन तर्कों को असंगत कहा है। “मैं पुत्र को मारता हूँ” ऐसे चित्त परिणाम को कथमपि भी असंक्लिष्ट नहीं माना जा सकता।⁽⁴³⁾ जो पुरुष किसी भी निमित्त से किसी प्राणी पर द्वेष या हिंसा में नहीं जाता, वह विशुद्ध है और इसलिए पापकर्म बंध नहीं होता, कहना असत्य है। जानकर हिंसा करने से पहले राग, द्वेष, कषाय भाव न आये यह सम्भव नहीं है। वस्तुतः कर्मोपचय में मन ही तो प्रधान कारण है जिसे बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद भी मानता है।⁽⁴⁴⁾ बौद्धों ने भी तो कृत, कारित और अनुमोदित तीनों प्रकार के हिंसादि कार्य को पाप कर्मबन्ध का आदान कारण माना है। ईर्यापथ में भी बिना उपयोग के गमनागमन करना चित्त की संक्लिष्टता है, उससे कर्मबन्ध होता ही है। हों कोई साधक प्रमाद रहित होकर सावधानी से उपयोग पूर्वक चर्या करता है, किसी जीव को मारने की मन में भावना नहीं है तो वहाँ जैन सिद्धान्तानुसार पाप कर्म का बंध नहीं होता।⁴⁵ परन्तु साधारण व्यक्ति बिना उपयोग के प्रमाद पूर्वक चलता है तो पापकर्म बंध होता ही है, अतः क्रियावादियों का मत असंगत है।⁴⁶

जगत्कर्तृत्ववाद :- सूत्रकृतांग में जगत की रचना के सन्दर्भ में अज्ञानवादियों के प्रमुख सात मतों का निरूपण किया गया है-⁴⁷

- (i) किसी देव द्वारा कृत, संरक्षित एवं बोया हुआ।
- (ii) ब्रह्मा द्वारा रचित, रक्षित य उत्पन्न।
- (iii) ईश्वर द्वारा रचित।
- (iv) यह लोक प्रकृति कृत है।
- (v) स्वयंभूकृत लोक।
- (vi) यमराज रचित जगह माया है।
- (vii) लोक अण्डे से उत्पन्न है।

शास्त्रकार की दृष्टि में ये समस्त जगत्कर्तृत्ववादी परामर्श से अनभिज्ञ,

मृषावादी एवं स्वैयुक्तियों के आधार पर अविनाशी जगत् को विनाशी, एकान्त व अनित्य बताने वाले हैं। वस्तुतः लोक या जगत् का कभी नाश नहीं होता क्योंकि द्रव्य रूप से वह सदैव स्थिर रहता है। यह लोक अतीत में था, वर्तमान में है एवं भविष्य में रहेगा। यह सर्वथा अयुक्तियुक्त मान्यता है कि किसी देव, ब्रह्मा या ईश्वर ने जगत् की सृष्टि की। क्योंकि यदि जगत् कृत होता तो नाशवान होता परंतु लोक एकान्ततः ऐसा नहीं है। ये द्रव्यरूप नित्य होने से कार्य है ही नहीं। पर्याय रूप से अनित्य है परन्तु कार्य का कर्ता के साथ कोई अविनाभाव नहीं है। जीव व अजीव अनादि काल से स्वभाव में स्थित हैं, वे कभी नष्ट नहीं होते।

अवतारवाद⁽⁴⁸⁾ :- नियतिवाद की भांति अवतारवाद मत भी आजीवकों का है। समवायांग वृत्ति और सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध के छठे अध्ययन में त्रैराशिकों को आजीवक या गोरालक मतानुसारी बताया गया है, ये आत्मा की तीन अवस्थायें मानते हैं :-

- (i) रागद्वेष सहित कर्मबंधन से युक्त पाप सहित अशुद्ध आत्मा की अवस्था।
- (ii) अशुद्ध अवस्था से मुक्ति हेतु शुद्ध आचरण द्वारा शुद्ध निष्पाप अवस्था प्राप्त करना, तदनुसार मुक्ति में पहुँच जाना।
- (iii) शुद्ध निष्पाप आत्मा का रागद्वेष के कारण उसी प्रकार पुनः कर्मरज से लिप्त हो जाता है जैसे स्वच्छ जल भी आंधी तूफान से उड़ाई गयी रेत व मिट्टी के कारण वह पुनः मलिन हो जाता है।⁴⁹

इस प्रकार आत्मा मुक्ति प्राप्त कर भी क्रीड़ा और प्रदोष के कारण संसार में अवतरित होता है। वह अपने धर्मशासन की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए रजोगुण युक्त होकर अवतार लेता है।⁵⁰ यही तथ्य गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है-

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानम् धर्मस्य, तदात्मानम् सृजाम्यहम्॥

हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब मैं ही

अपने रूप को रचता हूँ। साधु पुरुषों की रक्षा तथा पापकर्म करने वालों का विनाश एवं धर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।

सूत्रकार अवतारवाद का खंडन करते हुए कहते हैं कि जो आत्मा एक बार कर्ममल से सर्वथा रहित हो चुका है, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं निष्पाप हो चुका है वह पुनः अशुद्ध कर्मफल युक्त और पापयुक्त कैसे हो सकता है? जैसे बीज के जल जाने पर उससे अंकुर उत्पन्न होना असम्भव है, वैसे ही कर्मबीज के जल जाने पर फिर जन्ममरण रूप अंकुर का फूटना असंभव है और फिर इस बात को तो गीता भी मानती है :-

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।

नाप्नुवन्ति महात्मनः संसिद्धि परमां गताः॥

मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते॥

गीता-8/15,16

‘कीडापदोसेण’ कहकर अवतारवादी जो अवतार का कारण बतलाते हैं उसकी संगति गीता से बैठती है क्योंकि अवतरित होने वाला भगवान् दुष्टों का नाश करता है तब अपने भक्त की रक्षा के लिए हर सम्भव प्रयत्न करता है और ऐसा करने में उनमें द्वेष एवं राग का होना स्वाभाविक है।

इन अलग-अलग मतवादों के साथ-साथ सूत्रकृतांग में लोकवादियों के मतों की भी समीक्षा की गयी है जिनमें मुख्य रूप से पूरणकाश्यप, मंखलि गोशाल, अजितकेशकम्बल, प्रकुद्धकात्यायन, संजयवेलट्टिपुत्त आदि के मत समविष्ट हैं।

लोकवादियों की इस मान्यता का कि लोक, अनन्त, शाश्वत एवं अविनाशी है, खण्डन करते हुये सूत्रकार^१ कहते हैं कि यदि लोकगत पदार्थों को उत्पत्ति एवं विनाश रहित स्थिर या कूटस्थ नित्य मानते हैं तो यह प्रत्यक्षतः विरुद्ध है क्योंकि इस जगत् में जड़ चेतन कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो परिवर्तनशील न हो, पर्याय रूप से वह सदैव उत्पन्न व विनष्ट होते दीखता है। अतः लोकगत पदार्थ सर्वथा कूटस्थनित्य नहीं हो सकते। दूसरे लोकवादियों की यह मान्यता सर्वथा अयुक्त है कि त्रस सदैव

त्रस पदार्थ में उत्पन्न होता है, पुरुष मरणोपरान्त पुरुष एवं स्त्री मरणोपरान्त स्त्री होती है। आचारांग² स्पष्टतः कहता है कि स्थावर जीव त्रस के रूप में, त्रस जीव स्थावर के रूप में अथवा संसारी जीव सभी योनियों में उत्पन्न हो सकते हैं। अतः उनका मत समीचीन नहीं है।

निष्कर्ष :- इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकृतांग में भगवान महावीर कालीन भारत के जो अन्य विभिन्न दार्शनिक मत थे उन सबके विचारों का खण्डन कर जैन दर्शन के सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है। उस समय प्रचलित ऐसा कोई मतवाद नहीं है जिसे सूत्रकार की पैनी दृष्टि ने स्पर्श न किया हो। चाहे व लोकायतों का मत हो, बौद्धों का मत हो, सांख्य, योग, नैयायिक, मीमांसक तथा वेदान्तियों का मत हो, सूत्रकार ने सभी मतवादों का कुशल समावेश कर उनकी तर्कप्रवण मीमांसा की है। यद्यपि सूत्रकार ने किसी भी सम्प्रदाय विशेष का उल्लेख नहीं किया है, केवल उनके दार्शनिक मन्तव्यों को ही आधार मानकर परपक्ष निरसन एवं स्वपक्ष मण्डन किया है। शैली बहुत कुछ उपनिषदों की है। तथा किन्हीं अर्थों में बौद्धों के ब्रह्मजालसुत की तरह है। सम्प्रदायों का स्पष्ट नामोल्लेख न मिलने का कारण बहुत कुछ सीमा तक उन-उन मतवादों का उस समय पूर्णरूपेण विकसित न होना माना जा सकता है। बाद के टीकाकारों एवं निर्युक्तिकारों ने इन दार्शनिक मन्तव्यों का सम्प्रदाय विशेष सहित नामोल्लेख किया है। सूत्रकृतांग में यद्यपि विभिन्न मतवादों के परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन की प्रतिष्ठा की गयी है, परन्तु यह एक शुरुआत ही थी। टीकाकार एवं निर्युक्तिकारों की आलोचनाएं अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ है एवं तर्कानुप्रणित हैं। जहाँ तक इसमें अन्तर्निहित दार्शनिक विवेचना का प्रश्न है, सूत्रकार ने जिन मतवादों का उल्लेख किया है उनके सिद्धान्तों को जैन दर्शन मान्य अनेकान्तवाद एवं कर्मवाद की कसौटी पर कसते हुए यही बताने का प्रयास किया है कि चाहे वह लोकायतों का शरीरात्मवाद हो, नियतिवादियों का नियतिवाद हो या वेदान्त दर्शन का कूटस्थ आत्मवाद हो- कोई भी दर्शन हमारे सतत् अनुभव रूप व्यक्तित्व की एकता एवं चेतनामय जीवन की जो सतत् परिवर्तनशीलता है की, सम्पूर्ण दृष्टि से समुचित व्याख्या नहीं कर पाता। यह जैन दर्शन की अनेकान्तवादी दृष्टि ही है जो एकान्त शाश्वतवाद एवं एकान्त उच्छेदवाद

के मध्य आनुभविक स्तर पर एक यथार्थ समन्वय प्रस्तुत करती है तथा नैतिक एवं धार्मिक जीवन की तर्क संगत व्याख्या करती है।

सन्दर्भ :-

- (1) सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा 18-20 तथा उनकी शीलांक वृत्ति
- (2) सूत्रकृतांगसूत्र, सम्पादक अमर मुनि, आत्मज्ञान पीठ, भावसार, 1979, पृष्ठ 12-13
- (3) सूत्रकृतांगसूत्र, संपादक मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर 1982, 1/1/1
- (4) उत्तराध्ययन, 8/15
- (5) सूत्रकृतांग शीलांक टीका पत्रांक-12
- (6) सकषायत्वाज्जीव : कर्मणो योग्यान पुद्गलानादन्ते सबंधः

- तत्त्वार्थ सूत्र-8/2

- (7) तत्त्वार्थवार्तिक, 2/10/2
- (8) सर्वार्थसिद्धि, 1/4
- (9) तत्त्वार्थवार्तिक, 2/10
- (10) द्रव्य संग्रह, 2/32
- (11) सूत्रकृतांग 1/1/6, पृष्ठ 10 (मधुकर मुनि)
- (12) (क) सूत्रकृतांग 1/1/5
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक - 14
(ग) सूत्रकृतांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पणी, पृष्ठ 2
- (13) सूत्रकृतांग 1/1/7-8, 2/1/654
- (14) सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ 10, प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ 115
- (15) सूत्रकृतांग निर्युक्ति - गाथा 33
- (16) सूत्रकृतांग, 2/1/657

- (17) सर्वमेतदिदं ब्रह्म, छा.उ. 3/14/1, सर्वखल्विदं ब्रह्म, मैलेयुप. 4/6/3
- (18) सूत्रकृतांग 1/1/9-10
- (19) वही, 1/1/10
- (20) वही, 1/1/11-12, 2/1/648-653, शीलांकवृत्ति पत्रांक 20
- (21) वही, 1/1/10-11, पृष्ठ 26
- (22) बृहद्. उप., 4/6/13
- (23) संते के समण ब्राह्मणा एवं वादिनो एवं दिट्ठानो - तं जीवं तं शरीरं इदमेव सच्चं मोघमञ्चति। सु.पि. उदान, पढमनातित्थिय सुत्तं, पृष्ठ 142
- (24) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक 20-21
- (25) सूत्रकृतांग, 2/1/653
- (26) वही, 1/1/13-14
- (27) वही, 1/1/15-16
- (28) गीता, 2/1/6
- (29) ईश्वर कृष्ण, सांख्यकारिका- 9
- (30) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक 24-25
- (31) दीघनिकाय 1/1, अनु. भिक्षु राहुल सांकृत्यायन एवं जगदीशकरयप, भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद् बुद्ध विहार, लखनऊ
- (32) मज्झिमनिकाय - 1/1/2
- (33) सूत्रकृतांग, 1/1/17-18
- (34) सुत्तपिटक, भाग 3, पृष्ठ 153
- (35) जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग - 2, पृष्ठ 138
- (36) नियतेनैव भावेण सर्वेभावा भवन्ति यत्।
- शास्त्रवार्तासमुच्चम, 2/61
- (37) सूत्रकृतांग, 1/2/28, 1/1/28-32
- (38) वही, 1/2/33-50

- (39) सुत्तपिटक, दीघनिकाय-सामञ्जसफलसुत्त, पृष्ठ 41-53
- (40) सूत्रकृतांग, 1/2/34-35
- (41) सुत्तपिटक आगुत्तर निकाय, पालि, भाग 3, अट्टम निपात,
पृष्ठ 293-96
- (42) सूत्रकृतांग, 1/2/55
- (43) सूत्रकृतांग, शीलांक वृत्ति, पत्रांक 37-40
- (44) धम्मपद, पढमो वग्गो- 1
- (45) दशवैकालिक, 418
- (46) सूत्रकृतांग, 1/2/57-59, पृष्ठ 60-61 (मधुकर मुनि)
- (47) सूत्रकृतांग, 1/3/64-69
- (48) वही, 1/3/70-71
- (49) वही, 1/3/71
- (50) स मोक्ष प्राप्तोऽपि भूत्वा कीलावप्प दोसेण रजसा अवतारते।
- सूयगइ चु. टिप्पणी 12
- (51) सूत्रकृतांग, 1/4/180-81
- (52) आचारांग, 1/9/1/54

□ वरिष्ठ प्रवक्ता

पार्श्वनाथ शोधपीठ

आई.टी.आई. रोड, वाराणसी

स्थानांगसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन

□ प्रो. सागरमल जैन

स्थानांगसूत्र के वर्तमान में अनेक संस्करण उपलब्ध हैं जिनमें गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद द्वारा संचालित “पूजाभाई जैन ग्रन्थमाला” के 23वें पुष्प के रूप में स्थानांग तथा समवायांग का पं. दलसुखभाई मालवणिया कृत जो सुन्दर, सुबोध तथा सुस्पष्ट अनुवाद एवं प्रस्तावना और तुलनात्मक टिप्पणियों के साथ प्रकाशन हुआ है, उससे स्थानांग और समवायांग की विषयवस्तु को समझने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में पं. दलसुख भाई मालवणिया ने इन ग्रन्थों के विषय परिचय के साथ-साथ इनकी रचना शैली एवं रचनाकाल के संबंध में भी विचार किया है। इसी प्रकार मुनि कन्हैयालालजी “कमल” द्वारा संपादित एवं युवाचार्य मधुकर मुनि द्वारा संपादित “स्थानांगसूत्र” और उसकी देवेन्द्रमुनि शास्त्री द्वारा लिखित भूमिका भी स्थानांग के परिचय के लिये महत्वपूर्ण कही जा सकती है। यद्यपि इस भूमिका में मुख्य रूप से पं. दलसुख भाई के लेखन और विशेष रूप से उनकी टिप्पणियों को ही आधार बनाया गया है। इन ग्रन्थों के संबंध में विशिष्ट जानकारी के लिये उन संस्करणों को देखा जा सकता है। यहाँ पर हम संक्षेप में ही इन ग्रन्थों के स्वरूप, रचना शैली, रचनाकाल एवं विषयवस्तु के संबंध में प्रकाश डालेंगे।

स्थानांग का स्वरूप :- द्वादश अंग सूत्रों में स्थानांग तृतीय अंग सूत्र माना जाता है। स्थानांग शब्द स्थान + अंग से बना है। नन्दी सूत्र के अनुसार एक से प्रारम्भ करके एक-एक बढ़ाते हुए 10 स्थानों तक विभिन्न भावों का वर्णन होने से इसे स्थानांग नाम दिया गया है। जिनदासगणि महत्तर के अनुसार जिसका स्वरूप स्थापित किया जाये अथवा ज्ञापित किया जाये, वह स्थान है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार जिसमें जीवादि विषयों का व्यवस्थित रूप से प्रतिपादन किया जाता है वह स्थान है। वस्तुतः यह अर्थ स्थानांग की विषयवस्तु को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किये गये हैं। वस्तुतः यहाँ “स्थान” शब्द संख्या क्रम का सूचक है। उपदेशमाला में “स्थान” शब्द का अर्थ “मान” अथवा “परिमाण” किया गया है इससे इसका संख्यासूचक

होना सिद्ध होता है। वस्तुतः स्थानांग में संख्या के क्रम से बौद्धों के अंगुत्तर निकाय की भाँति विभिन्न विषयों का प्रतिपादन किया गया है। यथा एक-एक वस्तु में क्या है? दो-दो वस्तुयें क्या हैं? आदि। इस क्रम में एक से लेकर दस तक की वस्तुओं की चर्चा की गयी है। समवायांग सूत्र में 12 अंगों का जो परिचय उपलब्ध होता है, उसमें स्पष्ट कहा गया है कि एकविध, द्विविध यावत् दसविध जीव, पुद्गल और लोक स्थिति का वर्णन इस ग्रन्थ में है।

अन्य अंग सूत्रों से स्थानांग के स्वरूप की तुलना करते हुए हम यह पाते हैं कि जहाँ अन्य अंग सूत्रों में मुमुक्षु जीवों के लिए विधि-निषेध रूप से आचार नियमों का प्रतिपादन है अथवा साधक आत्माओं के जीवन विवरण हैं अथवा संवादों के रूप में उपदेश हैं, वहाँ स्थानांग और समवायांग में ऐसा कुछ भी नहीं है। स्थानांग और समवायांग दोनों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि ये ग्रन्थ संग्रहात्मक कोष के रूप में लिखे गये हैं। अन्य अंगों को अपेक्षा इनका विषय निरूपण सर्वथा भिन्न प्रकार का है। स्मृति में सुविधा हो और वह चिरकाल तक स्थिर रह सके इसलिये संख्या के क्रम से विभिन्न आगमों की जानकारी के लिये आवश्यक ऐसी विषय वस्तु को इसमें संग्रहित कर दिया गया है। इन अंगों की विषय निरूपण शैली से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि जब अन्य सभी अंग बन गये होंगे तब स्मृति तथा धारणा की सरलता की दृष्टि से अथवा विषयों के खोज की सुगमता की दृष्टि से इन दोनों अंगों की योजना की गयी होगी तथा इन्हें विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करने हेतु अंगों में समाविष्ट कर लिया गया होगा।

स्थानांगसूत्र में दस अध्याय और सात सौ तेरासी सूत्र हैं। इसके दसवें अध्याय में दस-दस अध्याय वाले दस दशाग्रन्थों का उल्लेख है, किन्तु उनमें कहीं भी स्थानांग का दशा के रूप में उल्लेख नहीं है, इससे ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ दस दशाओं के पश्चात् ही निर्मित हुआ होगा।

स्थानांग का परिचय हमें समवायांग और नन्दीसूत्र में मिलता है। समवायांग के अनुसार स्थानांग में स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त और स्वपर सिद्धान्त का, जीव, अजीव और जीवाजीव का, लोक-अलोक और लोकालोक का, द्रव्य, गुण और पर्यायों का तथा पर्वत, नदी, समुद्र, देवों के प्रकार, पुरुषों के विभिन्न प्रकार,

उनके गोत्र, नदियों, निधियों एवं ज्योतिषिक देवों की विभिन्न गतियों का वर्णन है। नंदी सूत्र में भी लगभग किंचित अंतर के साथ स्थानांग की यही विषयवस्तु निरूपित की गयी है। समवायांग और नंदीसूत्र दोनों ही इसमें एक श्रुतस्कंध, दस अध्ययन, 21 उद्देशन काल, 21 समुद्देशन काल और 72 हजार पदों के होने का उल्लेख करते हैं। परवर्ती श्वेताम्बर ग्रंथों (विधिमार्गप्रपा आदि) में भी इसी आधार पर इसकी विषयवस्तु का उल्लेख मिलता है।

दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थवार्तिक में इसकी विषयवस्तु का निरूपण करते हुए कहा गया है कि “स्थानांग में अनेक आश्रय वाले अर्थों का निर्णय है।” धवला और जयधवला में स्थानांग की विषयवस्तु को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि इसमें एक से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का वर्णन है, जैसे महत् आत्मा एक है, वह बद्ध और मुक्त के भेद से दो प्रकार का है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षणों से युक्त होने के कारण वह तीन प्रकार का है। चार गतियों में संक्रमण करने से चार प्रकार का है। पांच गुणों (भावों) में भेद से वह पाँच प्रकार का है। छः दिशाओं में गमन करने के भेद से जीव छः प्रकार का है। सप्तभंगी के भेद से वह सात प्रकार का है। आठ कर्माश्रवों के आधार पर जीव आठ प्रकार का है। नौ अर्थक होने से वह नौ प्रकार का है। दस स्थान यथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, निगोध, द्विइन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चर्तुइन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय के भेद से दस प्रकार का है। इस प्रकार अजीव पुद्गल भी एक प्रकार, दो प्रकार आदि का है। दिगम्बर परम्परा में इसके पदों की संख्या 42 हजार मानी गयी है।

यदि हम उपर्युक्त विवरणों की तुलना स्थानांग के वर्तमान स्वरूप से करते हैं तो एक-दो आदि संख्या क्रम से इसमें दस संख्या तक के विषयों का निरूपण उपलब्ध होता है, अतः यह कहा जा सकता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में इसके संख्याओं के उत्तरोत्तर क्रम से विवेचन वाले स्वरूप की वर्तमान स्वरूप से कोई भिन्नता नहीं है परन्तु यह स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थवार्तिककार की जानकारी में स्थानांग नहीं था। इसी प्रकार धवला, जयधवला और अंग प्रज्ञप्ति के लेखकों के समक्ष या उनकी जानकारी में भी वर्तमान स्थानांग नहीं था, किन्तु

अनुश्रुति से उन्हें इस संख्या क्रम वाले स्वरूप का बोध था। विषयवस्तु की कल्पना उन्होंने अपने ढंग से की है। श्वेताम्बर परम्परा में 2 हजार और दिगम्बर परम्परा में 42 हजार पद प्रमाण होने की जो बात कही गयी है, वह अतिशयोक्ति पूर्ण ही लगती है। वर्तमान में प्रस्तुत सूत्र का श्लोक परिमाण 3770 है।

स्थानांग का रचना काल :- परम्परागत दृष्टि से सभी अंग आंगों के अर्थ रूप से उपदेष्टा भगवान् महावीर और शब्द रूप से उनके प्रणेता गौतम गणधर आदि माने गये हैं किन्तु यदि हम स्थानांग की विषयवस्तु पर विचार करें तो स्पष्ट रूप से ऐसा लगता है कि इसमें समय-समय पर विषयसामग्री डाली जाती रही है। पं. दलसुख भाई मालवणिया के शब्दों में इस ग्रन्थ की रचना पद्धति को समझ लेने के पश्चात् यह समझना अत्यन्त सरल हो जाता है कि इस ग्रन्थ में समय-समय पर किस प्रकार की विषयवस्तु को जोड़ा जाता रहा है। यद्यपि यह अभिवृद्धि संख्या की दृष्टि से ही हुई है, किन्तु इनका संबंध इतिहास के साथ भी है। इसमें जिस-जिस प्रकार की विषयवस्तु की अभिवृद्धि की गयी है, उसे पहचान पाना भी कठिन नहीं है उदाहरण के रूप में सातवें स्थान में निहनव संबंधी सामग्री और नवें स्थान में गण संबंधी सामग्री बाद में जोड़ी गयी है। स्थानांग को देखने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि सम्यक् दृष्टि सम्पन्न गीतार्थ पुरुषों ने पूर्व परम्परा से चली आने वाली श्रुत सामग्री में महावीर के निर्वाण के पश्चात् यत्र-तत्र हानि-वृद्धि की है। स्थानांग के नवें अध्ययन के तृतीय उद्देशक में भगवान् महावीर के नौ गणों के नाम आते हैं। ये नाम इस प्रकार हैं :- गोदासगण, उत्तरबलिस्सहगण, उद्देहगण, चारणगण, उड्डुवातितगण, विस्सवातितगण, कामडिढतगण, मालवगण और कोडिकगण। कल्पसूत्र की स्थिविरावली में इन गणों की उत्पत्ति इस प्रकार बताई गयी है :- प्राचीन गोत्रीय आर्य भद्रबाहु के चार स्थविर शिष्य थे जिनमें से एक का नाम गोदास था। इन काश्यप गोत्रीय गोदास स्थविर से गोदास नामक गण की उत्पत्ति हुई। एलावच्च गोत्रीय आर्य महागिरि के आठ स्थविर शिष्य थे इनमें से एक का नाम उत्तरबलिस्सह था। इनसे उत्तरबलिस्सह नामक गण निकला। विशिष्ट गोत्रीय आर्य सुहस्ती के बारह स्थविर शिष्य थे जिनमें से एक का नाम आर्य रोहण था। इन्हीं

काश्यप गोत्रीय रोहण से उद्देहगण निकला। उन्हीं गुरु के शिष्य हारितगोत्रीय सिरिगुप्त से चारणगण की उत्पत्ति हुई। भारद्वाजगोत्रीय भद्रजस से उड्डुवाडियगण उत्पन्न हुआ एवं कुंडिल (कुंडलि अथवा कुडिल) गोत्रीय कमडिद्ध स्थविर से वेसवाडियगण निकला। इसी प्रकार कांकदी नगरी निवासी वशिष्ठगोत्रीय इसिगुप्त से मालवगण एवं वग्धावच्चगोत्रीय सुस्थित व सुप्रतिबद्ध से कोडिक नामक गण निकला।

उपर्युक्त उल्लेख में कामडिद्धतगण की उत्पत्ति का कोई निर्देशन नहीं है। संभव है आर्य सुहस्ति के शिष्य कामडिद्ध स्थविर से ही यह गण भी निकला हो। कल्पसूत्र की स्थविरावली में कामडिद्धतगण विषयक उल्लेख नहीं है किन्तु कामडिद्धतकुल संबंधी उल्लेख अवश्य है। यह कामडिद्धतकुल उस वेसवाडिय-विस्सवाडित गण का ही एक कुल है, जिसकी उत्पत्ति कामडिद्ध स्थविर से बतलाई गयी है। उपर्युक्त सभी गण भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग दो सौ वर्ष के बाद के भी हो सकते हैं।

इसी प्रकार स्थानार्ग के सातवें स्थान में जामालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल इन सात निह्नवों का उल्लेख आता है। यह स्पष्ट है कि इनमें से प्रथम दो को छोड़कर शेष पाँच निह्नव भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद की तीसरी शताब्दी से छठीं शताब्दी के मध्य हुए हैं अर्थात् ई.पू. द्वितीय शती से ईसा की प्रथम शती के बीच हुए है। इन निह्नवों के प्रसंग में बोटिक का उल्लेख नहीं पाया जाता। बोटिक की उत्पत्ति वीर निर्वाण संवत् 906 या 909 में मानी गयी है। अतः इतना निश्चित है कि इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से वीर निर्वाण की छठीं शताब्दी अथवा ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद की कोई ऐतिहासिक सामग्री की सूचना इसमें नहीं है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ की रचना का अंतिम स्वरूप वीर निर्वाण की छठीं शताब्दि या ईसा की प्रथम द्वितीय शताब्दी से आगे नहीं जाता। अतः यह मानना अधिक उपयुक्त है कि इस सूत्र की अंतिम योजना वीर निर्वाण की अंतिम शताब्दी में होने वाले किसी गीतार्थ आचार्य ने अपने समय तक की घटनाओं को पूर्व परम्परा से चली आने वाली घटनाओं के साथ मिलाकर की है। यदि ऐसा न माना जाये तो यह मानना पड़ेगा कि महावीर के बाद घटित होने

वाली सभी घटनायें किसी गीतार्थ आचार्य द्वारा इस सूत्र में पीछे से जोड़ दी गयी है। वेसे यह मानने में कोई बाधा नहीं आनी चाहिए कि आगमों को ग्रन्थबद्ध करने वाले देवर्धिगणिक्षमाश्रमण ही स्थानांग और समवायांग को अन्तिम रूप देने वाले रहे होंगे। यद्यपि इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि ग्रन्थ की सम्पूर्ण सामग्री ही अर्वाचीन या परवर्ती है। इसका तात्पर्य मात्र यह है कि ग्रन्थ को अंतिम स्वरूप कब मिला। यद्यपि यह मानना कि यह आगम गणधर कृत ही है और श्रमण भगवान् महावीर ने अपनी सर्वज्ञता में भविष्य काल की घटनाओं को देखकर उनका विवरण प्रस्तुत कर दिया था, व्यक्तिगत श्रद्धा का विषय हो सकता है, परन्तु गवेषणात्मक रूप से तर्क संगत नहीं लगता। मात्र यही नहीं यदि महावीर ने भविष्य काल की घटनाओं को कहा था तो उनके क्रियापद भविष्यकालिक होने चाहिए थे न कि भूतकालिक। जबकि वास्तविकता यह है कि मूल आगम में ये क्रियापद भूतकालिक हैं। अतः यह मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए कि इस ग्रन्थ में महावीर के काल से लेकर वीर निर्वाण की छठीं शताब्दी के अन्त तक की सामग्री का संकलन होता रहा है क्योंकि गोष्ठामाहिल का इसमें उल्लेख है और उसका काल वीर निर्वाण 584 वर्ष उल्लिखित है। पं. दलसुख भाई मालवणिया का यह स्पष्ट विचार है कि वीर निर्वाण 585 अर्थात् ईसा की प्रथम शताब्दी के पश्चात् इसमें किसी सामग्री की अभिवृद्धि नहीं हुई है क्योंकि इसमें वीर निर्वाण स. 609 में होने वाले निहन्व "बोटिक" का उल्लेख नहीं है। यदि स्थानांग में वीर निर्वाण 980 या 993 में हुई वल्लभी वाचना तक परिवर्धन या परिवर्तन हुए होते तो इसमें आठवें स्थान में 8 निहन्वों का उल्लेख अवश्य होता। इनता ही नहीं इसमें उल्लिखित अंग ग्रंथों और उनके अध्ययनों का परिचय भी परिवर्तित हो गया होता। स्थानांग में जिन दस दशाओं और उनके अध्ययनों का उल्लेख मिलता है, वह वल्लभी वाचना के समय के उन ग्रन्थों के अध्ययनों में समवायांग के अनुवाद के 231 से 263 पृष्ठ तक की टिप्पणियों में विस्तार से उल्लिखित है। इसी प्रकार अंग ग्रन्थों की विषयवस्तु में स्थानांग में जो उल्लेख हैं वे समवायांग नंदीसूत्र और नंदी चूर्णी से किस प्रकार भिन्न हैं इसकी चर्चा हमने इसी ग्रन्थ में उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरणदशा और

विपाकदशा की विवेचना करते समय की है। पाठक इसे वहाँ देख सकते हैं। पं. दलसुख भाई मालवणिया लिखते हैं कि इस आधार पर एक बात जो निश्चित होती है वह यह कि वल्लभी वाचना के समय उपलब्ध ग्रन्थों की विषयवस्तु में अभिवृद्धि या कमी नहीं की गयी। यदि की गयी होती तो स्थानांग में अनेक सूत्रों को कम करना होता और अनेक सूत्रों को बढ़ाना होता। वल्लभी वाचना के समय संकलन में पूर्ण प्रामाणिकता रखी गयी। संकलनकर्ता ने अपनी ओर से ग्रन्थों की विषयवस्तु में न तो नई विषयवस्तु को जोड़ा है और न अस्पष्ट और अवाञ्छित विषयवस्तु को परिवर्तित किया है। इतना ही नहीं परस्पर विसंगतियों को उन्होंने हटाने का भी प्रयत्न नहीं किया, मात्र इतना ही किया कि जो वस्तु जिस रूप में थी उसी रूप में व्यस्थित करके ग्रन्थ बद्ध कर दिया। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ को अंतिम रूप वीर निर्वाण संवत् की छठीं शताब्दी के अन्त में अर्थात् ईसा की प्रथम शताब्दी में मिला और उसके बाद इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ।

यद्यपि यह स्पष्ट है कि ग्रन्थ की प्रथम संकलना से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी से इसे अंतिम रूप मिलने तक इसमें कुछ अभिवृद्धि या परिवर्तन हुए, क्योंकि वे इसकी विषय प्रतिपादन शैली आदि से भिन्न हैं। उदाहरण के रूप में स्थानांग में भावी तीर्थकर विमलवाहन का जो विस्तृत जीवन परिचय दिया गया है वह निश्चित रूप से बाद में जोड़ा गया है, क्योंकि वह पूरा विवरण कथा रूप में है और राजा श्रेणिक के जीव का भविष्य में विमलवाहन नामक तीर्थकर के रूप में जन्म लेने का उल्लेख करता है। इसी प्रकार नन्दीश्वर द्वीप के चार पर्वतों के नाम में अंजनक पर्वत का उल्लेख तो अप्रासंगिक नहीं है किन्तु पर्वत का विस्तृत विवरण निश्चित ही कहीं से जोड़ा गया है। इसी प्रकार सुख-शैया, दुःख शैया, मोहनीय स्थान, विभंग ध्यान, बलदेव-वासुदेव का वर्णन, स्वरमंडल प्रकरण और तृतीय स्थान के द्वितीय उद्देशक में गौतम और महावीर के बीच का संवाद यह सब कहीं से इसमें जोड़ा गया है, किन्तु यह सब ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक हो चुका था। इस प्रकार स्थानांग का रचना काल वीर निर्वाण की प्रथम शताब्दी से छठीं शताब्दी तक विस्तृत है। यद्यपि इसे अंतिम रूप वीर निर्वाण छठीं शताब्दी में ही मिला।

स्थानांग के उपलब्ध पाठ को समझने में आचार्यों को कितनी असुविधायें हुई थी तथा पाठभेदों के कारण स्वरूप निर्धारण में किस प्रकार की कठिनाई हुई होगी, इसका चित्रण स्वयं स्थानांग के प्रथम टीकाकार अभयदेवसूरि ने स्थानांग वृत्ति के अन्त की प्रशस्ति में किया है-

सम्प्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः।

सर्वस्वपरशास्त्रानामद्रष्टेरस्मृतेरश्चमे ॥1॥

वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धतः।

सूत्रानामतिगाम्भीर्यात् मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥2॥

- स्थानांगवृत्ति प्रशस्ति

अर्थात् ग्रन्थ को समझने में परम्परा का अभाव है। सुतर्क का वियोग है। सन्न-पर शास्त्र देखे नहीं जा सके हैं और न मुझे उनकी स्मृति ही है। ऐसी स्थिति में उनकी व्याख्या में मतभेद होना स्वाभाविक है। इससे निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अभयदेव के काल तक ग्रन्थ की वाचना में विभिन्नता आ गयी थी। यद्यपि इस विभिन्नता का तात्पर्य विषयवस्तुगत विभिन्नता से न लेकर केवल पाठान्तरों से ही लेना चाहिए। यह स्पष्ट है कि अभयदेव के काल तक अर्धमागधी आगमों पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आ गया था और इसी कारण आगमों में पाठान्तरों की सृष्टि हो गयी थी और अर्धमागधी आगमों में प्रयुक्त बहुत से देशी शब्दों का अर्थ आचार्यों को मालूम नहीं था।

शैली :- जहाँ तक इस सूत्र की शैली का प्रश्न है स्वयं समवायांग में 12 अंगों का परिचय देते हुए स्थानांग के विषय में कहा गया है कि इसमें एकविध-द्विविध यावत् दस विध जीव, पुद्गल और लोक स्थिति का वर्णन है। समवायांग में सूचित यह शैली आज भी इस ग्रन्थ में पायी जाती है। स्थानांग के प्रथम प्रकरण में एक-एक पदार्थ अथवा क्रिया आदि का निरूपण है, द्वितीय में दो-दो का, तृतीय में तीन-तीन का, यावत् अन्तिम प्रकरण में दस-दस पदार्थों अथवा क्रियाओं का वर्णन है। जिस प्रकरण में एक संख्यक वस्तु का विचार है उसका नाम एक स्थान अथवा प्रथम स्थान है। इसी प्रकार द्वितीय स्थान यावत् दशमस्थान के विषय में समझना चाहिए।

इस प्रकार स्थानांग में दस स्थान, अध्ययन अथवा प्रकरण हैं। जिस प्रकरण में निरुपणीय सामग्री अधिक है उसके चार उपविभाग भी किये गये हैं। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ प्रकरण में ऐसे चार-चार उपविभाग हैं तथा पंचम प्रकरण में भी तीन उपविभाग हैं। इनके उपविभागों का पारिभाषिक नाम “उद्देशक” है।

समवायांग की शैली भी इसी प्रकार की है, किन्तु उसमें दस से आगे की संख्या वाली वस्तुओं का भी निरूपण है। अतः उसकी प्रकरण संख्या स्थानांग की तरह निश्चित नहीं है, अथवा यों समझना चाहिए कि उसमें स्थानांग की तरह कोई प्रकरण व्यवस्था नहीं की गयी है। इसीलिये नंदीसूत्र में समवायांग का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमें एक ही अध्ययन है।

स्थानांग व समवायांग की कोश शैली बौद्ध परम्परा एवं वैदिक परम्परा के ग्रंथों में भी उपलब्ध होती है। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय, पुगलपञ्चति, महाव्युत्पत्ति एवं धर्म संग्रह में इसी प्रकार की शैली में विचारणाओं का संग्रह किया गया है। वैदिक परम्परा के ग्रन्थ महाभारत के वनपर्व (अध्याय 134) में भी इसी शैली में विचार संग्रहीत किये गये हैं।

स्थानांग व समवायांग में संग्रह प्रधान कोश शैली होते हुए भी अनेक स्थानों पर या तो शैली खंडित हो गयी है या विभाग करने में पूरी सावधानी नहीं रखी गयी है। उदाहरण के लिये अनेक स्थानों पर व्यक्तियों के चरित्र आते हैं, पर्वतों का वर्णन आता है, महावीर और गौतम के संवाद आते हैं, ये सब खंडित शैली के सूचक हैं। स्थानांग के सूत्र 244 में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय चार प्रकार के हैं, सूत्र 431 में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय पाँच प्रकार के हैं, सूत्र 484 में लिखा है कि तृणवनस्पतिकाय छः प्रकार के हैं। यह अंतिम सूत्र तृणवनस्पतिकाय के भेदों का पूर्ण निरूपण करता है, जबकि पहले के दोनों सूत्र इस विषय में अपूर्ण हैं। अंतिम सूत्र की विद्यमानता में ये दोनों सूत्र व्यर्थ हैं। यह विभाजन की असावधानी का उदाहरण है।

विषय सम्बद्धता का प्रश्न :- संख्या के आधार पर विषयों का संकलन होने के कारण इस ग्रन्थ के अभिधेयों अथवा प्रतिपाद्य विषयों में परस्पर सम्बद्धता

का होना आवश्यक नहीं। यद्यपि वृत्तिकार ने खींचतान कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अमुक विषय के बाद अमुक विषय का कथन क्यों किया गया है परन्तु हमारी दृष्टि में वृत्तिकार ने जो सब सूत्रों के बीच पारस्परिक संबंध बिठाने का प्रयास किया है, वह युक्तिसंगत नहीं लगता। वास्तव में शब्दकोश के शब्दों की भांति इन सूत्रों में परस्पर कोई संबंध नहीं है। संख्या की दृष्टि से जो भी विषय सामने आये उसका उस संख्या वाले अध्ययन में समावेश कर दिया गया। इनमें पारस्परिक संबद्धता केवल संख्या की दृष्टि से है विषय वैविध्य की दृष्टि से नहीं।

स्थानांग और अन्य आगम ग्रन्थ :- स्थानांग ग्रन्थ किसी एक निश्चित विषय का न होकर विविध विषयों का एक संग्रह ग्रन्थ है। यद्यपि इसे अंग ग्रन्थों में स्थान देकर यह माना गया है कि इसमें भगवान् महावीर के उपदेशों का साक्षात् संकलन है किन्तु इसमें भगवान् के उपदेशों का कितना भाग है, यह विचारणीय है। पं. दलसुख भाई के शब्दों में उपर्युक्त चर्चा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समय-समय पर हुए परिवर्धनों से इसमें भगवान् महावीर के साक्षात् उपदेश के अतिरिक्त अधिकांश भाग ऐसा है, जो संकलित किया गया है। स्थानांग में उपलब्ध विषयवस्तु विविध आगमों में भी उपलब्ध होती हैं। स्थानांग के अनेक सूत्र समवायांग में यथावत् रूप में उपलब्ध हैं। मात्र यही नहीं बलदेव और वासुदेव के प्रकरण (अध्ययन सूत्र 672) में विस्तार के लिये समवायांग को देख लेने का निर्देश दिया गया है। वस्तुतः अनेक विषय ऐसे हैं जो स्थानांग की अपेक्षा समवायांग में अधिक विस्तार से विवेचित हुए हैं। यद्यपि पुरुषों के प्रकार संबंधी जो विस्तृत विवरण स्थानांग में है वह समवायांग में नहीं है। यद्यपि इतना स्पष्ट है कि समवायांग की अपेक्षा स्थानांग की विषयवस्तु अधिक प्राचीन है किन्तु स्थानांग में समवायांग का उल्लेख उपलब्ध होना इस बात का भी सूचक है कि स्थानांग की संकलना के समय ही समवायांग की संकलना भी हुई थी।

स्थानांग और समवायांग में यह विषयसाम्य किस प्रकार का है, इसकी सूचना सर्वप्रथम पं. दलसुख भाई ने अपने ग्रन्थ स्थानांग और समवायांग की पादटिप्पणियों में दी है। उसके पश्चात् दोनों की समान विषय वस्तुओं का एक तुलनात्मक विवरण

मुनि श्री कन्हैयालाल जी “कमल” ने अपने स्थानांग सूत्र के परिशिष्ट में दिया है। युवाचार्य मधुकर मुनि जी द्वारा संपादित ‘स्थानांग’ की भूमिका में उपाचार्य देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री ने इन्हीं आधारों पर स्थानांग की विषयवस्तु अन्य आगमों में कहाँ मिलती है उसका उल्लेख अपनी भूमिका में किया है जो इस प्रकार है :-

सन्दर्भ :-

- ★ स्थानांग (10/2) में द्वितीय सूत्र है “एगे आया”। यही सूत्र समवायांग(10/1) में भी शब्दशः मिलता है। भगवती (12/10) में भी इसी का द्रव्य दृष्टि से निरूपण है।
- ★ स्थानांग (1/4) का चतुर्थ सूत्र “एगा किरिया” है। समवायांग (1/5) में भी इसका शब्दशः उल्लेख है। भगवती (1/9) और प्रज्ञापना (पद 16) में भी क्रिया के संबंध में वर्णन है।
- ★ स्थानांग (1/5) में पांचवां सूत्र है- “एगेलोए”। समवायांग (1/7) में भी इसी तरह का पाठ है। भगवती (12/7/7) और औपपातिक (सूत्र 56) में भी यही स्वर मुखरित हुआ है।
- ★ स्थानांग (1/6) में सातवां सूत्र है- “एगे धम्मे”। समवायांग (1/9) में भी यह पाठ इसी रूप में मिलता है। सूत्र कृतांग (2/5) और भगवती (20/2) में भी इसका वर्णन है।
- ★ स्थानांग (1/8) का आठवां सूत्र है “एगे अधम्मे”। समवायांग (1/10) में भी यह पाठ इसी रूप में मिलता है। सूत्रकृतांग (2/5) और भगवती (20/2) में भी इस विषय को देखा जा सकता है।
- ★ स्थानांग (1/11) का ग्यारहवां सूत्र है “एगे पुण्णे”। समवायांग (1/11) में भी इसी तरह का पाठ है। सूत्रकृतांग (2/5) और औपपातिक (सूत्र 34) में भी यह विषय इसी रूप में मिलता है।
- ★ स्थानांग (1/12) का बारहवां सूत्र है “एगे पावे”। समवायांग (1/12) में यह सूत्र इसी रूप में आया है। सूत्रकृतांग (2/5) और औपपातिक

(सूत्र 34) में भी इसका निरूपण हुआ है।

- ★ स्थानांग (1/9-10) का नवम सूत्र “एगे बन्धे” है और दशवां सूत्र “एगे मोक्खे” है। समवायांग (1/1/13-14) में ये दोनों सूत्र इसी रूप में मिलते हैं। सूत्रकृतांग (2/5) और औपपातिक (सूत्र-34) में भी इसका वर्णन हुआ है।
- ★ स्थानांग (1/13-14-15-16) का तेरहवां सूत्र “एगे आसवे” चौदहवां सूत्र “एगे संवरे”, पंद्रहवां सूत्र “एगा वेयणा” और सोलहवां सूत्र “एगा निर्जरा” है। यही पाठ समवायांग (1/15-16-17-18) में मिलता है तथा सूत्रकृतांग (2/5) और औपपातिक (सूत्र 34) में भी इन विषयों का इसी रूप में निरूपण हुआ है।
- ★ स्थानांगसूत्र के 55 वें सूत्र में आर्द्रा नक्षत्र, चित्रा नक्षत्र, स्वाति नक्षत्र का वर्णन है। यही वर्णन समवायांग (सूत्र-23,24,25) और सूर्यप्रज्ञप्ति (पृ.10, पृ.9) में भी मिलता है।
- ★ स्थानांगसूत्र के 328 वें सूत्र में अप्रतिष्ठान नरक, जम्बूद्वीप पालकयान विमान आदि का वर्णन है। उसकी तुलना समवायांग (सम.1, सूत्र 19,20,21,22) से की जा सकती है और साथ ही प्रज्ञापना (पद 2) और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (वक्ष1 सूत्र 3) से भी की जा सकती है।
- ★ स्थानांग के 95 वें सूत्र में जीव-अजीव आवलिका का वर्णन है। यही वर्णन समवायांग (4/4/95), प्रज्ञापना (पद1, सूत्र1), जीवाभिगम (प्रति1 सूत्र1) और उत्तराध्ययन (36) में भी है।
- ★ स्थानांग (2/4/110) में पूर्व भाद्रपद आदि के तारों का वर्णन है तो सूर्य प्रज्ञप्ति (प्रा.10, प्रा.9, सूत्र 42) और समवायांग (2/5) में भी यही वर्णन मिलता है।
- ★ स्थानांग (3/1/126) में तीन गुप्तियों एवं तीन दण्डको का वर्णन मिलता है। समवायांग (3/1) प्रश्नव्याकरण (5वां संवर द्वार), उत्तराध्ययन

(31) और आवश्यक (अ.4) में भी यही वर्णन है।

- ★ स्थानांग (3/3/182) में उपवास करने वाले श्रमण को कितने प्रकार के धोवन पानी लेना कल्पता है, यह वर्णन मिलता है। यह वर्णन समवायांग (3/3) प्रश्न व्याकरण (5वाँ संवर द्वार), उत्तराध्ययन (31), और आवश्यक सूत्र (अ.4) में प्रकारान्तर से मिलता है।
- ★ स्थानांग (3/4/214) में विविध दृष्टियों से ऋद्धि के तीन प्रकार बताये गये हैं। इसी प्रकार का वर्णन समवायांग (3/4), प्रश्न व्याकरण (5वाँ संवर द्वार) में भी मिलता है।
- ★ स्थानांग (3/3/226) में अभिजित, श्रवण, अश्विनी, भरणी, मृगशिर, पुष्य, ज्येष्ठा के तीन-तीन तारे कहे गये हैं। यही वर्णन समवायांग (3/6), और सूर्य प्रज्ञप्ति (10/9/42) में भी प्राप्त है।
- ★ स्थानांग (4/1/247) में चार ध्यान का स्वरूप और प्रत्येक ध्यान के लक्षण तथा आलम्बन बताये गये हैं, वैसा ही वर्णन समवायांग (4/2), भगवती (25/7/282) और औपपातिक (सूत्र30) में भी मिलता है।

□ निदेशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई.टी.आई. रोड़, वाराणसी

स्थानांग एवं समवायांग में पुनरावृत्ति की समस्या

□ डॉ. अशोक कुमार सिंह

परम्परा से द्वादशांगों में, किन्तु आज विद्यमान ग्यारह अंग ग्रन्थों में तीसरे और चौथे अंग के रूप में प्रख्यात स्थानांग एवं समवायांग संग्रह ग्रन्थ माने जाते हैं। इनकी शैली इस प्रकार है कि प्रथम स्थान में एक पदार्थ अथवा क्रिया आदि का निरूपण है, द्वितीय में दो-दो का और तृतीय में तीन-तीन का वर्णन है। स्थानांग में दस स्थानों में एक से दस पदार्थों अथवा क्रियाओं का संग्रह है जबकि शैली में इसके ही अनुरूप, समवायांग में एक से हजारों, करोड़ों और उससे भी आगे की संख्या वाले तथ्यों का निरूपण है। पहले की प्रकरण संख्या दस तक सीमित है जबकि दूसरे की प्रकरण संख्या निश्चित नहीं है। इन दोनों ग्रन्थों की प्रकृति एवं विषय-वैविध्य के सन्दर्भ में जैनविद्या में मूर्धन्य मनीषी पं. बेचर दास दोशी¹ का यह कथन अत्यन्त प्रासंगिक है कि इन दोनों सूत्रों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ये संग्रहात्मक कोश के रूप में निर्मित किये गये हैं। अन्य अंगों की अपेक्षा इनके नाम एवं विषय सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं। इन अंगों की विषय-निरूपण शैली से ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है कि जब अन्य सब अंग पूर्णतया बन गये होंगे तब स्मृति अथवा धारणा की सरलता की दृष्टि से अथवा विषयों की खोज की सुगमता की दृष्टि से पीछे से इन दोनों अंगों की योजना की गई होगी तथा इन्हें विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करने हेतु इनका अंगों में समावेश कर दिया होगा।

उक्त कथन के आलोक में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अंगों में विद्यमान समस्त या अधिकांश तथ्यों की सूचना या सूची इन दोनों अंगों में उपलब्ध है, साथ ही शेष अंगों में प्रदत्त तथ्यों के अतिरिक्त इनमें कोई नवीन तथ्य संगृहीत नहीं होगा। इनको संग्रह ग्रन्थ स्वीकार करने में सबसे प्रमुख आपत्ति इनके क्रम को लेकर होती है यदि ये अन्य अंग ग्रन्थों के निर्मित होने के पश्चात् संगृहीत हुए होते तो इनका क्रम स्वाभाविक रूप से अन्य अंगों के बाद होता। इस दृष्टि से अध्ययन क्रम में ही दोनों ग्रन्थों में प्राप्त विषय-पुनरावृत्ति की समस्या का तथ्यगत विवेचन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। सामान्य अवधारणा है कि इन दोनों अंगों में

पुनरावृत्ति की बहुलता है और यदि पुनरावृत्त विषयों को ग्रन्थ से पृथक् कर दिया जाय तो दोनों ग्रन्थों का कलेवर अत्यन्त छोटा हो जायगा।

दोनों ग्रन्थों में बहुत से ऐसे तत्त्व, पदार्थ या प्रकरण संगृहीत या वर्णित हैं जिनका विवरण एक से अधिक स्थानों पर उपलब्ध है। एक तथ्य का एक से अधिक स्थलों पर प्रतिपादन निरर्थक है। स्वाभाविक रूप से पूर्ववर्ती स्थानों या सूत्रों की अपेक्षा पश्चाद्वर्ती स्थानों या सूत्रों का विवरण अधिक पूर्णता लिये हुए है। परिणामतः तथ्य-विशेष से संबंधित अन्तिम विवरण की उपस्थिति में तद्विषयक अन्य सभी पूर्ववर्ती विवरण अप्रासंगिक या निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं। इन दोनों ग्रन्थों में विषयों का वर्गीकरण, व्यवस्थित योजना के अनुरूप न होना ही मुख्यतः पुनरावृत्ति की समस्या के मूल में हो सकता है। यह भी माना जा सकता है कि ग्रन्थ के आरम्भिक स्थानों में विषय के मुख्य प्रकारों या भेदों को बता दिया गया है। बाद में यथास्थान अवसरानुकूल अन्य भेदों या अवान्तर भेद सहित विषयों का वर्णन किया गया है। श्रुतिपरम्परा द्वारा ही श्रुतियों का ज्ञान होने से ग्रन्थ रचना में स्वाभाविक रूप से स्मरण सुविधा का विशेष ध्यान रखा जाता था। किसी प्रकरण के कुछ अंशों का स्मरण करने पर सम्पूर्ण प्रकरण का स्मरण हो आता है। सम्भवतः इसलिए भी विषय का पहले आशिक और बाद में अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन है। विषय-विशेष का क्रमिक विकास भी इन ग्रन्थों में प्राप्त पुनरावृत्ति का कारण हो सकता है। यह भी सम्भव है कि सूत्रकार की शैली ही ऐसी रही हो। परन्तु उक्त सभी तर्कों को स्वीकार करने में प्रमुख बाधा ग्रन्थ में विषय प्रतिपादन प्रणाली की एकरूपता का अभाव है। यदि कुछ विषयों की एक कारण से या उक्त सभी कारणों से पुनरावृत्ति आवश्यक थी या हुई है तो समस्त विषयों की क्यों नहीं? विषय-प्रतिपादन में एकरूपता का यह अभाव ही पुनरावृत्ति को इन ग्रन्थों का निर्बल पक्ष बना देता है।

पुनरावृत्ति की दृष्टि से स्थानांग में एक पदार्थ अथवा क्रिया के दो स्थानों पर प्रतिपादित किये जाने की बहुलता है। कुछ तथ्यों का तीन, कुछ का चार और कुछ का पाँच स्थलों पर भी निरूपण हुआ है। पुद्गल संबंधी विवरण स्थानांग के दसों स्थानों के अन्त में प्राप्त होता है। जहाँ तक समवायांग में पुनरावृत्ति का प्रश्न है,

निश्चित रूप से इसमें पुनरावृत्त विषयों की संख्या कम है। परन्तु इसमें रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकों आदि का विवरण² एक से तैंतीस समवाय पर्यन्त सभी समवायों में प्राप्त होता है।

पुनरावृत्त पदार्थों की दृष्टि से यह दृष्टान्त सर्वाधिक उल्लेखनीय है। समवायांग में रत्नप्रभा पृथ्वी के कुछ नारकों, शर्करापृथ्वी के कुछ नारकों, असुरकुमारदेवों और भवनवासियों, असंख्यात वर्ष आयुष्कों, गर्भोपक्रान्तिक संज्ञी मनुष्यों, वाणव्यन्तर देवों, ज्योतिष्कदेवों, सौधर्मकल्पदेवों, ईशानकल्प देवों की स्थिति प्रथम समवाय में यथाप्रसंग एक कल्प और एक सागरोपम कही गयी है। यही विवरण 33वें समवाय तक वर्णित है। प्रत्येक समवाय में इन जीवों की स्थिति समवाय की संख्या के अनुरूप बतायी गयी है। यद्यपि जीवों के नाम कहीं पृथक्-पृथक् हैं, कहीं कुछ जीवों को समाविष्ट कर लिया गया है तो कहीं कुछ जीवों को छोड़ दिया गया है। यह सम्पूर्ण विवरण लगभग 71 सूत्रों या सूत्रांशों में (सूत्रों में पदों की संख्या समान नहीं) वर्णित हैं। तैंतीसवें समवाय के दो सूत्रों के विवरण की उपस्थिति में अन्य सभी 69 सूत्रों के विवरण अनावश्यक से प्रतीत होते हैं।

पुनरावृत्ति की दृष्टि से स्थानांग के सभी स्थानों- एक से दस तक-के अन्त में "पुद्गलपद" के अन्तर्गत पुद्गल संबंधी विवरण प्रतिपादित है। प्रथम स्थान में एकप्रदेशावगाढ, एक समय की स्थिति, एक गुण, एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और एक स्पर्श वाले पुद्गल अनन्त कहे गये हैं। इसी प्रकार द्विप्रदेशी आदि से लेकर दस प्रदेशी आदि पुद्गल अनन्त कहे गये हैं। एक से लेकर दस स्थानों में यह विवरण 27 सूत्रों में प्रतिपादित है, जबकि अन्तिम पांच सूत्रों की उपस्थिति में शेष 22 सूत्र अनावश्यक प्रतीत होते हैं।

यद्यपि उक्त दोनों उदाहरण भाव में पुनरावृत्ति के ही निदर्शक हैं परन्तु प्रत्येक समवाय और स्थान में संख्या परिवर्तन से इन्हें पुनरावृत्ति मानने में आपत्ति हो सकती है।

इन दोनों उदाहरणों के अतिरिक्त स्थानांग में बहुत से उदाहरण हैं जिनकी

पुनरावृत्ति हुई है। स्थानांग में पुनरावृत्त सभी पदार्थों का विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व, विषय को स्पष्ट करने के लिए कुछ प्रमुख उदाहरणों को प्रस्तुत किया जा सकता है। स्थानांग में लोकस्थिति का चार, प्रायश्चित्त का पाँच और तृण-वनस्पति का तीन स्थलों पर विवरण संगृहीत है, जिनको निम्न तालिकाओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :-

लोकस्थिति विवरण⁴ :-

स्थानांग 3/2/3/9	4/2/259	6/36	8/14
(1) आकाश पर वायु	→	→	→
(2) वायु पर उदधि	→	→	→
(3) उदधि पर पृथ्वी	→	→	→
(4) पृथ्वी पर	→	→	→
त्रस और स्थावर			

(5) अजीव जीव

पर प्रतिष्ठित →

(6) जीव कर्मों

पर प्रतिष्ठित →

(7) अजीव

जीव द्वारा

संगृहीत

(8) जीव

कर्म द्वारा

संगृहीत

प्रायश्चित्त विवरण⁵

3/4/448	6/19	8/20	9/42	10/73
---------	------	------	------	-------

(1) आलोचना	→	→	→	→
(2) प्रतिक्रमण	→	→	→	→
(3) तदुभय	→	→	→	→
(4) विवेक	→	→	→	
(5) व्युत्सर्ग	→	→	→	
(6) तप	→	→	→	
		(7) छेद	→	→
		(8) मूल	→	→
		(9) अनवस्थाप्य	→	

(10) पारां-

चिक

तृणवनस्पति-विवरण⁶

स्थानांग सूत्र 4/1/57	5/2/146	6/12
(1) अग्रबीज	→	→
(2) मूलबीज	→	→
(3) पर्वबीज	→	→
(4) स्कंधबीज	→	→
	(5) बीजरुह	→

(6) समूर्च्छिम

उपर्युक्त तालिका से ज्ञात होता है कि लोकस्थिति संबंधी 3/2/3/9 आदि तीन सूत्र, 8/114 सूत्र की उपस्थिति में अनावश्यक सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार 10/73 (प्रायश्चित्त) और 6/12 (तृणवनस्पति) की उपस्थिति में क्रमशः 3/4/448 आदि चार और 4/1/57 आदि दो सूत्र निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं।

जैसा कि उपर उल्लेख किया जा चुका है स्थानांग में एक पदार्थ या विषय को दो स्थानों पर प्रतिपादित किये जाने की बहुलता है। ऐसे पदार्थों की संख्या लगभग 70 है। इसके अतिरिक्त लगभग दस विषयों का तीन स्थलों पर चार विषयों का चार स्थलों पर, प्रायश्चित्त का पांच स्थानों पर और पुद्गल का दस स्थानों पर संग्रह है।

दो स्थलों पर पुनरावृत्त तथ्यों का विवरण इस प्रकार है- बोधि के ज्ञानादि,⁷ बुद्ध के ज्ञानबुद्धादि,⁸ धर्म के श्रुतधर्मादि⁹ और प्रत्याख्यान त्याग¹⁰ के मनादि द्वारा, दो और तीन प्रकार, कर्म के प्रदेश कर्मादि¹¹ एवं जम्बूद्वीप में मंदर पर्वत के दक्षिण में हैमवत और उत्तर में हैरण्यवत क्षेत्र में वृत्तवैताढ्य के दो और चार भेद,¹² मंदरपर्वत से दक्षिण में चुल्लहिमवान् वर्षधर से ऊपर कूटों¹³ की और मंदर पर ही महाहदों¹⁴ की संख्या दो और छः बतायी गई है। औपमिक काल के पल्योपमादि¹⁵ तथा दर्शन के सम्यग्दर्शनादि दो और आठ भेद¹⁶ वर्णित हैं। समाधि, उपधान, विवेक आदि बारह प्रतिमाओं का दो स्थलों पर वर्णन है।

पुनः जीव के त्रस और स्थावर के तीन-तीन भेदों की जीव निकाय के 6 भेदों के रूप में पुनरावृत्ति,¹⁷ प्रणिधान,¹⁸ सुप्रणिधान,¹⁹ और दुष्प्रणिधान²⁰ के मन, वचन कायादि क्रमशः तीन और चार भेद, देवों के देवलोक से मनुष्यलोक में शीघ्र न आ सकने²¹ के तीन और चार कारण, वाचना के अयोग्य और योग्य तीन और चार प्रकार के साधु²² प्रक्रज्या के तीन-तीन के चार वर्ग और चार-चार के पाँच वर्ग,²³ वर्णित हैं।

मनुष्य लोक और देवलोक में अन्धकार होने*, देवों के मनुष्य लोक में आगमन*, देवों की सामूहिक उपस्थिति*, देवों का कलकल शब्द*, देवेन्द्रों का मनुष्य लोक में शीघ्र आगमन*, सामानिक आदि देवों के अपने सिंहासन से उठने*, सिंहाद करने*, वस्त्रों के उछालने*, देवों के चैत्यवृक्षों के चलायमान होने* और लोकान्तिक देवों के मनुष्य लोक में आने*, इनमें से प्रत्येक के तीन और चार कारण बताये गये हैं।²⁴

इसी प्रकार शरीर के चार और पाँच प्रकार*, क्षुद्र प्राणी के द्वीन्द्रियादि चार और छः प्रकार²⁵ जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के समीप चार और छः अकर्मभूमियाँ,²⁶ संज्ञी के आहारादि चार और दस प्रकार²⁷, इन्द्रियों के श्रोत्रेन्द्रियादि पाँच और छः विषय²⁸, ऋद्धियुक्त मनुष्यों के पाँच और छः भेद²⁹, जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के समीप वर्षों की संख्या³⁰ और वर्षधर पर्वतों की संख्या छः और सात बतायी गयी है।³¹ समस्त जीवों के आभिनिबोधिकादि छः और आठ प्रकार³², पृथ्वीकायिक की अप्कायिकादि में गति-आगति छः और नौ प्रकार की है।³³

दर्शन परिणाम के सम्यग्दर्शनादि,³⁴ योनि संग्रह के अण्डजादि,³⁵ अण्डज की गति-आगति³⁶ एवं पृथ्वी के रत्नप्रभादि, सात और आठ प्रकार वर्णित हैं।³⁷ सुषमा के अकाल में वर्षादि का न होना³⁸ एवं दुषमा के अकालवर्षादि³⁹ सात और दस लक्षण, जम्बूद्वीप में भारतवर्ष के अतीत उत्सर्पिणी³⁹ आगामी उत्सर्पिणी⁴⁰ में सात और दस कुलकर⁴⁰ बताये गये हैं।

आलोचना देने योग्य साधु के आचारादि स्थान⁴¹, अपने दोषों की आलोचना करने योग्य साधु के स्थानों⁴², तृण-वनस्पति के कूलादि अवयवों⁴³ और सूक्ष्म जीवों के प्राण सूक्ष्मादि भेदों की संख्या⁴⁴ आठ और दस प्रतिपादित है। समवायांग में प्रयोग⁴⁵ के तेरह और पन्द्रह भेद वर्णित हैं।

इसी प्रकार कुछ विषय तीन स्थलों पर संग्रहित हैं जैसे उपघात के उद्गमोपघातादि,⁴⁶ विशोधि के उद्गमविशोधि⁴⁷ आदि तीन, पाँच और दस प्रकार, तृणवनस्पति के अग्रबीजादि चार, पाँच और छः प्रकार, जीव के पृथ्वीकायिक आदि छः, सात और नौ प्रकार,⁴⁸ लोकान्तिक विमान के सारस्वतादि लोकान्तिक देवों के सात, आठ और नौ प्रकार⁴⁹, पृथ्वीकायिकादि विषयक संयम⁵⁰ और असंयम⁵¹ दोनों के सात, दस और सत्रह प्रकार वर्णित हैं।⁵¹

कुछ तथ्य चार स्थलों पर संगृहीत हैं। जैसे लोकस्थिति* की आकाश पर वायु आदि तीन, चार, छः और आठ स्थितियाँ, संसार समापन्नक जीवों के चार, पाँच, सात और आठ प्रकार⁵², संवर के श्रोतेन्द्रिय संवरादि⁵³ और असंवर* के श्रोत्रेन्द्रिय असंवरादि पाँच, छः, आठ और दस प्रकार वर्णित हैं।⁵⁴

प्रायरिचत्त के आलोचनादि तीन, छः, आठ, नौ और दस भेद पाँच स्थलों पर वर्णित हैं। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि पुद्गलों से सम्बन्धीत विवरण सभी दस स्थानों के अन्त में संगृहीत है।

इस प्रकार उक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में पुनरावृत्ति के कारण ग्रन्थ की अनावश्यक वृद्धि पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि जिन तथ्यों का विवेचन लगभग 10 सूत्रों या सूत्रांशों में हो सकता था उनके लिए दो सौ से ऊपर लगभग 210 सूत्रों का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार अनुमानतः 120 सूत्रों की अधिकता स्थानांग में पायी जाती है। स्थानांग में कुल 2831 सूत्र या अनुच्छेद (मधुकरमुनि संस्करण में) उपलब्ध है। इस दृष्टि से स्थानांग में पुनरावृत्त अंशों और समस्त सामग्री का अनुपात 1:25 के लगभग है।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। समवायांग में पुनरावृत्त प्रकरणों की संख्या अत्यल्प है फिर भी कम से कम 70 सूत्र या अनुच्छेद अनावश्यक माने जा सकते हैं।

विभिन्न प्रकरणों से संबंधित पुनरावृत्त स्थलों की विवेचना करने से ज्ञात होता है कि कुछ पुनरावृत्तियाँ युक्तिसंगत हैं। पूर्ववर्ती स्थान में वर्णित विषय के किसी एक भेद के, परवर्ती स्थान में अवान्तर भेद सम्मिलित किये गये हैं जिससे स्वाभाविक रूप से प्रकरण विशेष के भेदों की संख्या में वृद्धि हो गयी है। उदाहरण स्वरूप स्थानांग के छठें स्थान में ज्ञान की दृष्टि से जीव के छः भेद मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, केवलज्ञानी और अज्ञानी बताये गये हैं- (6/1)* इसी प्रकरण के आठवें स्थान में आठ भेद बताये गये हैं।* वहाँ पर पाँच भेद तो पूर्व के समान ही हैं। छठवें भेद अज्ञानी के स्थान पर इसके तीन अवान्तर भेदों मति अज्ञानी, श्रुत अज्ञानी और विभंग अज्ञानी को सम्मिलित कर देने से ज्ञान की दृष्टि से जीवों के भेद की संख्या आठ हो गयी है।

इसी प्रकार पृथ्वीकायिकों की गति-आगति के प्रकरण में दोनों स्थानों के पाँच भेद समान हैं। छठवें स्थान* (6/10) के अन्तिम भेद त्रसकायिकों के बदले 9 वें स्थान* (9/8) में उसके चार उपभेदों-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों की गणना करने से संख्या 9 हो गयी है।

ऋद्धिमंत पुरुषों के प्रसंग में इसके पाँचवें भेद* भावितात्मा (अनगार तप से ऋद्धि-अलौकिक शक्ति प्राप्त करने वाले) के स्थान पर छठें स्थान* में इसके (भावितात्मा अनगार के) दो भेदों जंघाचारण अनगार और विद्याचारण अनगार को समाविष्ट कर लेने से एक वृद्धि हो गयी है। जंघाचारण अनगार को तप के बल से पृथ्वी का स्पर्श किये बिना ही अधर गमनागमन की लब्धि प्राप्त होती है। विद्याचारण वे अनगार कहलाते हैं जिन्हें आकाश में गमनागमन की शक्ति प्राप्त होती है।* उक्त उदाहरणों में पूर्व में वर्णित किसी भेद-विशेष के बदले उसके अवान्तर भेदों को सम्मिलित करने से संख्या में वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त कुछ विषयों के प्रसंग में पूर्व में वर्णित भेद-विशेष को बाद में छोड़ दिया गया है और उसके स्थान पर नये भेदों को समाविष्ट किया गया है, जो तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। सुषमा के 7 और 10 लक्षण दो स्थलों पर वर्णित है।* इनमें दोनों स्थलों के विवरण में 5 लक्षण समान हैं। पाँच के अतिरिक्त मनःशुभता और वचःशुभता हैं। सुषमा के दस लक्षणों के प्रसंग में छठवें भेद मनःशुभता के स्थान पर इसके पाँच भेदों मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस और मनोज्ञ स्पर्श को समाविष्ट कर दस संख्या पूर्ण कर ली गई है। इसके सातवें भेद वचःशुभता को छोड़ दिया गया है जो युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता है।

इसी प्रकार पृथ्वी के सात और आठ भेदों के प्रतिपादन में सातवें भेद (7/24) के स्थान पर आठवें स्थान में दो भेदों अधःसत्तमा और ईषत्प्राग्भारा को सम्मिलित किया गया है।

सर्वजीवों के प्रसंग में जीव के सात और नौ प्रकार बताये गये हैं। दोनों में पाँच प्रकार समान हैं। सात प्रकारों के विवरण में छठें और सातवें प्रकार के रूप में त्रसकायिक और अकायिक का उल्लेख है। जबकि नौ प्रकारों के उल्लेख में त्रसकायिक के बदले इसके चार उपभेदों द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को सम्मिलित करना तो तर्कसंगत है परन्तु सातवें भेद अकायिक को छोड़ देना समीचीन प्रतीत नहीं होता है।

ऐसी ही विसंगति जम्बूद्वीप के अतीत उत्सर्पिणी एवं आगामी उत्सर्पिणी के

सात और दस कुलकरों की उत्पत्ति के प्रसंग में दिखाई पड़ती है। स्वाभाविक रूप से या तो सात कुलकर उत्पन्न हुए थे और होंगे, या दस कुलकर उत्पन्न हुए थे और होंगे। अतः भिन्न-भिन्न संख्याओं के प्राप्त होने का कोई औचित्य नहीं है। 23 वें तीर्थंकर पार्व के 8 गणधरों की संख्या में भी स्थानांग एवं समवायांग में अन्तर दिखाई पड़ता है।

इसके अतिरिक्त अधिकांश पुनरावृत्त प्रकरणों में अन्तिम विवरण पूर्णता लिये हुए है अतः तत्सम्बद्ध शेष विवरण निरर्थक या अनावश्यक प्रतीत होते हैं और ग्रन्थ के आकार में वृद्धिमान करने वाले हैं।

सन्दर्भ :-

1. पं. बेचरदास दोशी, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-1, पारश्वनाथ विद्यापीठ (सं. 6) वाराणसी- 5, द्वि.सं. 1972, पृष्ठ 213।
2. 1/6-7, 2/11-14, 3/17-19, 4/22-23, 33/217-8 समवायांग, सम्पा. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन, समिति, ब्यावर।
3. सूत्र 1/254-256, 2/463-465, 3/541-542, 4/659/662, 5/239-240, 6/129-132, 7/154-155, 8/127-128, 9/73 एवं 10-174-178।
 - * स्थानांग सूत्र, सम्पा. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (जिनागम ग्रंथमाला सं.-7) 1981।
4. तिविधा लोगठिती पण्णत्ता, तं जहा - आगासपइट्टिए वाते, वातपइट्टिए उदही, उदही पइट्टिया पढवी, - 3/2/3/9, स्थानांग।
 - * चउव्विहा..... पुढविपतिट्टिया, तसा थावरा पाणा - 4/2/259, स्थानांग।
 - * छव्विहा.... अजीवा जीवपतिट्टिता, जीवा कम्मपतिट्टिता - 6/36 स्थानांग।
 - * अट्टुविधा - अजीवा जीवसंगहीता-जीवाकम्मसंगहीता-8/14, स्थानांग।

5. तिविधे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा-आलोग्यणारिहे, पडिक्कमणारिहे, तदुभयरिहे- 3/4/448, स्थानांग।
 - * छव्विहे, विवेगारिहे, विउस्सगारिहे, तवारिहे। - 6/19 स्थानांग।
 - * अट्टविहे, छेयारिहे, मूलारिहे, 8/20 स्थानांग।
 - * णवविधे, अणवट्टप्पारिहे। -9/42 स्थानांग।
 - * दसविधे, पारिचियारिहे। -10/73 स्थानांग।
6. चउव्विहा तणवणस्सतिकाइया पण्णत्ता, तं जहा-अग्गबीया, मूलबीया, पोर्बीया, खंधबीया, -4/1/57 स्थानांग।
 - * पंचविहा, खंधबीया, बीयरूहा। -4/2/146 स्थानांग।
 - * छव्विहा, संमुच्छिमा- 6/12 स्थानांग।
7. णाण बोधी चेव दंसणबोधी चेव। 2/4/420।
 - * तिविहा चरित्तबोधी -3/2/176।
8. दुविहा बुद्धा पण्णत्ता - तं जहा णाणबुद्धा चेव, दंसणबुद्धाचेव-2/4/421।
 - * तिविहा चरित्तबुद्धा। -3/2/177।
9. दुविहे धम्मे पण्णत्ते, तं जहा सुयधम्मे चेव, चरित्तधम्मे चेव। -3/3/4/10।
10. दुविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते-मणसा वेगे पच्चक्खाति, वयसा वेगे पच्चक्खाति। -2/1/39।
 - * तिविहे कायसा वेगे पच्चक्खाति। 3/1/27।
11. दुविहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा-पदेसकम्मे चेव, अणुभावकम्मे चेव। -2/3/265।
 - * चउव्विहेकम्मे पगडीकम्मे, ठितीकम्मे, 4/4/406।
12. दो वट्टवेयडूपव्वया पण्णत्ता - बहुसमतुल्लाजाव, तं जहा-गंधावाती चेव, मालवंतपरियाए चेव। -2/274।

- * चंतारि सद्दावती, वियडावाती, 4/307।
13. जम्बूद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाणिणं चुल्लहिमवन्ते, 2/281, वही सूचना 6/86 और 6/87 में वर्णित है।
14. महाहद के संबंध में जो सामग्री द्वितीय स्थान में 2/287-289 में वर्णित है वही सूचना 6ठें स्थान में 88 सूत्र में उपलब्ध है।
15. दुविहे अद्धोवमिए पण्णत्ते तं जहा-पालिओवमे चेव, सागरोवमे चेव, 2/4/405।
- * अट्ठविधे, ओसप्पिणी, उस्सप्पिणी, पोग्गलपरियट्टे, तीतद्धा, अणागतद्धा, सव्वद्धा। -8/39।
16. दुविहे दंसणे पण्णत्ते तं जहा - सम्मदंसणे चेव, मिच्छादंसणेचेव, 2/79।
- * अट्ठविधे, सम्मदंसणे मिच्छादंसणे, सम्मामिच्छदंसणे, चक्खुदंसणे, अचक्खुदंसणे, ओहिदंसणे, केवलदंसणे, सुविणदंसणे। -8/38।
17. तिविहा तसा पण्णत्ता, तं जहा-तेउकाइया, वाउकाइया, उराला, तस, पाणा। -3/326 स्थानांग।
- * तिविहा थावरा पण्णत्ता, तं जहा-पुढविकाइया, आउकाइया, वणस्सइ काइया। -3/327 स्थानांग।
- * छज्जीवणिकायापण्णत्ता, तं जहा-पुढविकाइया, (आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सईकाइया)। तसकाइया। 6/6 स्थानांग।
18. तिविहे पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा - मणपणिहाणे, वयपणिहाणे, कायपणिहाणे- 3/96, स्थानांग।
- * चउव्विहे, उवकरणपणिधाणे- 4/1/104, स्थानांग।
19. तिविहे सुप्पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा मणसुप्पणिहाणे, वयसुप्पणिहाणे, काय-सुप्पणिहाणे। - 3/97 स्थानांग।

- * चउव्विहे, सुप्पणिहाणे- 4/1/105।
- * संजयमणुस्साणं तिविहे सुप्पणिहाणे पण्णत्ते- तं जहा-मणसुप्पणिहाणे, वयसुप्पणिहाणे, कायसुप्पणिहाणे,- 3/98।
एवं संजयमणुस्साणति- 4/1/105।
- 20. तिविहे दुप्पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा - मणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, 3/99, स्थानांग।
 - * चउव्विहे, उवकरणदुप्पणिहाणे- 4/1/106।
- 21. स्थानांग, 3/3/361 (1-3), 4/1/58 (1-4)।
 - * तओ अवायणिज्जा पण्णत्ता, तं जहा - अविणीए, विगतीपडिबद्धे, अतिओसवित पाहुडे, 3/4/476।
 - * चत्तारि, विपाहुडे, माई, 4/3/452।
- 22. तओ कप्पति वाइत्तए, तं जहा - विणीए, अविगतीपडिबद्धे, विओसविय पाहुडे। -3/4/477 स्थानांग।
 - * चत्तारि, अमाई, 4/3/453।
- 23. तिविहा पक्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा-इहलोगपडिबद्धा, दुहतो लोग पडिबद्धा, 3/2/180।
 - * चउव्विहा, अप्पडिबद्धा-4/4/171।
 - * तिविहा, पुतो पडिबद्धा, मग्गतो पडिबद्धा, दुहओ पडिबद्धा, 3/2/181।
 - * चउव्विहा अप्पडिबद्धा। 4/4/572।
 - * तिविहा, तुयावइत्ता, पुयावइत्ता, बुआवइत्ता, 3/2/182।
 - * चउव्विहा, परिपुयावइत्ता, 4/4/574।
 - * तिविहा ओवातपक्वज्जा, अक्खातपक्वज्जा, संगारपलज्जा, 3/2/183।
 - * चउव्विहा विहगगइपन्नणा।- 4/4/573।

- * चउव्विहा णडखइया, भडखइया, सोहखइया,
सियालखइया 4/4/575।
24. स्थानांगसूत्र 3/1/74-86 एवं 4/3/435-449।
25. चउव्विहा खुऔपाणा पण्णत्ता, तं जहा - बेइंदिया, तेइंदिया,
चउरिंदिया, संमुच्छिमपंचिंदिय तिरिक्ख जोणिया। -4/4/552।
- * छव्विहा तेउकाइया, वाउकाइया। -6/68 स्थानांग।
26. चत्तारि अकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-हेमवते, हेरण्णवते,
हरिसवरिसे रम्मगवरिसे। -4/307, स्थानांग।
- * छ देवकुरा, उत्तराकुरा। 6/83।
27. चत्तारि सण्णाओ पण्णत्ताओ, तं जहा - आहारसण्णा, भयसणा,
मेहुणसण्णा, परिग्गहसण्णा। -4/4/578।
- * दस सण्णाओ, कोहसण्णा, (माणसण्णा, मायासण्णा)
लोभसण्णा, लोगसण्णा, ओहसण्णा। -10/115 स्थानांग।
28. पंच इंदियत्था पण्णत्ता, तं जहा- सोतिंदियत्थे, चक्खिंदियत्थे,
घाणिंदियत्थे, जिब्भिंदियत्थे, फासिंदियत्थे। -5/3/176।
- * छ, णोइंदियत्थे। -6/14।
29. पंचविहा - इड्ढिमंता मणुस्सा पण्णत्ता तं जहा -अरहंता, चक्कवट्टी,
बलदेवा, भवियप्पाणो, अणगारा 5/2/67।
- * छव्विहा चारणा विज्जाहरा, 6/21।
30. जम्बूद्वीवे दीवे छव्वसा पण्णत्ता, तं जहा-भरहे, एरवते, हेमवते,
हेरण्णवए, हरिवासे, रम्मगवासे - 6/84।
- * सत्तवासा, महाविदेहे, 7/50।
31. जम्बूद्वीवे दीवे छ वासाहरपव्वतापण्णत्ता, तं जहा- चुल्लहिमवंते,
महाहिमवंतो, जिसढे, णीलवंते, रुप्पो, सिंहरी - 6/85।
32. छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा - आभिणिबोहियणाणी, (सुयणाणी,
ओहिणाणी, मणफज्जवणाणी), केवलणाणी, अण्णाणी। 6/11।

- * अओविधा, मतिअण्णाणी, सुतअण्णाणी, विभंगणाणी,
8/106।
33. पुढविकाइया छगतिया छ आगतिया पण्णत्ता, तं जहा- पुढविकाइए
पुढविकाइएसु उवक्ज्जमाणे पुढविकाइएहिंतो वा (आउकाइएहिंतो वा,
तेउकाइएहिंतो वा, वाउकाइएहिंतो वा, वणस्सइकाइएहिंतो वा),
तसकाइएहिंतो वा उवक्ज्जेज्जा। -6/9 स्थानांग।
- * पुढविकाइया णवगतिया णवआगतिया पण्णत्ता,
बेइदिएहिंतो वा, तेइदिएहिंतो वा, चउरिदिएहिंतो वा, पंचिदिए
हिंतो वा। -स्थानांग।
- * से चेव णं से पुढविकाइए पुढविकायत्तं एवमाइकाइयावि जाव
पंचिदियत्ति। - 1/1।
34. सत्तविहे दंसणे पण्णत्ते, तं जहा-सम्मदंसणे, मिच्छदंसणे,
सम्मामिच्छदंसणे, चक्खुदंसणे, अचक्खुदंसणे, ओहिदंसणे,
ओहिदंसणे, केवलदंसणे। -7/76 स्थानांग।
- * अओविधे दंसणे पण्णत्ते सुविण दसणे। -8/38, स्थानांग।
35. सत्तविधे जोणिसंगहे पण्णत्ते, तं जहा - अंडजा, पोतजा, जराउजा,
रसजा, संसयेगा, संमुच्छिमा, उब्भिगा 7/3 स्थानांग।
- * अओविधे, उववातिया। 8/2, स्थानांग।
36. अंडगा सत्त गतिया सत्त गतिया पण्णत्ता, तं जहा- अंडगे अंडगेसु
उवक्ज्जमाणे, अंडगेहिंतो वा, पोतजेहिंतो वा, जराउजेहिंतो वा,
रसजेहिंतो वा संसेयगेहिंतो वा, संमुच्छिमेहिंतो वा, उब्भिगेहिंतो वा,
उवक्ज्जेज्जा। सच्चेव णं से अंडए अंडगतं वाविप्पजहमाणे अंडगत्ताए
वा, पोतगत्ताए वा, (जराउजत्ताए वा, रसजत्ताए वा, संसेयगत्ताए वा,
संमुच्छिमत्ताए वा, उब्भिगत्ताए वा गच्छेज्जा।)- 7/4 स्थानांग।
- * से चेव णं से पुढविकाइए पुढविकाइयत्तं विप्पजहमाणे,
पुढविकाइयत्ताए वा, (आउकाइयत्ताए वा, तेउकाइयत्ताए वा,

वाउकाइयत्ताए वा, वणस्सइकाइयत्ताए वा) तसकाइयत्ताए वा
अच्छेज्जा। -6/9।

- * आउकाइया छगतिया छआगतिया एवं चेव जाव तसकाइया।
-6/10।
 - * पोतगा सत्तगतिया सत्तागतिया। सत्तण्हवि गतिरागती भाणियव्वा।
-7/5।
 - * अंडगा अओगतिया, उववातिएहिंतो।
 - * से चेव णं से अंडए अंडगतं विप्पजहमाणे उववालियत्ताए वा
गच्छेजा 18/3।
37. एतासि णं सत्तण्हं पुढवीणं सत्तगोत्ता पण्णत्ता, तं जहा पपभारयणप्पभा,
सकरप्पभा, वालुअपपभा, पंकप्पभा, धूमधा, तमा, समतमा। - 7/24
स्थानांग।
- * अट्टपुढवीयाओ पण्णत्ताओ, अहसंतमा, ईसिपब्भारा,
8/10/8।
38. सत्तहिं ठाणेहिं ओगाढं सुसमं जाणेज्जा, तं जहा-अकाले ण वरिसइ,
काले वरिसइ, असाध ण पुज्जति, साधु पुज्जति, गुरुहिं जणो सम्भं
पडिवण्णो, मणोसुहता, वहसुहता। -7/70।
- * दसहिं ठाणेहिं ओगाढं सुसमं जाणेज्जा, तं जहा- अकालेण
वरिसाते, काले वरिसति, असाहू ण पूइज्जति, गुरुसु जणो सम्भं
पडिवण्णो, मणुण्णा सद्दा, भणुण्णा रूवा, मणुण्ण गंधा, मणुण्ण
रसा, मणुण्ण फासा। -10/41।
 - * सत्तहिं ठाणेहिं ओगाढं दुसमं जाणेज्जा, तं जहा- अकाले
वरिसइ, काले ण वरिसइ, असाधू पुज्जति, साधु ण पुज्जति,
गुरुहिं जणो मिच्छं पडिवण्णे मणोदुहता, वइदुहता। -7/69,
स्थानांग।
 - * दसहिं ठाणेहिं ओगाढं जाणेज्जा, तं जहा- अकाले वरिसइ, काले

- ण वरिसइ, असाहू पूइज्जति, साहूण पूइज्जति, गुरुसु जणे
मिच्छं पडिवणो, अमणुण्णा सद्द, अमणुण्णा रूवा, अमणुण्णा
गंधा, अमणुण्णा रसा, अमणुण्णा, फासा, -10/140।
39. जम्बूद्वीवे दीवे भारहे वासे तीताए उस्सप्पिणीए सत्तकुलगरा हुत्था, तं
जहा-
मित्तदामे सुदामे य, सुपासे य सयंपभे।
विमलघोसे सुघोसे य, महाघोसे य सत्तमे॥ -7/61।
* जम्बूद्वीवे दीवे भारहे वासे तीताए उस्सप्पिणीए दस कुलगरा
हुत्था, तं जहा-
संयजले सयाऊ अ, अणंतसेणे य अजितसेणे य।
कक्कसेणे भीमसेणे, महाभीमसेणे य सत्तमे॥ -10/143।
40. जंबुद्वीवे दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए सत्तकुलकरा
भविस्सति-
मित्तवाहण सुभोमे य, सुप्पभे य सयंपभे।
दत्ते सुहुमे सुबंधू य, आगमिस्सेण होक्खती॥ -7/64।
* भविस्सति, तं जहा-सीमंकरे, सीमंधरे, खेमंकरे, खेमंधर
विमलवाहणे, सुमंती, पडिसुते, दढधणू, दसधणू, सतधणू॥
-10/114।
41. अओहिं ठाणेहिं संपण्णे अणगारे अरिहति आलोयणं पडिच्छित्तए, तं
जहा-आयारवं आधारवं, ववहारवं, ओवीलए, पकुव्वए अपरिस्साई,
णिज्जावए, अवायदंसी। -8/18 स्थानांग।
* दसहिं ठाणेहिं, पियधम्मे दढधम्मे -10/72।
42. अओहिं ठाणेहिं संपण्णे अणगारे अरिहति अत्तदोसमालोइत्तए, तं
जहा-जातिसंपण्णे, कुलसंपण्णे, वियसंपण्णे, णाणसंपण्णे,
दसंगसंपण्णे, चरित्तसंपण्णे, खंते, दंते॥ -8/19।
* दसहिं ठाणेहिं, अमायी, अपच्छाणुतावी -10/71।

43. अओविधा तणवणस्सतिकाइया पण्णत्ता, तं जहा-मूले कंदे खंधे, तथा, साले, पवाले, पत्ते, पुप्फे। -8/32।
 * दसविधा, फले, बीये॥ 10/155 स्थानांग।
44. अओसुहुमा पण्णत्ता, तं जहा-पाणसुहुमे, पणगसुहुमे, बीयसुहुमे, हरितसुहुमे, पुप्फसुहुमे, अंडसुहुमे, लेणसुहुमे। -8/35 स्थानांग।
 * दस सुहुमा गणिसुहुमे, भंग सुहुमे। -10/24।
45. गब्भवक्कंतिअपंचिंदियतिरिक्खजोणिआणं तेरसविहे पओगे पण्णत्ते तंजहा-सच्चमणपओगे मोसमणपओगे सच्चामोसम- णपओगे असच्चामोसमण पओगे. सच्चवइपओगे मोसवइपओगे सच्चामोसवइपओगे असच्चामोसवइपओगे ओरालियसरीरकायपओगे ओरालियमीससरीरकायपओगे वेउव्वियसरीरकायपओगे वेउव्वियमीससरीरकायपओगे कम्मइयसरीरकायपओगे। -13/88 समवाय।
 * मणूसानं पण्णरसविहे पओगे पण्णत्ते सच्चवणपओगे (12) आहारायसरीरकायप्पओगे, (13) आहारयमीससरीरकायप्पओगे। -समवाय-15।
46. तिविधे उवघाते पण्णत्ते, तं जहा-उग्गमोवघाते, उप्पायणोवघाते, एसणोवघाते। -3/432, स्थानांग।
 * पंचविधे, परिकम्मोवघाते परिहरणोवघाते। -5/2/131।
 * दसविधे उवघाते पण्णत्ते, णाणोवघाते, दंसणोवघाते, चरित्तोवघाते, अचियत्तोवघाते, सारक्खणोवघाते। -10/84 स्थानांग।
47. तिविधा विसोही पण्णत्ता, तं जहा-उग्गमविसोही, उप्पायण विसोही, एसणाविसोही। -3/433 स्थानांग।
 * पंचविहा, परिकम्मविसोही, परिहरणविसोही। 5/2/132 स्थानांग।

- * दसविधा णाणविसोही, दंसणविसोही, चरित्तविसोही, अचियत्त विसोही, सारक्खण विसोही।
- * चत्तरि सरीरगा कम्ममीसगा पण्णत्ता, तं जहा-ओरालिए, वेउव्विए, आहारए, तेयए। 4/492।
- * पंच सरीरगा, कम्मए। 5/25।
छव्विहा सव्वजीवा, असरीरी। 6/11।
- 48. छव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा-पुढविकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया, 7/8।
- * सत्तविधा सव्वजीवा पण्णत्ता, अकाइया 27/73।
- * णवविहा, बेइंदिया, (तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया)-9/7।
- 49. सारस्सयमाइच्चाणं (देवाणं) सत्तदेवा सत्तदेवसत्ता पण्णत्ता। 7/100।
- * एतेसु णं अओसु लोगतियविमाणेसु अओविधा लोगतिया देवा पण्णत्ता तं जहा-
सारस्सत्तामाइच्चा, वण्णी वरुणा-य गद्धतोया।
तुसिता अव्वाबाहा, अग्गिच्चा चोव बोद्धव्वा॥ 8/46।
णव देवणिकाया पण्णत्ता, चेव रिओो य ॥ 9/34 स्थानांग।
- 50. पण्णत्ते, तं जहा-पुढविकाइय संजमे (आउकाइयसंजमे, तेउकाइयसंजमे, वाउकाइयसंजमे, वणस्सइकाइयसंजमे, तसकाइयसंजमे, अजीवकाइय संजमे) -7/82 स्थानांग।
- * दसविधे संजमे, बेइंदियसंजमे, तेइंदियसंजमे, चउरिंदियसंजमे, पंचिंदियसंजमे अजीव कायसंजमे। -10/8 स्थानांग।
- * सत्तरसविहे असंजमे, 17/118 समवायांग।
- 51. सत्तविधे असंजमे पण्णत्ते, तं जहा- पुढविकाइयअसंजमे, आउकाइय असंजमे, तेउकाइय असंजमे, वाउकाइय असंजमे- 7/83 स्थानांग।

- * दसविधे असंजमे- 10/9 स्थानांग।
 - * सत्तरसविहे संजमे पण्णत्ते, पेहासंजमे उवेहासंजमे उवहऔसंजमे पमज्जणासंजमे मणसंजमे कइसंजमे कायसंजमे॥ -17/117 समवायांग।
52. चउव्विहा संसारसमावण्णगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा-णेरइया, तिरिक्खजोणिया, मणुस्सा, देवा। 4/608।
अहवा पंचविधा, सिद्धा - 5/208।
सत्तविहा, देवीओ।
अओविधा सिद्धा, 8/106।
53. पंचविधे संवरे पण्णत्ते तं जहा-सोतिंदियसंवरे, (चक्खिंदिय संवरे, घाणिंदिय संवरे, जिब्भिंदियसंवरे, फ्रासिंदिय संवरे 5/2/137।
- * छव्विहे, णोइंदियसंवरे, 6/15।
 - * अओविहे, मणसंवरे वइसंवरे, कायसंवरे। -8/11।
 - * दसविधे संवरे पण्णत्ते, उवकरणसंवरे, सूची कसग्गसंवरे, 10/10।
54. पंचविधे असंवरे पण्णत्ते, तं जहा - सोतिंदिय असंवरे (चक्खिंदिय असंवरे, घाणिंदिय असंवरे, जिब्भिंदिय असंवरे, फ्रासिंदिय असंवरे, 5/5/138, छव्विहे णोइंदिय असंवरे -6/16 स्थानांग।
- * अओविहे, मण असंवरे, वइ असंवरे, काय असंवरे। -8/11 स्थानांग।
 - * दसविधे, उवकरण असंवरे सूचीकुमसग्ग असंवरे॥

□ वरिष्ठ प्रवक्ता

पार्श्वनाथ शोधपीठ

आई.टी.आई. रोड़, वाराणसी

व्याख्याप्रज्ञप्ति : स्वरूप एवं विश्लेषण

□ डॉ. माया जैन

आगम साहित्य वीतराग वाणी का सार है। जिन्हें अर्थ रूप में प्रतिपादित किया गया है। अर्थ को (तीर्थकरों के या अर्हत्तों के भाव को) सूत्रबद्ध करने का कार्य इनके प्रमुख शिष्यों ने किया, जिन्हें गणधर कहा गया वे ज्ञानी थे। उनके सूत्रों को आचार्यों के द्वारा विषय एवं प्रसंग के अनुसार विभाजित किया गया। उस विभाजन में भी आगम साहित्य को श्रुत कहा गया अर्थात् जो गुरुमुख से सुना गया, वह श्रुत है। श्रुत भी अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के नाम से विख्यात है।

समस्त श्रुतज्ञान का विषय विश्लेषण महावीर के दो सौ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त के राज्य में हुआ था। उस समय मगध में बारह वर्ष का भीषण अकाल पड़ा जिससे मुनिचर्या कठिन हो गई, फिर भी आगम अर्थात् पूर्व परम्परा से आगत वचनों के सार को सुरक्षित रखने के लिए सर्वप्रथम पाटलीपुत्र में स्थूलभद्राचार्य की अध्यक्षता में वाचना हुई, जिसके परिणाम स्वरूप अंग आगमों का संकलन हुआ। ज्ञान-विज्ञान की अधिकता के कारण आगमों को पूर्व में श्रुत कहा गया और तत्पश्चात् आगम कहे गए, अंतिम वाचना देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वल्लभी में हुई। आगमों को उस समय लिपिबद्ध किया गया। वर्तमान में उपलब्ध अंग, उपांग, छेद-सूत्र, मूल-सूत्र, प्रकीर्णक और चूलिका ग्रंथ का लिखित स्वरूप व्यवस्थित होकर आज प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं।

आगम ज्ञान-विज्ञान के अक्षय भंडार है। वे वीतराग प्रभु की वाणी से निश्चित हैं। उनकी भाषा अर्धमागधी है। यह विचार मगध देश में प्रचलित मागधी एवं अन्य प्रदेशों की भाषाओं के प्रभाव से अर्द्धमागधी कहा गया। अर्धमागधी प्राकृत को पूर्व में आर्ष कहा गया, क्योंकि महावीर ने जनता के बीच में जाकर जन-भाषा का आश्रय लिया और उसी जन-भाषा, लोक-प्रचलित भाषा में जो कुछ कहा गया, वह आर्ष कहलाया। मूल भाषा के प्रयोगों में भेद हो जाना, उसमें परिवर्तन हो जाना, मिश्रण हो जाना स्वाभाविक है, परन्तु आगमों के चिंतन, मनन एवं विभिन्न अंशों एवं वाक्यों के प्रयोग से आगमों की

सूत्र शैली, इस बौद्ध संकेत करती है कि आगम के सूत्र वाक्य से जुड़े हुए हैं, पदों में लालित्य है, काव्य तत्व भी रमणीयता से युक्त है, इनमें छंद माधुर्य है, ज्ञेय तत्व की भी प्रमुखता है और विषय विवेचन में चमत्कार है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति का नामकरण :- मूलतः प्राकृत की दृष्टि से विचार करते हैं तो इसका नाम विवाहपण्णति या वियाहपण्णति नाम है। इसका संस्कृत रूप व्याख्याप्रज्ञप्ति होता है। व्याख्याकारों ने इस ग्रंथ का नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति किया है, समवायांग और नन्दीसूत्र में विवाहपण्णति नाम दिया गया है। षट्खंडागम की धवलाटीका के खंड -1, पुस्तक 1 में आगमों की चर्चा करते हुए व्याख्याप्रज्ञप्ति को वियाहपण्णति (1/1/100) नाम दिया गया है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति का एक प्रचलित नाम भगवती भी है, क्योंकि टीकाकारों ने व्याख्याप्रज्ञप्ति से पूर्व भगवती या भगवई का प्रयोग किया, इसलिए इसका नाम भगवती भी है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति का अर्थ :- विवाहपण्णति या वियाहपण्णति का अर्थ मूलतः बाधाहित वस्तु तत्व का विवेचन करना है। विवाध अर्थात् निर्बाध रूप से या प्रामाणिक रूप से वस्तुतत्व का प्रज्ञप्ति अर्थात् कथन करना, विवाहपण्णति है। दूसरे रूप में यह भी कथन किया जा सकता है कि जिस आगम में विशेष व्याख्यान या विविध विषयों का विवेचन हो, उसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहते हैं। गोम्मटसार जीवकांड में इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए लिखा है :-

विशेषैः बहुप्रकारैः आख्यातं किमस्ति जीवः किं नास्तिजीवः किमेको जीवः किमनेको जीवः किं नित्यो जीवः किमनित्यो जीवः किं वक्तव्यो जीवः किमवक्तव्योः जीवः इत्यादीनि षष्ठिसहस्र संख्यानि भगवदर्हतीर्थकरसन्निधौ गणधरदेवप्रश्न वाक्यानि प्रज्ञाप्यन्ते कथ्यन्ते यस्यां सा व्याख्याप्रज्ञप्तिनामि।

अर्थात् वि/विशेष - नाना प्रकार के जीव हैं, जीव नहीं हैं, जीव एक है, जीव अनेक हैं, जीव नित्य है, जीव अनित्य है, भगवन अर्हत् तीर्थकर के प्रमुख गणधरदेव द्वारा पूछे गए इत्यादि साठ हजार प्रश्नपूर्ण वाक्यों का व्याख्या/

व्याख्यान/कथन या प्रतिपादन जिसमें हो, उसका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है। नामकरण की दृष्टि से अंगपण्णति में जो कुछ कहा गया वह गोम्मटसार की व्याख्या की तरह है, परन्तु इसके नामकरण के दो रूप मिलते हैं - "विवायपण्णति और विवाहपण्णति।" विवाय का अर्थ विपाक भी होता है यदि यह शब्द लिया जाता है तो विपाक का अर्थ परिपाक भी है। अर्थात् जिस आगम में विशिष्ट रूप से या नाना प्रकार से कर्म प्रकृतियों, जीवादि तत्त्वों पर विचार किया गया हो, उसका नाम विवायपण्णति है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति का आख्यान :- विवाहपण्णति णाम अंगं दोहि लक्खेहि अट्टावीस-सहस्सेहि पदेहि किमत्थि जीवो, किं णत्थि जीवो, इच्चेवमाइयाई सट्ठि-वायरण सहस्साणि परुवेदि। (षट् . 1/1/102)। व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक अंग ग्रन्थ में दो लाख अट्टाईस हजार पदों के माध्यम से जीव क्या है? जीव क्या नहीं है? इत्यादि रूप से साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान है। अंगप्रज्ञप्ति ग्रंथ में नय की अपेक्षा से प्रश्नों के उत्तर देने की बात कही गई है। साठ हजार प्रश्नों के उत्तर की अलग-अलग संख्या भी निर्दिष्ट की गई है :-

- (क) अंग (दो लाख अट्टाईस हजार)
- (ख) श्लोक (ग्यारह नील, चौसठ खरब, इक्यासी अरब, उनहत्तर करोड़, सैंतीस लाख, दो हजार प्रमाण)
- (ग) अक्षर (372741419864000) संज्ञा प्रयोजन, लक्षण, विषय वस्तु वर्णन, विवेचन, संशय निवारण आदि प्रत्युत्तर के रूप में होने से व्याख्याप्रज्ञप्ति का महत्व बढ़ जाता है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति की व्युत्पत्ति :- वि+आ+ख्या+प्र+ज्ञप्ति अर्थात् जिस आगम में विविध प्रकार से वस्तु का आख्यान पूर्वक प्रश्न करके जो समाधान दिया जाता है, वह व्याख्याप्रज्ञप्ति है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति :- (व्याख्या + प्रज्ञा + आप्ति) व्याख्या का अर्थ कथन है, प्रज्ञा का अर्थ ज्ञान है और आप्ति का अर्थ ग्रहण करना है? अर्थात् व्याख्या करने

में प्रज्ञ जनों के द्वारा जो ज्ञान व्यक्त किया गया है उसका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति को भगवती भी कहा गया है।

विषय प्रतिपादन :- व्याख्याप्रज्ञप्ति में विविध विषयों का सूत्रात्मक दृष्टि से कथन किया गया है। इसके समग्र विवेचन, कथन या वस्तु वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस आगम में जीव, जगत, तत्व-विज्ञान, ज्ञान-मीमांसा, आचार-मीमांसा, भौगोलिक वर्णन, खगोल विवेचन, गणितीय दृष्टि, धर्म तत्व, कर्म सिद्धान्त, समाज, संस्कृति, राजनीति आदि ज्ञान-विज्ञान के 36000 प्रश्न हैं और उन प्रश्नों का समाधान आधुनिक वैज्ञानिक जगत् के लिए अत्यन्त विचारणीय है। इसमें आज की जटिलतम समस्या पर्यावरण संरक्षण की मानी गई है। यदि इस बात पर गंभीरता से विचार करते हैं तो इसके समाधान के सूत्र भी इस आगम ग्रन्थ में सर्वत्र विद्यमान हैं। जहाँ आगम के सूत्रों में जीव तत्व को महत्व दिया है, वहीं पृथ्वी, जल अग्नि, वायु और समस्त प्रकार की वनस्पतियों का उल्लेख करके यह भी संकेत किया है कि पुढवी जीवा (व्या. 9/ पृष्ठ 511) पृथ्वी जीव है, यह सचित है, इसमें चेतना शक्ति है, इसके दोहन से कुछ समय के लिए खनिज तत्व, आनन्द प्रदान कर सकते हैं, परन्तु वे ही तत्व भूगर्भ को खोखला कर देते हैं, जिससे न केवल पृथ्वी के खनिज तत्वों का अभाव होता है, अपितु पृथ्वी दोहन से जल, अग्नि, वायु और वनस्पतियाँ भी प्रभावित होती हैं। अतः इस आगम के परिवेश में एक से एक विचारणीय ही नहीं, अपितु वैज्ञानिक तथ्य इस बात को पुष्ट करते हैं कि जो भी नैसर्गिक तत्व हैं, उनका सभी तरह से संरक्षण होना चाहिए, नैसर्गिक तत्वों के संरक्षण से हमारी भौगोलिक परिस्थितियाँ भी बनी रहेंगी एवं समस्त प्राण तत्व से युक्त जीव राशियाँ भी सुरक्षित एवं संरक्षित हो सकेंगी।

व्याख्याप्रज्ञप्ति का प्रारम्भ :-

नमो अरहंताणं

नमो सिद्धाणं

नमो आयरियाणं

नमो उवज्झायाणं

नमो लोए सव्वसाहूणं।

इस प्रथम सूत्र में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, परमेष्ठी सूचक हैं, इन्हें परमपद में स्थित होने के कारण परमेष्ठी कहा गया है। यह अनादि मंत्र है, इसका प्रथम प्रयोग सूत्र की निर्विघ्न समाधि के लिए किया गया है।

“नमो बंभीए लिवीए” पंच पदों के बाद ब्राह्मी लिपि के लिए नमन किया गया है, जो सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक लिपि है। सर्वप्रथम जो कुछ भी कथन किया जाता है, वह सर्वज्ञ का कथन अर्थ रूप में होता है। इसके अनन्तर अर्हत प्रभु के प्रमुख गणधर उन्हें सूत्रबद्ध करते हैं। कौनसी लिपि, लिपि होती है, यह निश्चित नहीं परन्तु अक्षर समूह का नाम लिपि कहलाती है। अतः उन अक्षरों से निर्मित पदों के अनुसार “नमो बंभीए लिवीए” ऐसा पद देकर अक्षर स्थापना को महत्व दिया है।

“नमो सुयस्स” श्रुत को नमन। यह भी महत्वपूर्ण है क्योंकि श्रुत, शास्त्र, आगम, सिद्धान्त आदि जो कुछ भी हमारे सामने उपस्थित हैं, वह अर्हत प्रभु के परमज्ञान से उत्पन्न है, जिसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। श्रुत में भी अंग और अंग बाह्य ये दो भेद प्रसिद्ध हैं। अंग ग्रंथ में आचारांग आदि बारह सूत्र ग्रंथ आते हैं, जिन्हें द्वादशांगी कहा गया। उन द्वादशांगी में व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पंचम अंग का महत्वपूर्ण स्थान है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति की वर्णन पद्धति :- इस अंग आगम में एक श्रुतस्कंध है, एक सौ एक अध्ययन हैं, 10,000 उपदेशन काल हैं, 10000 समुद्देशन काल हैं, उन सभी में 36,000 प्रश्न हैं तथा उनमें उनके उत्तर भी हैं, इसके पदों की संख्या 2,28,000 है। व्याख्याप्रज्ञप्ति के अध्ययन का नाम शतक है। इन शतकों की वर्णन पद्धति के प्रारंभ में पृथक-पृथक सूचियाँ दी गई हैं। जैसे:-

रायगिह चलण, दुक्खे कंखपओसे य पगति पुढवीओ।

जांवते नेरइए बाले गुरुए य चलणाओ।

राजगृह नगर, चलन, दुख, कांक्षाप्रदोष, कर्म प्रकृति, पृथ्वी यावत नैर्यक, बाल, गुरुक और चलन, प्रथम शतक के इन दस उद्देशकों में राजगृह नगर के विषय में

प्रश्न है कि राजगृह नगर कहां है, तब उसका समाधान करते हुए उसके वैभव आदि का वर्णन किया, उसको उत्तर व पूर्व के दिशा भाग में कहने का संकेत किया है, इसी संकेत के साथ-साथ श्रेणिक राजा, रानी चेलणा, तीर्थंकर महावीर, गौतम, उनकी परिषद्, सभा, सभा की स्थिति आदि के साथ-साथ महावीर के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया। गौतम स्वामी की शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक स्थिति का भी कथन किया गया। इसी प्रसंग में चलन (कर्म की उदयावली) उदीरण, वेदना, प्रहाण, छेदन, भेदन, दग्ध, मृत, निजीर्ण, एकार्थ और घोष स्वर इन नौ पदों के माध्यम से कर्म स्थिति को भी व्यक्त किया गया। अन्य अलग-अलग विषयों के विवेचन में कर्मों की विविध स्थिति पर प्रकाश डाला गया, उनके द्वार, उनकी स्थिति, अवगाहना, लेखा आदि पर भी विचार किया गया।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में प्रतिपादित विषय :- भगवती सूत्र के सभी शतकों में ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि विषयों का विश्लेषण सर्वत्र प्राप्त होता है। इस आगम के सूत्रों में विविध प्रकार के जीवों और उनसे संबंधित विषयों का पर्याप्त विवेचन भी मिलता है। इसके अंतर्गत मत-मतान्तर या वाद-विवाद के विषय भी प्रश्नोत्तर शैली में व्यक्त किए गए हैं। अन्य मतावलम्बियों में मंखली गोशालक, जमाली, शिवराजर्षि, जयन्ती, स्कन्दल आदि के विचारों का समाधान भी दिया गया है, इसमें तत्कालीन श्रमणोपासकों व उपासिकाओं द्वारा पूछे गए विविध प्रश्नों का सैद्धान्तिक निराकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

शैलीगत अध्ययन :- व्याख्याप्रज्ञप्ति की ज्ञप्ति में प्रश्नोत्तर शैली है, इसमें किसी प्रकार की शंका की आवश्यकता नहीं है। प्रश्नोत्तर शैली में जिस तरह से प्रश्न किए गए उसी तरह के समाधान संक्षिप्त रूप में और कहीं-कहीं व्यापक रूप में किये गए हैं। पृथ्वीकाय के विवेचन में प्रश्न किया गया कि पृथ्वीकायिक जीवों की स्थिति कितने समय तक रहती है, तब उसका उत्तर दिया गया कि पृथ्वीकायिक जीवों की स्थिति जघन्य से अंतर्मुहूर्त व उत्कृष्ट से 22000 वर्ष की है। मात्र इस कथन या प्रश्न के समाधान के साथ विषय को नहीं छोड़ दिया, अपितु पृथ्वी क्या

है? पृथ्वी का स्वरूप क्या है, वह कैसे आहार ग्रहण करती है? वह कैसे श्वास लेती है? उसमें कितने प्रकार के बल हैं? वह कितने प्रकार की हैं? इत्यादि विवेचन इस बात को भी प्रमाणित करता है कि पृथ्वी में स्पर्शन है, बल की दृष्टि से कायबल है, उसका भी आयुकर्म होता है तथा वह भी प्रतिसमय श्वास लेती है और श्वास छोड़ती है, पृथ्वी विविध प्रकार की है यदि खर पृथ्वी है तो उसकी आयु बाईस हजार वर्ष की कही गई है। स्निग्ध पृथ्वी की आयु 1000 वर्ष, शुद्ध पृथ्वी की 12,000 वर्ष, बालुका पृथ्वी की 14000 वर्ष, मनःशिला पृथ्वी की 16,000 वर्ष एवं शर्करा पृथ्वी की 18000 वर्ष मानी गई है। अतः प्रश्नोत्तर शैली के मूल में प्रश्न व उनके समाधान सरल से सरलतम तथा व्यापक रूप में समझाए गए हैं।

वर्णनात्मक शैली :- व्याख्याप्रज्ञप्ति में विषय वर्णन की प्रधानता भी है। जैसे :- प्रमाणाप्रवज्जा के समय में कौनसे देव उपस्थित हुए, राजा-युवराज, तलवर, मांडविक, कौटुम्बिक, श्रेष्ठी सार्तवाह आदि कितने आए और किस प्रकार का उन्होंने तप किया। बाल तपस्वी, तामली के कथानक में चिंतन की अभिव्यक्ति है।

विवेचनात्मक शैली :- व्याख्याप्रज्ञप्ति का विषय ही विवेचन करने का है इसलिए इसके प्रत्येक प्रश्न के साथ जो उत्तर दिया गया, उसमें विवेचन भी महत्वपूर्ण है। जीव के लघुता व गुरुता के प्रसंग में प्राणातिपाद, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेय, द्वेष, कलह, अभ्युख्यान, पैशून्य, रति-अरति, पर-परिवाद, माया-मृषा और मिथ्यादर्शनशाल्य इन अठारह पाप स्थानों का संकेत इसमें उल्लिखित है।

उपदेशात्मक शैली :- आगम के मूल में उपदेश की भी प्रधानता रहती है इसलिए जहाँ पर किसी कथानक को आधार बनाया गया वहाँ उपदेश स्वाभाविक रूप से आ गया है। पिंगल निर्ग्रन्थ के कथानक में क्या लोक सान्त है, जीव सान्त है, सिद्धि शान्त है, सिद्ध सान्त है और किस मरण से मरता हुआ जीव संसार बढ़ाता है? इन प्रश्नों का केवल समाधान ही नहीं, अपितु उनके कारण उपदेश रूप में भी समझाए गए हैं। स्कन्धक की संलेखना भावना के संदर्भ में भी इसी तरह का विवेचन हुआ है।

वस्तुतत्त्वं विवेचन शैली :- व्याख्याप्रज्ञप्ति के प्रत्येक प्रसंग में वस्तुतत्त्व का भी विवेचन हुआ है। तेरहवें शतक के चौथे उद्देशक में लोक के स्वरूप का वास्तविक विवेचन कई प्रकार की दृष्टि से किया गया है। अस्तिकाय के प्रदेश, परमाणु, स्पर्श में गणना को भी महत्व दिया गया है। भाषा विवेचन में भाषा को आत्मा या जीव, यह प्रश्न करके उसका समाधान करते हुए यही कहा गया कि जो बोलते समय बोली जाती है, वह भाषा कहलाती है। बोलने से पूर्व भाषा नहीं कहलाती है, यह अरूपी है, पुद्गल का विषय है, इसी तरह के जितने भी विचार हैं, उनके मूल में वस्तुतत्त्व का विवेचन ही महत्वपूर्ण है।

विचारात्मक शैली :- व्याख्याप्रज्ञप्ति ज्ञान-विज्ञान का महासमुद्र है। इस समुद्र में जितने प्रश्न, उससे कहीं अधिक उसके समाधान नए-नए विचारों को उत्पन्न करते हैं। यदि लेश्या की समस्त वर्णन शैली पर दृष्टि डालते हैं तो यही विचार उत्पन्न होता है कि इस संसार में जितने प्रकार के लोग हैं उतने ही प्रकार के उनके विचार हैं, उनकी प्रवृत्ति है।

आध्यात्मप्रधान शैली :- कुछ प्रसंगों को छोड़कर संपूर्ण व्याख्याप्रज्ञप्ति में आत्मा/ज्ञान का ही आलोक है इसलिए इसका विवेचन आत्मा से जुड़ा होने के कारण आध्यात्मिक शैली से युक्त है।

सूत्रात्मक शैली :- यह सूत्र ग्रंथ है इसलिए संक्षिप्त में ही प्रश्न किया गया और उसका समाधान भी उसी के अनुरूप सरल रूप में प्रतिपादित किया गया। किं जरा सोगे? यह प्रश्न है उसका संक्षिप्त समाधान इस प्रकार किया गया— “जीवाणं जरावि सोगेवि”, अर्थात् जीवों में जरा भी है और शोक भी। इस सूत्र से एकेन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय, देव, नारकी व तिर्यच के जरा तथा शोक का बोध हो जाता है।

भाषा शैली :- भाषा अर्थात् कथन पद्धति में निम्न विशेषताएँ है :-

1. संक्षिप्तीकरण की भावना।
2. दृष्टान्तपरक पद्धति।

3. व्याख्यात्मक मूल्यों की स्थापना।
4. शतक का पृथक-पृथक उद्देशकों में विभाजन।
5. गणना प्रक्रिया में गणितीय रेखाएँ।
6. वस्तु विवेचन में स्याद्वाद की अभिव्यक्ति।
7. कथानक के मूल में प्रामाणिक दृष्टि।
8. सिद्धान्त विवेचन में तथ्यात्मक प्रदर्शन।
9. विषय प्रतिपादन में सूक्ष्म से सूक्ष्म गहराई।

व्याख्याप्रज्ञप्ति की भाषा :- यह आर्ष-वचन का सूत्र है, इसकी प्राकृत आर्ष है। शौरसेनी, अर्धमागधी व पाली ये तीन भाषाएँ आर्ष मानी गई हैं, इन तीनों में से इसके मूल में अर्धमागधी प्राकृत का वैशिष्ट्य है, जो अंग आगम ग्रंथ का मूल भाषा स्रोत है। अंग-उपांग, मूलसूत्र, छेदसूत्र आदि जितने भी आगम हैं, वे सभी अर्धमागधी भाषा में हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति की सूत्र शैली में भी अर्धमागधी भाषा ही है। कहीं-कहीं पर शौरसेनी एवं महाराष्ट्री के प्रयोग भी मिलते हैं। इसके गद्यों में छंदात्मकता भी है तथा सूत्रों में गति विराम भी है। इसकी गद्यात्मक भाषा यद्यपि कथास्वरूप को नहीं लिए हुए है फिर भी इसमें जब प्रश्न किया जाता है तब एक ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि क्या-क्या प्रतिपादन संभव है? इस तरह व्याख्या के व्याख्यान में जिस भाषा वैभव को देखा गया, उससे यह भी प्रतीत होता है कि इसमें देशी शब्द भी हैं, अतः इस विशालकाय ज्ञान-विज्ञान के ग्रंथ की भाषा एवं विषय के मूल्यांकन एवं शोध की आवश्यकता है।

□ पिऊकुंज

ग्लास फेक्ट्री, अरविन्द नगर,

उदयपुर - 313 001 (राज.)

ज्ञाताधर्मकथा : एक समीक्षा अध्ययन

□ प्रो. प्रेमसुमन जैन

प्राकृत भाषा के प्राचीन ग्रन्थों में अर्धमागधी में लिखित अंगग्रन्थ प्राचीन भारतीय संस्कृति और चिंतन के क्रमिक विकास को जानने के लिए महत्वपूर्ण साधन हैं। अंग ग्रन्थों में ज्ञाताधर्मकथा का विशिष्ट महत्व है। कथा और दर्शन का यह संगम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के नाम में भी इसका विषय और महत्व छिपा हुआ है। उदाहरण प्रधान धर्म कथाओं का यह प्रतिनिधि ग्रन्थ है। ज्ञातपुत्र भगवान महावीर की धर्म कथाओं को प्रस्तुत करने वाले इस ग्रन्थ का नाम ज्ञाताधर्मकथा सार्थक है। विद्वानों ने अन्य दृष्टियों से भी इस ग्रन्थ के नामकरण की समीक्षा की है।

दृष्टान्त एवं धर्म कथाएँ :- आगम ग्रन्थों में कथा-तत्व के अध्ययन की दृष्टि से ज्ञाताधर्मकथा में पर्याप्त सामग्री है। इसमें विभिन्न दृष्टान्त एवं धर्म कथाएँ हैं, जिनके माध्यम से जैन तत्व-दर्शन को सहज रूप में जन-मानस तक पहुँचाया गया है। ज्ञाताधर्मकथा आगमिक कथाओं का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमें कथाओं की विविधता है और प्रौढ़ता भी। मेघकुमार थावच्चापुत्र, मल्ली तथा द्रोपदी की कथाएँ ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करती हैं। प्रतिबुद्धराजा, अर्हन्नक व्यापारी, राजा रूक्मी, स्वर्णकार की कथा, चित्रकार कथा, चोखा परिव्राजिका आदि कथाएँ मल्ली की कथा की अवान्तर कथाएँ हैं। मूलकथा के साथ अवान्तर-कथा की परम्परा की जानकारी के लिए ज्ञाताधर्मकथा आधार भूत स्रोत है। ये कथाएँ कल्पना-प्रधान एवं सोद्देश्य हैं। इसी तरह जिनपाल एवं जिनरक्षित की कथा, तेतलीपुत्र-सुषमा की कथा एवं पुण्डरीक कथा कल्पना प्रधान कथाएँ हैं।

ज्ञाताधर्मकथा में दृष्टान्त और रूपक कथाएँ भी हैं। मयूरों के अण्डों के दृष्टान्त से श्रद्धा और धैर्य के फल को प्रकट किया गया है। दो कछुओं के उदाहरण से संयमी और असंयमी साधक के परिणामों को उपस्थित किया गया है। तुम्बे के दृष्टान्त से कर्मवाद को स्पष्ट किया गया है। ये दृष्टान्त कथाएँ परवर्ती साहित्य के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं।

इस ग्रन्थ में कुछ रूपक कथाएँ भी हैं। दूसरे अध्ययन की कथा धन्ना सार्थवाह एवं चोर की कथा है। यह आत्मा और शरीर के संबंध का रूपक है। सातवें अध्ययन की रोहिणी कथा पाँच व्रतों की रक्षा और वृद्धी को रूपक द्वारा प्रस्तुत करती है। उदकजात नामक कथा संक्षिप्त है किन्तु इसमें जल-शुद्धि की प्रक्रिया द्वारा एक ही पदार्थ के शुभ एवं अशुभ दोनों रूपों को प्रकट किया गया है। अनेकान्त के सिद्धान्त को समझाने के लिए यह बहुत उपयोगी है। नन्दीफल की कथा यद्यपि अर्ध कथा है किन्तु इसमें रूपक की प्रधानता है। समुद्री अश्वों के रूपक द्वारा लुभावने विषयों के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

छठे अध्ययन में कर्मवाद जैसे गुरु गंभीर विषय को रूपक के द्वारा स्पष्ट किया है। गणधर गौतम की जिज्ञासा के समाधान में भगवान् ने तूंबे के उदाहरण से इस बात पर प्रकाश डाला कि मिट्टी के लेप से भारी बना हुआ तूंबा जल में डूब जाता है और लेप हटने से वह पुनः तैरने लगता है। वैसे ही कर्मों के लेप से आत्मा भारी बनकर संसार-सागर में डूबता है और उस लेप से मुक्त होकर उर्ध्वगति करता है। दसवें अध्ययन में चन्द्र के उदाहरण से प्रतिपादित किया है कि जैसे कृष्णपक्ष में चन्द्र की चारु चंद्रिका मंद और मंदतर होती है और शुक्लपक्ष में वही चंद्रिका अभिवृद्धि को प्राप्त होती है वैसे ही चन्द्र के सदृश कर्मों की अधिकता से आत्मा की ज्योति मंद होती है और कर्म की ज्यों-ज्यों न्यूनता होती है त्यों-त्यों उसकी ज्योति अधिकाधिक जगमगाने लगती है।

ज्ञाताधर्मकथा पशुकथाओं के लिए भी उद्गम ग्रन्थ माना जा सकता है। इस एक ही ग्रन्थ में हाथी, अश्व, खरगोश, कछुए, मयूर, मेंढक, सियार आदि को कथाओं के पात्रों के रूप में चित्रित किया गया है। मेरुप्रभ हाथी ने अहिंसा का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह भारतीय कथा साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय श्रुतस्कंध में यद्यपि 206 साध्वियों की कथाएँ हैं किन्तु उनके ढांचे, नाम, उपदेश आदि एक-से हैं केवल काली की कथा पूर्ण कथा है। नारी-कथा की दृष्टि से यह कथा महत्वपूर्ण है।²

ज्ञाताधर्मकथा में भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्ष अंकित हुए हैं। प्राचीन भारतीय भाषाओं, काव्यात्मक प्रयोगों, विभिन्न कलाओं और विद्याओं, सामाजिक जीवन और वाणिज्य व्यापार आदि के संबंध में इस ग्रन्थ में एक - से विवरण उपलब्ध हैं जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के इतिहास में अभिनव प्रकाश डालते हैं। इस ग्रन्थ के सूक्ष्म सांस्कृतिक अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है। कुछ विद्वानों ने इस दिशा में कार्य भी किया है,³ जो आगे के अध्ययन के लिए सहायक हो सकता है। यहाँ संक्षेप में ग्रन्थ में अंकित कतिपय सांस्कृतिक बिन्दुओं को उजागर करने का प्रयत्न है।

भाषा और लिपि :- इस ग्रन्थ में प्रमुख रूप से अर्धमागधी प्राकृत का प्रयोग हुआ है किन्तु साथ ही अन्य प्राकृतों के तत्त्व भी इसमें उपलब्ध हैं। देशी शब्दों का प्रयोग इस ग्रन्थ की भाषा को समृद्ध बनाता है। इस ग्रन्थ में प्रस्तुत कथाओं के माध्यम से यह तथ्य भी सामने आता है कि प्राचीन समय में सम्पन्न और संस्कारित व्यक्ति के लिए बहुभाषाविद होना गौरव की बात होती थी। मेघकुमार को विविध प्रकार की अठारह देशी भाषाओं का विशारद कहा गया है।⁴ ये अठारह देशी भाषाएँ कौन-सी थी, इस बात का ज्ञान आठवीं शताब्दी के प्राकृत ग्रन्थ कुवलयमाला के विवरण से पता चलता है।⁵ यद्यपि अठारह लिपियों के नाम विभिन्न प्राकृत ग्रन्थों में प्राप्त हो जाते हैं।⁶ इन लिपियों के संबंध में अभी तक कोई प्राचीन शिलालेख भी उपलब्ध नहीं हुआ है, इससे भी यह प्रतीत होता है कि ये सभी लिपियाँ प्राचीन समय में ही लुप्त हो गईं, या इन लिपियों का स्थान ब्राह्मीलिपि ने ले लिया होगा। कुवलयमाला में उद्योतनसूरि ने गोल्ल, मध्यप्रदेश, मगध, अन्तर्वेदि, कीर, ढक्क, सिन्धु, करू, गुर्जर, लाट, मालवा, कर्नाटक, ताइय (ताजिक), कोशल, मरहट्ट और आन्ध्र इन सोलह भाषाओं का उल्लेख किया है। साथ ही सोलह गाथाओं में उन भाषाओं के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। डॉ. ए. मास्टर का सुझाव है कि इन सोलह भाषाओं में औड्र और द्राविडी भाषाएँ मिला देने से अठारह भाषाएँ हो जाती हैं, जो देशी हैं।

कला और धर्म :- ज्ञाताधर्मकथा में विभिन्न कलाओं के नामों का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। 72 कलाओं का यहाँ उल्लेख है, जिसकी परम्परा परवर्ती प्राकृत ग्रन्थों में भी प्राप्त है।⁷ इन कलाओं में से अनेक कलाओं का व्यावहारिक प्रयोग भी इस ग्रन्थ के विभिन्न वर्णनों में प्राप्त होता है। मल्लिक की कथा में उत्कृष्ट चित्रकला का विवरण प्राप्त है। चित्रशालाओं के उपयोग भी समाज में प्रचलित थे।⁸ ज्ञाताधर्मकथा यद्यपि धर्म और दर्शन-प्रधान ग्रन्थ है। इसमें विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों और दर्शनिक मतों का विवेचन भी है। समाज में अनेक मतों को मानने वाले धार्मिक प्रचारक होते थे, जो व्यापारियों के साथ विभिन्न स्थानों की यात्रा कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। धन्य सार्थवाह की समुद्र यात्रा के समय अनेक परिव्राजक उसके साथ गए थे। यद्यपि इन परिव्राजिकों के नाम एवं पहचान आदि अन्य ग्रन्थों से प्राप्त होती है। ब्राह्मण और श्रमण जैसे धार्मिक मत उनमें प्रमुख थे। आगे चलकर ऐसे धार्मिक प्रचारकों की एक स्थान पर राजा के समक्ष अपने-अपने मतों की परीक्षा भी प्रचलित हो गई थी।⁹ धार्मिक दृष्टि से ज्ञाताधर्म-कथा में वैदिक परम्परा में प्रचलित श्रीकृष्ण कथा का भी विस्तार से वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण, पांडव, द्रोपदी, आदि पात्रों के संस्कारित जीवन के अनेक प्रसंग वर्णित हैं। इस ग्रन्थ में पहली बार श्रीकृष्ण के नरसिंह रूप का वर्णन है,¹⁰ जबकि वैदिक ग्रन्थों में विष्णु का नरसिंहावतार प्रचलित है।

समाज सेवा और पर्यावरण संरक्षण :- इस ग्रन्थ के धार्मिक वातावरण में भी समाज सेवा और पर्यावरण-संरक्षण के प्रति सम्पन्न परिवारों का रुझान देखने को मिलता है। राजगृह के निवासी नन्द मणिकार द्वारा एक ऐसी वापी का निर्माण कराया गया था जो समाज के सामान्य वर्ग के लिए सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ उपलब्ध कराती थी। वर्तमान युग में जैसे सम्पन्न लोग शहर से दूर वाड़ी का निर्माण कराते हैं उसी तरह यह पुष्करणी वापिका थी। उसके चारों ओर मनोरंजन पार्क थे। उनमें विभिन्न कलादीर्घाएँ और मनोरंजन शालाएँ थी। राहगीरों और रोगियों के लिए चिकित्सा-केन्द्र भी थे।¹¹ इस प्रकार का विवरण भले ही धार्मिक दृष्टि से आसक्ति का कारण रहा हो, किन्तु समाज सेवा और पर्यावरण-संरक्षण के लिए प्रेरणाप्रद है।

ज्ञाताधर्मकथा में प्राप्त इस प्रकार के सांस्कृतिक विवरण तत्कालीन उन्नत समाज के परिचायक हैं। इनसे विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक प्रयोगों का भी पता चलता है। चिकित्सा के क्षेत्र में सोलह प्रमुख महारोगों और उनकी चिकित्सा के विवरण आयुर्वेद के क्षेत्र में नई जानकारी देते हैं। कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जहाँ इस प्रकार के तेलों के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन है जो सैंकड़ों जड़ी बूटियों के प्रयोग से निर्मित होते थे। उनमें हजारों स्वर्णमुद्राएँ खर्च होती थी। ऐसे शतपाक एवं सहस्रपाक तेलों का उल्लेख इस ग्रंथ में है। इसी ग्रंथ के बारहवें अध्ययन में जलशुद्धि की प्रक्रिया का भी वर्णन उपलब्ध है जो गटर के अशुद्ध जल को साफ कर शुद्ध जल में परिवर्तित करती है।¹² यह प्रयोग इस बात का प्रतीक है कि संसार में कोई वस्तु या व्यक्ति सर्वथा अशुभ नहीं है, घृणा का पात्र नहीं है।

व्यापार एवं भूगोल :- प्राचीन भारत में व्यापार एवं वाणिज्य उन्नत अवस्था में थे। देशी एवं विदेशी दोनों प्रकार के व्यापारों में साहसी वणिक् पुत्र उत्साहपूर्वक अपना योगदान करते थे। ज्ञाताधर्मकथा में इस प्रकार के अनेक प्रसंग वर्णित हैं। समुद्रयात्रा द्वारा व्यापार करना उस समय प्रतिष्ठा समझी जाती थी। सम्पन्न व्यापारी अपने साथ पूँजी देकर उन निर्धन व्यापारियों को भी साथ में ले जाते थे, जो व्यापार में कुशल होते थे। समुद्रयात्रा के प्रसंग में पोतपट्टन और जलपत्तन जैसे बन्दरगाहों का प्रयोग होता था। व्यापार के लिए विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ जहाज में भरकर व्यापारी ले जाते थे और विदेश से रत्न कमाकर लाते थे। अश्वों का भी व्यापार होता था।¹³ इस प्रसंग में अश्व विद्या की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।

ज्ञाताधर्मकथा की विभिन्न कथाओं में जो भौगोलिक विवरण प्राप्त होता है वह प्राचीन भारतीय भूगोल के लिए विशेष उपयोग का है। राजगृही¹⁴ चम्पा,¹⁵ वाराणसी, द्वारिका, मिथिला, हस्तिनापुर,¹⁶ साकेत, मथुरा, श्रावस्ती, आदि प्रमुख प्राचीन नगरों के वर्णन काव्यात्मक दृष्टि से जितने महत्व के हैं, उतने ही भौगोलिक दृष्टि से भी। राजगृह के प्राचीन नाम गिरिब्रज, वसुमति, बार्हद्रतपुरी, मगधपुर, बराय, वृषभ, ऋषिगिरी, चैत्यक बिम्बसारपुरी और कुशाग्रपुर थे। बिम्बसार के शासनकाल में राजगृह में आग लग जाने से वह जल गई इसलिए राजगृही हेतु नवीन राजगृह

का निर्माण करवाया। इन नगरों में परस्पर आवागमन के मार्ग क्या थे और इनकी स्थिति क्या थी इसकी जानकारी भी एक शोधपूर्ण अध्ययन का विषय बनती है। विभिन्न पर्वतों, नदियों, वनों, के विवरण भी इस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं कुछ ऐसे नगर भी हैं, जिनकी पहचान अभी करना शेष है।¹⁷

सामाजिक धारणाएँ :- इस ग्रंथ में सामाजिक, रीतिरिवाजों, खान-पान, वेशभूषा एवं धार्मिक तथा सामाजिक धारणाओं से संबंधित सामग्री भी एकत्र की जा सकती है। महारानी धारिणी की कथा में स्वप्नदर्शन और उस के फल पर विपुल सामग्री प्राप्त है।¹⁸ जैनदर्शन के अनुसार स्वप्न का मूल कारण दर्शनमोहनीय कर्म का उदय है। दर्शनमोह के कारण मन में राग और द्वेष का स्पन्दन होता है, चित्त चंचल बनता है। शब्द आदि विषयों से संबंधित स्थूल और सूक्ष्म विचार-तरंगों से मन प्रकीर्णित होता है। संकल्प-विकल्प या विषयोन्मुखी वृत्तियाँ इतनी प्रबल हो जाती है कि नींद आने पर भी शांति नहीं होती। इन्द्रियाँ सो जाती हैं, किन्तु मन की वृत्तियाँ भटकती रहती हैं। वे अनेक विषयों का चिन्तन करती रहती हैं। वृत्तियों की इस प्रकार की चंचलता ही स्वप्न है। आचार्य जिनसेन ने स्वस्थ अवस्था वाले और अस्वस्थ अवस्था वाले, ये दो स्वप्न के प्रकार माने हैं। जब शरीर पूर्ण स्वस्थ होता है तो मन पूर्ण शांत रहता है, उस समय जो स्वप्न दीखता है वह स्वस्थ अवस्था वाला स्वप्न है। ऐसे स्वप्न बहुत ही कम आते हैं और ये प्रायः सत्य होते हैं। मन विक्षिप्त हो और शरीर अस्वस्थ हो, उस समय देखे गये स्वप्न असत्य होते हैं-

ते च स्वप्ना द्विधा भ्राता स्वस्थास्वस्थात्मगोचराः,।
समैस्तु धातुभिः स्वस्वविषमैरितरैर्मता।।
तथ्या स्युः स्वस्थसंदृष्टा मिथ्या स्वप्नो विपर्ययात,।
जगत्प्रतीतमेतद्धि विद्धि स्वप्नविमर्शान्।।

- महापुराण, 41-59/60

इसी प्रकार धारिणी के दोहद की भी विस्तृत व्याख्या की जा सकती है। उपवन भ्रमण का दोहद बड़ा सार्थक है। दोहद की इस प्रकार की घटनाएँ आगम साहित्य में

अन्य स्थानों पर भी आई हैं। जैन कथा साहित्य में, बौद्ध जातकों में और वैदिक परम्परा के ग्रंथों में दोहद का अनेक स्थानों पर वर्णन है। यह ज्ञातव्य है कि जब महिला गर्भवती होती है तब गर्भ के प्रभाव से उसके अन्तर्मानस में विविध प्रकार की इच्छाएँ उद्बुद्ध होती हैं। ये विचित्र और असामान्य इच्छाएँ दोहद कही जाती हैं। दोहद के लिए संस्कृत साहित्य में द्विहद भी आया है। द्विहद का अर्थ है— दो हृदय को धारण करने वाली। अंगविज्जा जैन साहित्य का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। उस ग्रंथ में विविध दृष्टियों से दोहदों के संबंध में गहराई से चिन्तन किया है। जितने भी दोहद उत्पन्न होते हैं उन्हें पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है— शब्दगत, गंधगत, रूपगत, रसगत, और स्पर्शगत। क्योंकि ये ही मुख्य इन्द्रियों के विषय हैं और इन्हीं की दोहदों में पूर्ति की जाती है।¹⁹

नौवें अध्ययन में विभिन्न प्रकार के शकुनों का उल्लेख है।²⁰ शकुनदर्शन ज्योतिषशास्त्र का एक प्रमुख अंग है। शकुनदर्शन की परम्परा प्रागैतिहासिक काल से चलती आ रही है। कथा-साहित्य का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि जन्म, विवाह, बहिर्गमन, गृहप्रवेश और अन्यान्य मांगलिक प्रसंगों के अवसर पर शकुन देखने का प्रचलन था। गृहस्थ तो शुकन देखते ही थे, श्रमण भी शकुन देखते थे। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार किसी स्थिति में एक वस्तु शुभ मानी जाती है और वही वस्तु दूसरी परिस्थितियों में अशुभ भी मानी जाती है। एतदर्थ शकुन विवेचन करने वाले ग्रन्थों में मान्यता-भेद भी प्राप्त होता है। प्रकीर्णक ग्रन्थ गणिविद्या में लिखा है भी शकुन मुहूर्त से भी प्रबल होता है। जंबूक, चास (नीलकंठ), मयूर, भारद्वाज, नकुल-यदि दक्षिण दिशा में दिखलाई दें तो सर्वसंपत्ति प्राप्त होती है। इस ग्रंथ में पारिवारिक संबंधों और शिक्षा तथा शासन व्यवस्था आदि के संबंध में भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। धारिणी के शयनकक्ष का वर्णन स्थापत्य कला और वस्त्रकला की अमूल्य निधि है।

सन्दर्भ :-

1. (क) ज्ञाताधर्मकथा (सम्पा. - पं. शोभाचन्द भारिल्ल), ब्यावर, 1989
- (ख) भगवान महावीरनी धर्मकथाओं (पं. दोशी), पृष्ठ 180

- (ग) स्टोरीज फ्राम द धर्म ऑफ नाया (बेवर), इंडियन एंटीक्योरी, 19
2. धम्मकहाणुयोग (मुनि कमल), भाग 2
 3. जैन आगमों में वर्णित भारतीय समाज (जे.सी. जैन), वाराणसी
 4. अट्टारसविहिप्पगारदेसी भासाविसारए, ज्ञाता, अ. 1
 5. कुवल्यमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन (पी.एस. जैन), वैशाली, 1975
 6. ज्ञाताधर्मकथा (ब्यावर), भूमिका (देवेन्द्रमुनि), पृष्ठ 38-40
 7. समवायांग, समवाय 72
 8. ज्ञाताधर्मकथा, अ. 16
 9. कुवल्यमालाकहा, धर्मपरीक्षा अभिप्राय
 10. ज्ञाताधर्मकथा, अ. 16
 11. वही, अ. 13
 12. वही, अ. 12
 13. वही, अ. 17
 14. भगवान महावीर-एक अनुरीलन (देवेन्द्रमुनि) पृष्ठ 241-43
 15. औपपातिकसूत्र
 16. ज्ञाताधर्मकथा, अ. 16
 17. वही, द्वितीय श्रुतस्कन्ध में उल्लिखित नगर
 18. ज्ञाताधर्मकथा (ब्यावर), पृष्ठ 16
 19. वही, पृष्ठ 29-30
 20. ज्ञाताधर्मकथा, अ. 9

□ अधिष्ठाता

सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी महाविद्यालय
सुखाड़िया विरवविद्यालय, उदयपुर

उपासकदशांग का समीक्षात्मक अध्ययन

□ डॉ. रज्जन कुमार

जैन वाङ्मय आगम के नाम से प्रसिद्ध हैं। आगमों का जैन परम्परा में वही स्थान मान्य है जो वैदिक परम्परा में वेदों का और बौद्ध मत में पिटकों का स्थान निर्धारित है। जैन-परम्परा, इतिहास और संस्कृति की विशेष निधि आगम-शास्त्र ही है। यह अत्यन्त विशाल और समृद्ध होने के साथ-साथ सरल एवं गूढ़ तथ्यों से परिपूर्ण है। प्रायः जैनागमों में सांसारिक भोगों से विरत रहकर वैराग्य पथ पर चलकर मुक्ति प्राप्त करने का संदेश ही मिलता है। परन्तु इसमें लौकिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर भी पर्याप्त चिंतन किया गया है। जैनागमों में अंग साहित्य सर्वप्रमुख हैं और अंग साहित्य में उपासकदशांग एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें जैन श्रावकों की जीवनचर्या का जीवंत चित्र प्रस्तुत किया गया है जो जैन संस्कृति की विशिष्टता का परिचायक माना जा सकता है।

आगम की परिभाषा :- आगम आप्त वचन हैं और आप्त वचन होने के कारण यह प्रामाणिक है। आगमों के संबंध में विद्वानों की मान्यता है कि ये गणधरों द्वारा रचित हैं। गणधर महावीर के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं जो महावीर के उपदेशों को आगम के रूप में संकलित करते हैं।¹ इस रूप में आगम निःसंदेह आप्त वचन माना जा सकता है। अस्तु आगम को परिभाषित करते हुए इसे आप्त का कथन कहा गया है।² प्रारम्भ में आगम को श्रुत या सम्यक् श्रुत³ के नाम से जाना जाता था कालांतर में वह आगम के नाम से प्रसिद्ध हो गया। आगम के लिए और भी कई शब्दों का प्रयोग किया जाता था जिसका विवरण अनुयोगद्वारसूत्र एवं विशेषावश्यक भाष्य में मिलता है।⁴ सूत्र, ग्रंथ, सिद्धांत, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना आदि। ये सारे शब्द आगमों के विभिन्न पर्यायों के द्योतक माने जा सकते हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य मलयगिरि लिखते हैं - जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान प्राप्त हो, वह आगम है। विशेषावश्यक भाष्य में आगम के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है कि जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान प्राप्त होता है, वह शास्त्र, आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।⁶

आगम वर्गीकरण :- वर्तमान में हमारे समक्ष आगमों के स्पष्ट एवं वर्गीकृत रूप उपस्थित हैं जबकि प्राचीन काल में ऐसा स्पष्ट स्वरूप नहीं था। आगमों का यह वर्गीकरण कब से प्रारंभ हुआ था इसे किसने शुरू किया इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना ठीक नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए पं. दलसुख मालवणिया जैन साहित्य के वृहद इतिहास नामक पुस्तक की प्रस्तावना में लिखते हैं-
“साम्प्रतकाल में श्वेताम्बरों में आगमों का जो वर्गीकरण प्रसिद्ध है वह कब शुरू हुआ, या किसने शुरू किया, यह जानने का निश्चित साधन उपस्थित नहीं है। जहाँ तक जैन वाङ्मय का प्रश्न है यह दो रूपों में विभाजित रहा है⁹ :-

1. महावीर के पूर्व का साहित्य।
2. महावीर तथा उनके परवर्ती आचार्यों के युग का साहित्य।

महावीर के पूर्व जो साहित्य रचे गए उन्हें “पूर्व” कहा जाता है और इनकी कुल संख्या 14 है जबकि महावीर के समय या उनके परवर्ती आचार्यों द्वारा जो साहित्य रचे गए हैं उन्हें आगम कहते हैं। पूर्व साहित्य तो विच्छिन्न हो गया है लेकिन जो आगम हैं उनका सम्यक् रूप से वर्गीकरण हुआ है।

आगमों का विभाजन दो रूपों में हुआ है⁹ :-

- (क) अंग-प्रविष्ट एवं (ख) अंग बाह्य

अंग प्रविष्ट के अंतर्गत 12 अंगों का समावेश हुआ है जबकि शेष ग्रंथ अंग-बाह्य माने गए हैं। एक अन्य दृष्टि से आगमों के सुत्तागम, अत्थागम, अंतारागम, अणंतरागम - ये भेद भी किए गए हैं।¹⁰ यह विभेद लोकोत्तर आगम के भेद हैं। इसके संबंध में भगवान महावीर ने यह स्पष्ट किया है कि उनके उपदेश का संवाद भगवान पार्श्वनाथ के उपदेश से है तथा यह भी शास्त्रों में कहा गया है कि पार्श्व और महावीर के आध्यात्मिक संदेश में मूलतः कोई भेद नहीं है। बाह्याचार में कुछ भेद भले ही दिखता हो।¹¹ अनुयोगद्वारसूत्र में ही आगमों के तीन भेद भी मिलते हैं¹²- सुत्तागम, अत्थागम और तदुभयागम। आगमों का सबसे उत्तरवर्ती वर्गीकरण अंग, उपांग, मूल, छेद के रूप में जाना जाता है। आगम के इस वर्गभेद में उपांग, मूल, छेद का प्रारंभ

क्यों हुआ यह एक शोध का विषय हो सकता है। क्योंकि आगम वर्गीकरण का विवरण जो नंदीसूत्र में उपलब्ध है उसमें उपांग, मूल और छेद शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।¹³ मूल और छेदसूत्रों का विभाजन किस समय हुआ प्रायः इसका भी निश्चय नहीं हुआ है। इसी अनुक्रम में आगम वर्गीकरण के अंतर्गत प्रकीर्णक साहित्य को भी समाविष्ट किया जाने लगा। इस प्रकार जैनागमों की संख्या बढ़ती गई।

जैनागमों की संख्या के संबंध में अनेक मत मिलते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मूल आगमों के साथ कुछ निर्युक्तियों को मिलाकर 45 आगम मानता है और कोई 84 मानते हैं। स्थानकवासी और तेरापंथी परंपरा 32 को ही प्रमाणभूत मानती है। दिगम्बर समाज की मान्यता है कि सभी आगम विच्छिन्न हो गए हैं, परंतु वे शौरसेनी में रचित कुछ ग्रंथों को आगमतुल्य मानते हैं। यहाँ हम श्वेताम्बर मान्य प्रमुख आगमों के नाम उद्धृत कर रहे हैं¹⁴ :-

- ❖ 12 अंग : आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अंतकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद (विच्छिन्न)।
- ❖ 12 उपांग : औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निरयावलिया, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा।
- ❖ 6 मूलसूत्र : आवश्यकसूत्र, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नंदी, अनुयोगद्वार, पिण्ड निर्युक्ति अथवा ओघनिर्युक्ति।
- ❖ 6 छेदसूत्र : निशीथ, महानिशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध और पंचकल्प।
- ❖ 10 प्रकीर्णक : आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणि-विद्या, महाप्रत्याख्यान, चतुःशरण, वीरस्तव और संस्तारक।

स्थानकवासी मान्य आगम

11 अंग + 12 उपांग + 6 मूलसूत्र + 6 छेदसूत्र + 10 प्रकीर्णक = 45 आगम

11 अंग + 12 उपांग + 4 मूलसूत्र (दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, अनुयोग-द्वार, नंदीसूत्र) + 4 छेद (निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कंध)

+ 1 आवश्यकसूत्र = 32 आगम 84 आगमों की अवधारणा - 11 अंग +

12 उपांग + 6 मूल + 6 छेद + 10 प्रकीर्णक + कल्पसूत्र, यतिकल्प, जीतकल्प (सोमप्रभसूरि) + श्रद्धाजीत कल्प (धर्मघोष सूरि) + मरणसमाधि

+ सिद्धप्राभृत + तीर्थोद्गार + आराधनापताका + द्वीपसागरपज्ञप्ति +

ज्योतिषकरंडक + अंगविद्या + तिथि प्रकीर्णक + पिण्ड विशुद्धि + सारावली

+ पर्यन्तराधना + जीवविभक्ति + कवच प्रकरण + आवश्यक निर्युक्ति +

दशवैकालिक निर्युक्ति + उत्तराध्ययन निर्युक्ति + आचारांग निर्युक्ति +

सूत्रकृतांग निर्युक्ति + सूर्यपज्ञप्ति निर्युक्ति + बृहत्कल्प निर्युक्ति + व्यवहार

निर्युक्ति + दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति + ऋषिभाषित-निर्युक्ति + संसक्त निर्युक्ति

+ विशेषावश्यक भाष्य।

चार अनुयोग :- व्याख्याक्रम, विषयगत भेद आदि की दृष्टि से आर्यरक्षित सूरि ने श्वेताम्बर मान्य आगमों को चार भागों में वर्गीकृत किया, जो अनुयोग कहलाते हैं¹⁵ :-

1. चरण-करणानुयोग : आचारांग तथा प्रश्न व्याकरण (2 अंग), दशवैकालिक (1 मूलसूत्र), निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प एवं दशाश्रुतस्कंध (4 छेदसूत्र) तथा आवश्यक-ये आठ सूत्र आते हैं।

2. धर्मकथानुयोग : 5 अंग - ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोप- पातिकदशा; 7 उपांग - औपपातिक, राजप्रश्नीय, निरयावली, कल्पावतंसिका, पुष्पिका,

पुष्पचूलिका व वृष्णिदशा; 1 मूलसूत्र -
उत्तराध्ययन कुल 13 सूत्र।

3. गणितानुयोग : जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति
- 3 उपांग।
4. द्रव्यानुयोग : 4 अंग - सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग
व व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती); 2 उपांग -
जीवाभिगम व प्रज्ञापना; 2 मूलसूत्र - नंदी
व अनुयोगद्वार कुल 8 सूत्र।

दिगम्बर परंपरा में मान्य 4 अनुयोग इस प्रकार हैं¹⁶-

1. प्रथमानुयोग : महापुराण और अन्य पुराण
2. करणानुयोग : त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार आदि
3. चरणानुयोग : मूलाचार आदि
4. द्रव्यानुयोग : समयसार प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि

विद्वानों ने अनुयोगों की तुलना वैदिक साधना के विभिन्न पक्षों के साथ करने का प्रयत्न किया है। आचार्य देवेन्द्र मुनि का मानना है कि द्रव्यानुयोग का संबंध ज्ञानयोग से है, चरण-करणानुयोग का कर्मयोग से, धर्मकथानुयोग का भक्तियोग से तथा गणितानुयोग मन को एकाग्र करने की प्रणाली होने से राजयोग से मिलता है।¹⁷ अतः अनुयोगों की उपयोगिता आगम वर्गीकरण में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है।

अंगसाहित्य और उपासकदशांग :- उपासकदशांग द्वादशांगी का सातवाँ अंग है। इसमें भगवान महावीर के समकालिक 10 उपासकों के जीवन चरित्र का विवरण प्रस्तुत किया गया है। श्रमण परंपरा में श्रमणों की उपासना करने वाले गृहस्थों को श्रमणोपासक या उपासक कहा जाता है इसीलिए इस अंग ग्रंथ को उपासकदशांग नाम दिया गया। क्योंकि दशा शब्द दस संख्या एवं अवस्था का वाचक माना जाता

है। विद्यमान अंगसूत्रों व अन्य आगमों में मुख्य रूप से श्रमण-श्रमणियों के आचारादि का निरूपण ही दिखाई देता है। उपासकदशांग ही एक ऐसा सूत्र है जिसमें गृहस्थ धर्म के संबंध में विशेष प्रकाश डाला गया है। इससे श्रावक के आगमकालीन मूल आचार एवं अनुष्ठान का कुछ पता लग सकता है। श्रमण-श्रमणी के आचार अनुष्ठान की ही भांति श्रावक-श्राविका के आचार-अनुष्ठान का निरूपण भी अनिवार्य है क्योंकि ये चारों ही संघ के समान स्तंभ हैं। तीर्थंकरों द्वारा प्रतिष्ठापित तीर्थ की स्थापना में श्रमण वर्ग की ही तरह श्रावक वर्ग की भी समान भागीदारी मानी जाती है। इनके अभाव में तीर्थ की स्थापना संभव नहीं है। अतः श्रावकों को भी श्रमणों की तरह श्रेष्ठ आचार से युक्त होना आवश्यक है और इसके लिए आचार मर्यादा का निर्धारण अनिवार्य है। इस अंग ग्रंथ में इसी विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

यद्यपि श्रमण वर्ग श्रावकों के आध्यात्मिक उन्नति के पथप्रदर्शक माने जाते हैं लेकिन उनकी स्वयं की विद्यमानता का आधार यह गृहस्थ वर्ग ही है। यही श्रमणवर्ग हेतु अनिवार्य आवश्यकताओं को सुलभ कराता है। श्रमण वर्ग महाव्रत धारी होने के कारण जीवन रक्षण हेतु वे सारे प्रयत्न नहीं कर सकते हैं जो श्रावक वर्ग अणुव्रतधारी होने के कारण अपना सकते हैं। लेकिन श्रावकवर्ग को इन सारे प्रयत्नों में अपने सदाचार को दृढ़ रखना चाहिए तथा सम्पूर्ण कार्य न्यायसम्मत ढंग से करना चाहिए। क्योंकि श्रावकधर्म जितना अधिक सदाचार से युक्त होगा श्रमणधर्म की परंपरा उतनी ही अधिक दृढ़ एवं शक्तिशाली होगी। विवेकवान् श्रावक श्रमणवर्ग को अपने कर्तव्य से च्युत नहीं होने देता है। वह निरंतर उन्हें साधनापथ पर अग्रसर होते रहने के लिए आलंबन प्रदान करता रहता है। किसी तरह की त्रुटि होने पर श्रावक वर्ग श्रमण को उनसे सावधान करता है। इसका ज्वलंत उदाहरण उपासकदशांग में वर्णित श्रावक आनंद और श्रमण गौतम के अवधिज्ञान संबंधी चिंतन से लिया जाता है। श्रावक वर्ग की उपादेयता, उसके व्रत, आचार संबंधी मान्यता पर प्रकाश डालने वाला यह एकमात्र अंग ग्रन्थ है। अतः इस रूप में अंग ग्रंथों में इसका अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान माना जा सकता है।

उपासकदशांग में वर्णित 10 श्रावक :- उपासकदशांग में वर्णित 10 श्रावकों के नाम इस प्रकार हैं¹⁸-

1. आनन्द,
2. कामदेव,
3. चुलनीपिता,
4. सुरादेव,
5. चुल्लशतक,
6. कुंडकौलिक,
7. सकडालपुत्र,
8. महाराशतक,
9. नन्दिनीपिता और
10. सालिहीपिता।

ये दसों श्रावक भगवान महावीर की धर्मदेशना से प्रभावित होकर श्रावक धर्म स्वीकार कर लेते हैं और साधनामय जीवन जीने लगते हैं। साधनामय जीवन के अनुक्रम में इनके साथ जो विशेष घटना घटित होती है, उनका यहाँ संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. आनन्द¹⁹- वाणिज्यग्राम का निवासी गाथापति आनन्द अपनी उग्र साधना के परिणामस्वरूप अवधि ज्ञान प्राप्त कर लेता है। भगवान महावीर के शिष्य गौतम और आनन्द में वार्तालाप होता है और आनन्द अपने अवधिज्ञान के संबंध में गौतम को बताता है। आनन्द का अवधिज्ञान अत्यंत विस्तृत था एवं गौतम के अनुसार गृहस्थ/श्रावक इतना विस्तृत अवधिज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। आनन्द गौतम को इस मिथ्या आरोप के विरुद्ध पश्चाताप करने को कहता है। गौतम अपनी शंका महावीर के समक्ष प्रस्तुत करते हैं और भगवान द्वारा इसका समाधान किया जाता है। परिणामस्वरूप गौतम पश्चाताप करते हैं।
2. कामदेव²⁰- चम्पानगर के गाथापति कामदेव की साधना को देव द्वारा भंग करने का प्रयास। देवकृत उपसर्ग के रूप में पिशाचरूपी देव द्वारा कामदेव के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करना तथा तिर्यचकृत उपसर्ग के रूप में हाथी और सर्प के द्वारा शरीर को कष्ट पहुँचाना। प्रत्येक स्थिति में कामदेव अपने धर्म पथ पर दृढ़ बना रहा।
3. चुलनीपिता²¹- वाराणसी के गाथापति चुलनीपिता ने पुत्र हत्या के कार्य को समभाव पूर्वक सहन किया लेकिन मातृवध की धमकी से

अपने व्रत को भंग कर लेता है। प्रायश्चित्त का पालन करते हुए वह पुनः साधना पथ पर दृढ़ होता है।

4. सुरादेव²²– सुरादेव वाराणसी का निवासी था। पुत्र-हत्या का वीभत्स रूप इसे अपने साधना पथ से विचलित नहीं कर पाया लेकिन देव द्वारा 16 भयंकर रोग एक साथ शरीर में उत्पन्न कर देने की धमकी से अपने व्रत को वह खंडित कर बैठा। तत्पश्चात् प्रायश्चित्त करके पुनः आराधना में तत्पर हुआ।
5. चुल्लशतक²³– आलभिका निवासी गाथापति श्रावक चुल्लशतक ने देव द्वारा पुत्र हत्या की भयंकर वेदना को समभावपूर्वक सहन किया परंतु अपनी स्वर्ण मुद्राएं तथा अन्यान्य सम्पत्ति को बिखेर देने की धमकी से अपने पथ से वह विचलित हो गया। बाद में प्रायश्चित्त का विधान करने के पश्चात् पुनः साधना के पथ पर अग्रसर हुआ।
6. कुंडकौलिक²⁴– काम्पिल्यपुर निवासी गाथापति कुंडकौलिक को साधना पथ से विचलित करने के लिए देव द्वारा गोशालक मत की प्रशंसा, कुंडकौलिक का अपने पथ पर दृढ़ता के साथ स्थिर रहना तथा तर्कपूर्ण ढंग से नियतिवाद का खंडन करना, देव का निरूत्तर होना।
7. सकडालपुत्र²⁵– पोलासपुर निवासी आजीवक मतानुयायी गोशालक को श्रावक व्रत से विचलित करने के लिए स्वयं गोशालक द्वारा असफल प्रयत्न। बाद में देव द्वारा पुत्र हत्या के घृणित कर्म को समभावपूर्वक सहन करना लेकिन पत्नी-वध की धमकी से व्रत को खंडित कर लेना। भग्न व्रत में पुनः स्थित होकर साधना पथ पर अग्रसर होना।
8. महाशतक²⁶– राजगृह निवासी महाशतक अपनी तेरहवीं व्रतहीन पत्नी रेवती द्वारा कामोद्दीपक व्यवहार करने से अविचलित रहा परंतु वह और अधिक उन्मुक्त व्यवहार करने लगी इससे कुपित होकर

महाशतक अपने अवधिज्ञान के बल पर रेवती की कष्टपूर्ण मृत्यु का प्रकाशन उसके समक्ष करता है। महाशतक के इस कृत्य की महावीर द्वारा निंदा की गई और इसके लिए उसे प्रायश्चित्त करना पड़ा। उसने ऐसा किया और अपने साधना पथ पर दृढ़ बना रहा।

9. नन्दिनीपिता²⁷ - श्रावस्ती निवासी गाथापति नन्दिनीपिता की व्रताराधना में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं हुई।
10. सालिहीपिता²⁸ - सालिहीपिता श्रावस्ती का गाथापति था। श्रावक धर्म के साधनाक्रम में इसे किसी तरह के उपसर्गों का सामना नहीं करना पड़ा।

जैन ग्रंथों में श्रावक शब्द :- श्रावक जैन परम्परा का पारिभाषिक शब्द है जो प्रायः गृहस्थ साधकों या उपासकों के लिए व्यवहृत होता है। जैन वाङ्मय में इसके लिए विभिन्न प्रकार के शब्दों का उल्लेख मिलता है। आचारांगसूत्र प्राचीनतम जैन ग्रंथ है और श्रमणचर्या का प्रतिपादन करने वाला प्रमुख अंग है। इसमें श्रावक या उपासक शब्द देखने को नहीं मिलता है। द्वितीय अंग साहित्य सूत्रकृतांग में श्रावक के लिए श्रमणोपासक, आगारिक एवं श्रावक शब्दों का प्रयोग मिलता है।²⁹ इसी प्रकार स्थानांग³⁰ में आगार व श्रमणोपासक; समवायांग³¹ में श्रमणभूत एवं उपासक, भगवतीसूत्र³² में श्रमणोपासक, कहीं-कहीं उपासक और श्रावक; ज्ञाताधर्मकथा³³ में श्रमणोपासक, आगार; उपासकदशांग³⁴ में उपासक, श्रमणोपासक, गिहि, आगार, श्रावक; अंतकृद्दशा³⁵ में श्रमणोपासक; उत्तराध्ययनसूत्र³⁶ में उपासक शब्द का प्रयोग मिलता है। आचार्य कुंदकुंदरचित चारित्रपाहुड³⁷ में श्रावकों के लिए सागार; सागार धर्माभूत³⁸ में श्रावक, वसुनिदि श्रावकाचार³⁹ में श्रावक व उपासक; तत्त्वार्थसूत्र⁴⁰ में आगारी शब्दों का उल्लेख हुआ है। श्रावक, उपासक, श्रमणोपासक, आगारी, सागारी, आदि शब्द जैन ग्रंथों में समानार्थक माने गए हैं और प्रायः इनका प्रयोग गृहस्थ साधकों के लिए किया जाता है।

उपासकदशांग और श्रावकाचार :- गृहस्थ साधकों द्वारा अहिंसादि के रूप में

जिन व्रतों का पालन किया जाता है वे श्रावकाचार कहलाते हैं। उपासकदशांग में 5 अणुव्रतों, 7 शिखाव्रतों, 11 प्रतिमाओं तथा संल्लेखना इन सबको श्रावकाचार कहा गया है।⁴¹ इसके पूर्ववर्ती आगमों में भी श्रावकाचार का उल्लेख मिलता है परंतु कुछ भिन्न रूप में जैसे-स्थानांग⁴² में 5 अणुव्रतों का नामोल्लेख है जबकि समवायांग में 11 प्रतिमाओं का विवरण उपलब्ध होता है।⁴³ आवश्यकसूत्र⁴⁴ में 12 व्रतों, उसके अतिचारों तथा 11 प्रतिमाओं का विवरण मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र⁴⁵ में 12 व्रतों के साथ-साथ इनके अतिचारों; योगशास्त्र⁴⁶ में 12 व्रतों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार आचार्य कुंदकुंद रचित चारित्रप्रभृत,⁴⁷ वसुन्दि श्रावकाचार,⁴⁸ सागारधर्मांमृत⁴⁹ जैसे महत्वपूर्ण दिगम्बर मान्य ग्रंथों में भी श्रावकाचार रूपी व्रतों का विवरण उपलब्ध होता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जैनग्रंथों में श्रावकाचार की एक सुदीर्घ परम्परा रही है जिन पर जैनाचार्यों ने पर्याप्त चिंतन किया है।

पाँच अणुव्रत : - जैनमत में महाव्रत एवं अणुव्रत के रूप में व्रतों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है। महाव्रत श्रमण आचार से संबंधित है जबकि अणुव्रत गृहस्थ उपासकों की आचारचर्या है। अणुव्रत 'अणु' + 'व्रत' इन दो शब्दों के योग से बना है। अणु का अर्थ छोटा होता है तथा व्रत का अर्थ नियम, अस्तु अणुव्रत का शाब्दिक अर्थ हुआ छोटा या अल्प व्रत या नियम। जैन परम्परा में किसी भी कर्म का विधान तीन योग और तीन करण से किया जाता है। जिन व्रतों का तीन योगों और तीन करणों से पालन किया जाता है वे महाव्रत कहलाते हैं और जिन्हें इस रूप में परिपालन नहीं किया जाता है उन्हें अणुव्रत कहते हैं। अणुव्रत के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं⁵⁰ - किसी गृहनिरत श्रावक में अनुमोदना को छोड़कर शेष छह भंगों के द्वारा स्थूल हिंसादि से निवृत्त होना अहिंसा आदि अणुव्रत है।⁵¹ आचार्य शिवाय अणुव्रत की विभिन्न कोटियों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं⁵² - प्राणवध, मृषावाद, चोरी, परदारगमन तथा परिग्रह का स्थूल त्याग ही अणुव्रत है।

प्रायः अणुव्रत के संबंध में यह भ्रांत धारणा प्रचलित है कि अणुव्रत छोटा व्रत है जबकि यह सत्य नहीं है। यद्यपि अणु का शाब्दिक अर्थ छोटा होता है तथापि व्रत अपने आप में छोटा या बड़ा नहीं होता है। अपूर्ण और पूर्ण के अंतर से ये अणुव्रत और महाव्रत कहलाते हैं। पूर्णता और अपूर्णता का यह भाव व्रत के आंशिक या पूर्ण

रूप से ग्रहण करने के कारण ही जाना जाता है। चूँकि महाव्रत किसी भी व्रत की पूर्णता की सीमा है जबकि अणुव्रत अपूर्ण है और श्रावक अणुव्रत का आश्रय लेकर इस अपूर्ण से पूर्ण को प्राप्त करना चाहता है। इस दिशा में वह सम्यक् प्रयास भी करता है इस रूप में हम अणुव्रत को महाव्रत का लघु संस्करण कह सकते हैं लेकिन जहाँ तक आत्मबोध व आध्यात्मिक शक्ति का प्रश्न है तो इसकी अपेक्षा अणुव्रतों में भी बनी रहती है। अणुव्रतों की संख्या 5 मानी गई है—

- क. अहिंसाणुव्रत (प्राणवध का त्याग)
- ख. सत्याणुव्रत (मृषावाद का त्याग)
- ग. अस्तेयाणुव्रत (अदत्तादान का त्याग)
- घ. ब्रह्मचर्याणुव्रत (परदारगमन का त्याग) और
- ङ. अपरिग्रहाणुव्रत (परिग्रह परिमाण)

(क) अहिंसाणुव्रत – हिंसा का त्याग ही अहिंसा है। प्रायः अपनी आकांक्षा एवं आसक्ति के वशीभूत होकर जीव मानसिक, वाचिक और कायिक हिंसा करता रहता है। हिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचारांग में कहा गया है³³ – प्रमाद व कामभोगों में जो आसक्ति होती है, वहीं हिंसा है। स्पष्ट है कि प्रमाद के वशीभूत होकर जीव हिंसा करता है। कभी-कभी वह इतने अधिक तीव्र प्रमाद से ग्रस्त हो जाता है कि अन्य दूसरे जीवों का प्राणघात करने से भी नहीं हिचकता है इसीलिए आचार्य उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र में लिखते हैं³⁴ – प्रमत्तयोग से प्राणों का व्यपरोपण करना ही हिंसा है। अतः कषाय या रागादिभावों से युक्त होकर किसी का घात करना ही हिंसा है। शारीरिक घात के साथ-साथ मानसिक एवं भावनात्मक प्राणघात भी हिंसा का ही प्रतिरूप माना जाता है। अहिंसाणुव्रत में इस प्रकार की हिंसा का निषेध किया जाता है। उवासगदसाओ में कहा गया है³⁵ – यावज्जीवन मन, वचन एवं काय से स्थूल प्राणातिपात न स्वयं करना और न करवाना अहिंसाणुव्रत है। हिंसा के दो रूप हैं :-

(क) संकल्पजा और

(ख) आरम्भजा।

“किसी को मैं मारूँ” इस भावना से हिंसा करना संकल्पी हिंसा है जबकि विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु जो अनिवार्य हिंसा करनी पडती है वह आरम्भी हिंसा है। गृहस्थ संकल्पी हिंसा का त्याग करता है लेकिन आरम्भी का नहीं। अहिंसाणुव्रत के 5 अतिचार माने गए हैं जिनसे श्रावक बचता है। ये पाँच अतिचार हैं⁵⁶ :- बंध, वध, छविच्छेद, अतिभार एवं अन्नपान निरोध।

1. बंध : किसी त्रस प्राणि को उत्पीडक बंधन में डालना बंध है।
2. वध : निर्दयतापूर्वक कोड़े, बेंत आदि से शरीर पर प्रहार करना वध है।
3. छविच्छेद : शरीर के अंग विशेष को छेदना-काटना आदि छविच्छेद है। उचित पारिश्रमिक से कम देना भी छविच्छेद कहलाता है।
4. अतिभार : अधिक बोझ लादना, अधिक काम लेना, शक्ति-सामर्थ्य से अधिक कार्य कराना अतिभार है।
5. अन्नपान निरोध : पालतू पशुओं को भूखा रखना, नौकर आदि को समय पर वेतन नहीं देना अन्नपान निरोध है।

(ख) सत्याणुव्रत :- सत्य का सामान्य अर्थ है असत्य भाषण नहीं करना। जो वस्तु जैसी देखी अथवा सुनी गई हो, उसके विषय में वैसा न कहना, असत्य अथवा झूठ है। प्रायः किसी प्रमादवश ही व्यक्ति असत्य भाषण करता है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन इस बात की पुष्टि करता है। उनका मत है कि जो प्रमाद के योग से असत्य कथन किया जाता है, वह असत्य कहलाता है।⁵⁷ प्रमादवश जो असत्यभाषण किया जाता है उससे व्यक्ति को पीड़ा पहुँचती है। वह इससे अपने आपको आहत समझता है। पं. सुखलाल संघवी तत्त्वार्थसूत्र की अपनी व्याख्या में असत्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं⁵⁸ - गर्हित अर्थात् जो सत्य होने पर भी दूसरे को पीड़ा पहुँचाता हो ऐसा दुर्भावयुक्त कथन असत्य ही है। सत्य लेकिन

दूर्भावना से युक्त वचन भी असत्य ही कहलाएगा क्योंकि इसके पीछे भी व्यक्ति का प्रमादभाव सक्रिय रहता है। अतएव प्रमादवशा सत्य अथवा असत्य भाषण भी असत्य कहलाता है। इस आधार पर सत्याणुव्रत का प्रारूप निर्धारित किया जा सकता है। इस संबंध में हम आचार्य समन्तभद्र के कथन का अवलोकन कर सकते हैं जिन्होंने सत्याणुव्रत की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है⁵⁹ - जो लोक विरुद्ध, राज्यविरुद्ध एवं धर्म विरुद्ध झूठ न स्वयं बोलता है न दूसरों से बुलवाता है साथ ही दूसरों की विपत्ति के लिए कारणभूत सत्य को न स्वयं कहता है, न दूसरों से कहलवाता है, वह सत्याणुव्रती है। सत्याणुव्रत के पांच अतिचार माने गए हैं⁶⁰ - सहसाभ्याख्यान, रहस्याभ्याख्यान, स्वदारमंत्रभेद, मृषोपदेश तथा कूटलेखकरण। तत्वार्थसूत्र में ये अतिचार इस प्रकार से विवेचित हैं⁶¹ - मिथ्योपदेश, असत्य दोषारोपण, कूटलेख-पकरण, न्यास-अपहार और मंत्रभेद।

1. सहसाभ्याख्यान : बिना सोच-विचार किये किसी के विषय में दोषारोपण करना।
2. रहस्याभ्याख्यान : किसी की गोपनीय बात अथवा भेद को प्रकट करके उसके साथ विश्वासघात करना।
3. स्वदारमंत्र : पति और पत्नी की गुप्त बातों को इनमें से किसी द्वारा दूसरों के सामने प्रकट करना।
4. मृषोपदेश : सच्चा-झूठा कहकर अथवा बहकाकर किसी को कुमार्गी बनाना।
5. कूटलेखकरण : झुठा लेख लिखना, जाली दस्तावेज बनाना, झूठी मुद्राएँ बनाना।

(ग) अस्तेयाणुव्रत :- यह अचौर्य व्रत भी कहलाता है। किसी अन्य की वस्तु को उनकी अनुमति के बिना ग्रहण करना चौर्य कर्म कहलाता है। आचार्य उमास्वाति स्तेय के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं⁶² - बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करना चोरी है। अस्तेय स्तेय अथवा चौर्य कर्म का विपरीत भाव है। उपासकदशांग में अस्तेयाणुव्रत को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है⁶³ - स्थूल अदत्तादान का दो करण

और तीन योग से त्याग करना ही अस्तेयाणुव्रत है। स्थूल अदत्तादान के दो रूप हैं⁶⁴:-

(क) सचित्त अदत्तादान (ख) अचित्त अदत्तादान।

चेतन युक्त पदार्थ जैसे :- पालतू पशु, दास-दासी सचित्त हैं जबकि धन-धान्य, स्वर्ण-रजत, भूमि-मुद्रा आदि अचित्त पदार्थ हैं। इन दोनों को उनकी स्वामी की आज्ञा के बिना ग्रहण नहीं करना अस्तेयाणुव्रत है। योगसूत्र में कहा भी गया है⁶⁵- किसी की गिरी हुई वस्तु को, भूली हुई वस्तु को स्वामी के पास रखी हुई वस्तु को बिना अनुमति के किसी भी संकट के उत्पन्न होने पर न लेना ही अस्तेयाणुव्रत है। अस्तेय अणुव्रत के 5 अतिचार हैं⁶⁶- स्तेनाहत, तस्कर प्रयोग, विरुद्ध राज्यातिक्रम, कूटतूलाकूटमान एवं तत्प्रतिरूपक व्यवहार।

1. स्तेनादृत : चोरी का सामान लेना।
2. तस्कर प्रयोग : चोरों को वेतनादि देकर उनसे चोरी, डकैती, ठगी आदि करवाना।
3. विरुद्धराज्यातिक्रम : राजकीय नियमों के विरुद्ध व्यापार करना।
4. कूटतूलाकूटमान : बांट, तराजू, मीटर आदि से कम सामान तौलना या नापना।
5. तत्प्रतिरूपक व्यवहार : अधिक मूल्य वाली वस्तु में उसी के अनुरूप कम मूल्य वाली वस्तु की मिलावट करना।

(घ) ब्रह्मचर्याणुव्रत :- नर और मादा के परस्पर शारीरिक संबंध को अब्रह्म अथवा मैथुन कर्म कहते हैं। यह कामवासना है। सर्वार्थसिद्धि में इस संबंध में यह मत व्यक्त किया गया है⁶⁷- चारित्रमोह के उदय होने पर राग आक्रान्त स्त्री-पुरुष के जो परस्पर के स्पर्श की इच्छा होती है वह मिथुन एवं उनकी क्रिया मैथुन है। कामवासना मनुष्य की मूलप्रवृत्ति मानी गई है और इसकी पूर्ति हेतु नर-मादा में शारीरिक संसर्ग होता है। अणुव्रतधारी श्रावक भी इससे मुक्त नहीं हो पाता इसीलिए इसकी मर्यादा निर्धारण हेतु यह विधान किया गया है⁶⁸- स्वपत्नी संतोष व्रत ग्रहण करके अन्य सब प्रकार के मैथुन का त्याग करना ही ब्रह्मचर्याणुव्रत है। इसके 5

अतिचार हैं⁶⁹— इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, परिगृहीतागमन, अनंगक्रीड़ा, परविवाहकरण और कामभोग तीव्र अभिलाषा।

1. इत्वरपरिगृहीतागमन : किसी दूसरे के द्वारा स्वीकृत अमुक समय तक वेश्या या वैसी साधारण स्त्री का उस कालावधि में भोग करना।
2. अपरिगृहीतागमन : वेश्या का, वियोगिनी स्त्री का, अनाथ या किसी पुरुष के कब्जे में नहीं रहने वाली स्त्री का उपभोग करना।
3. अनंगक्रीड़ा : अस्वाभाविक काम-सेवन अथवा सृष्टि विरुद्ध काम-सेवन।
4. परविवाहकरण : अपने परिवार के सदस्यों को छोड़कर अन्य का विवाह करना।
5. कामभोग तीव्र अभिलाषा : कामासक्त होकर कामजनक औषध का प्रयोग करना, मादक पदार्थों का सेवन करके विविध प्रकार से कामक्रीड़ा करना।

(ड) अपरिग्रहाणुव्रत :- ग्रहण करना परिग्रह है। परिग्रह का कारण इच्छा को माना गया है और इच्छा तृष्णा के कारण जन्म लेती है। इन सबके मूल में आसक्ति ही सर्वप्रमुख कारण है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने परिग्रह का मुख्य कारण मूर्च्छा (आसक्ति) को माना है।⁷⁰ आसक्ति मोह के उदय से होती है। इस संबंध में आचार्य अमृत चंद्र का मंतव्य दृष्टव्य है⁷¹— मोह के उदय से हुआ ममत्व परिणाम मूर्च्छा है और यही मूर्च्छा भाव परिग्रह है। इसी परिग्रहभाव के वशीभूत होकर व्यक्ति बाह्य और आभ्यंतर वस्तु को ग्रहण करता रहता है और उनके प्रति आसक्ति रखता है। इसी आसक्ति के वशीभूत होकर वह उन वस्तुओं को 'मेरा है' कहकर अपनी आसक्ति को प्रकट करता है। उसका यही संकल्प परिग्रह है।⁷² इन सबके विषय में चित्त को संकुचित करना ही अपरिग्रह है। यही चित्त संकुचन इच्छाओं को परिमित

करता है और इच्छा-परिमित को अपरिग्रह कहा गया है।⁷³ अपरिग्रह अणुव्रत का मुख्य ध्येय धन-धान्य आदि वस्तुओं की मर्यादा या सीमांकन करना है। इसके 5 अतिचार हैं⁷⁴- क्षेत्र वस्तु की मर्यादा का अतिक्रमण, हिरण्य-सुवर्ण की मर्यादा का अतिक्रमण, द्विपद-चतुष्पद प्रमाण की मर्यादा का अतिक्रमण, धन-धान्य की मर्यादा का अतिक्रमण एवं कुवियधातु की मर्यादा का अतिक्रमण।

1. क्षेत्रवस्तु प्रमाणातिक्रम : कृषियोग्य भूमि, मकान आदि हेतु निर्धारित मर्यादा का उल्लंघन।
2. हिरण्य स्वर्ण प्रमाणातिक्रम : स्वर्ण-रजत आदि बहुमूल्य धातुओं की सीमा का अतिक्रमण।
3. द्विपद-चतुष्पद प्रमाणातिक्रम : दास-दासी, पशु आदि की मर्यादा का उल्लंघन।
4. धन-धान्य प्रमाणातिक्रम : हीरे-मोती-माणिक, चावल-गेंहू-धान आदि वस्तुओं की मात्रा का उल्लंघन।
5. कुप्य प्रमाणातिक्रम : गृहोपकरण, शय्या, आसन - वस्त्रादि की रखी मर्यादा का अतिक्रमण।

रत्नकरंडकश्रावकाचार में 5 अतिचार इस प्रकार हैं - अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अतिभारोपण।

तीन गुणव्रत :- श्रावक के द्वादश व्रतों में तीन गुणव्रतों का विधान किया गया है। श्रावकों द्वारा प्रतिपालित अणुव्रतों के विकास और रक्षण में गुणव्रत का अप्रतिम योगदान माना जाता है। अतः श्रावकों द्वारा ये आवश्यक रूप से पालनीय माने गए हैं। गुणव्रत के परिपालन करने से श्रावक अपने अणुव्रतों का पालन दृढ़ता पूर्वक करता है। गुणव्रतों की संख्या 3 मानी गई है,⁷⁵ यहाँ हम-तीन गुणव्रतों पर विचार करेंगे⁷⁶-

- क. अनर्थदंडविरमण,
ख. दिशापरिमाण और
ग. उपभोग-परिभोग परिमाण।

(क) अनर्थदण्ड विरमण व्रत :- अपने और अपने आश्रितों के जीवन निर्वाह के लिए गृहस्थ श्रावकों को कुछ न कुछ हिंसा करनी ही पड़ती है और इसे क्षम्य भी माना जा सकता है किंतु निष्प्रयोज्य की गई हिंसा को क्षम्य नहीं माना जा सकता है। श्रावकों को ऐसे कार्यों से बचने का संकेत जैनग्रंथों में मिलता है। कहीं इसके 5 भेद मिलते हैं तो कहीं इसके 4 भेद बताए गए हैं।⁷⁷ ये 5 भेद हैं :-

1. अपध्यानाचरित : क्रूर विचारों अथवा दुश्चिंतन के कारण हिंसा करना।
2. प्रमादाचरित : आलस्यवश शुभ प्रवृत्तियों से बचना अथवा उनके करने में विलम्ब करना।
3. हिंस्रप्रदान : दूसरे व्यक्तियों को आखेटादि के लिए शस्त्रादि की सहायता करना, हिंसा के लिए प्रेरित करना।
4. पापकर्मोपदेश : किसी प्राणी का घात करना अथवा उन्हें पीड़ा पहुँचाने के लिए उत्तेजित करना।
5. दुःश्रुति : कुमार्ग प्रतिपादक शास्त्रों को सुनना, संग्रह करना एवं शिक्षण कार्य करना।

श्रावक को इन कार्यों से तो बचना ही पड़ता है साथ ही साथ उन्हें अनर्थदंड व्रत के पाँच अतिचारों से भी सावधान रहना पड़ता है। ये 5 अतिचार हैं⁷⁸:-
हर्ष, कौटकुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरण और उपभोग परिभोगातिरेक।

1. कन्दर्प : मानसिक विकारों को बढ़ाने वाले वचनों को बोलना, सुनना अथवा वैसी चेष्टा करना।
2. कौटुकुच्य : विदूषकों की भाँति हाथ-पैर नचाना, अन्य आंगिक चेष्टा करना।
3. मौखर्य : अधिक वार्तालाप करना, रोखी मारना, दूर की हाँकना।
4. संयुक्ताधिकरण : बिना अपेक्षा के हिंसक हथियारों का संग्रह करना।
5. उपभोग परिभोगातिरेक : उपभोग-परिभोग की सामग्री को अवश्यकता से अधिक मात्रा में संग्रह करना।

(ख) दिशापरिमाण व्रत :- इस व्रत का आशय दिशाओं के परिमाण निर्धारित करने से है। उपासकदशांग की टीका में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं में मैं इतनी दूर तक नहीं जाऊँगा तथा इससे आगे नहीं जाऊँगा इस प्रकार की मर्यादा निर्धारित कर लेना दिशापरिमाणव्रत है। इसे दिग्व्रत भी कहते हैं।⁷⁹ आचार्य समन्तभद्र का मतव्य इस संबंध में इस प्रकार विवेचित है⁸⁰ - दसों दिशाओं की मर्यादा करके सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिए “मैं इससे बाहर नहीं जाऊँगा” इस प्रकार का संकल्प ही दिग्व्रत नाम गुणव्रत है। इसके 5 अतिचार है⁸¹ :- उर्ध्वदिशातिक्रमण, अधोदिशातिक्रमण, तिर्यक्दिशातिक्रमण, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तरद्धा।

- उर्ध्वदिशातिक्रमण : उर्ध्व (ऊपर) दिशा का अतिक्रमण।
 अधोदिशातिक्रमण : अधो (नीचे) दिशा का अतिक्रमण।
 तिर्यक्दिशातिक्रमण : अन्य दिशाओं का अतिक्रमण करना।
 क्षेत्रवृद्धि : दो विभिन्न दिशाओं की जो मर्यादा निर्धारित की गई है उनमें से किसी एक दिशा में क्षेत्र

को घटाना और उतनी ही मात्रा में दूसरी दिशा में क्षेत्र वृद्धि करना।

स्मृत्यन्तरद्धा : निर्धारित की गई मर्यादा का विस्मृत होना और भ्रमवशा क्षेत्र की मर्यादा का उल्लंघन करना।

3. उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत :- मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वस्तुओं का उपभोग और परिभोग करके करता है। किसी वस्तु का बार-बार प्रयोग परिभोग है, जबकि वस्तु का एक बार उपयोग करना उपभोग कहलाता है। भोग और परिभोग की मर्यादा निर्धारित करना ही उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है। जैनग्रन्थों में इस हेतु 21 अथवा 26 वस्तुओं का नामोल्लेख मिलता है तथा भोजन एवं कर्म की अपेक्षा से यह दो वर्गों में बँटा है⁸² इसके 5 अतिचार आहार की अपेक्षा से और 15 अतिचार कर्म की अपेक्षा से माने गए हैं⁸³ आहार-अपेक्षा से 5 अतिचार हैं-सचित्त आहार, सचित्त प्रतिबद्ध आहार, अपक्वाहार, दुष्पक्वाहार और तुच्छोषधिभक्षण।

सचित्त आहार : सचित्त वस्तुओं का आहार ग्रहण करना ।

सचित्त प्रतिबद्धाहार : चेतन्य द्रव्य से संश्लिष्ट आहार ग्रहण करना।

अपक्वाहार : अग्नि आदि के द्वारा जिसका रूप, रस, गंध अन्यथा नहीं हुआ हो उस अपक्व दोष वाले आहार को ग्रहण करना।

दुष्पक्वाहार : अर्द्धपक्व वस्तु का आहार करना।

तुच्छोषधिभक्षण : उस वस्तु का आहार जो कम खायी जाए और जिसका अधिकांश भाग बाहर फेंक दिया जाए।

15 कर्मदान - कर्म की अपेक्षा जो कार्य नहीं करने योग्य हैं उन्हें कर्मादान कहते हैं। इनकी कुल संख्या 15 है - अंगार कर्म, वनकर्म, शकटकर्म, भाटीकर्म, स्फोटकर्म, दन्तवाणिज्य, लक्षवाणिज्य, रसवाणिज्य, विषवाणिज्य, केशवाणिज्य, यंत्रपीडानकर्म, निलाघनकर्म, अवाग्निदापन, सरहदतडाग शोषण तथा असतीजनपोषण।

गुणव्रतों के संबंध में प्रायः ग्रंथों में दिग्ब्रत, भोगोपभोग और अनर्थदंडविरमण यही क्रम पाया जाता है परंतु यहाँ गुणव्रत के विवेचन में इस क्रम में परिवर्तन करते हुए अनर्थदण्ड को प्रथम स्थान पर रखा है, द्वितीय पर दिग्ब्रत तथा अंतिम स्थान पर उपभोग परिभोग परिमाणव्रत है। यह क्रम रखने के पीछे कोई विशेष कारण नहीं है लेकिन उपासकदशांग (मधुकरमुनि द्वारा संपादित) गाथा अनुक्रम 1/11 में महावी की धर्मदेशना में अगार व्रत के अंतर्गत 3 गुणव्रतों का जो उल्लेख है उसमें इस अनुक्रम का पालन हुआ है (... तिण्णि गुणव्वयाइं तं-जहा ... अणत्थदंडवेरमणं, दिसिच्चयं, उवभोग परिभोग परिमाणं।) बाद में इसी ग्रंथ में जब अतिचारों का उल्लेख हुआ है तो अनुक्रम क्रमशः- दिग्ब्रत, उपभोग-परिमाणव्रत और अनर्थदंडविरमण मिलता है⁸⁴।

चार शिक्षाव्रत :- श्रावक के द्वादश व्रतों में शिक्षाव्रत का अपना एक अलग महत्व है। यही एक ऐसा श्रावक व्रत है जिसका अभ्यास बार-बार करना पड़ता है। इसके पूर्व वर्णित अणुव्रत और गुणव्रत का ग्रहण जीवन में एक बार ही किया जाता है और इनका अभ्यास भी निरंतर करना पड़ता है। शिक्षाव्रतों की संख्या 4 है⁸⁵:-

- | | |
|---------------------|-------------------|
| (क) सामायिक | (ख) देशावकाशिक |
| (ग) प्रौषधोपवास एवं | (घ) अतिथिसंविभाग। |

तत्त्वार्थसूत्र में देशावकाशिक को गुणव्रत तथा भोगोपभोग को शिक्षाव्रत माना गया है।⁸⁶ रत्नकरंडक श्रावकाचार में अतिथिसंविभाग के स्थान पर वैयावृत्य शब्द का प्रयोग मिलता है।⁸⁷ वसुनिदि ने भोगपरिमाण, उपभोगपरिमाण, अतिथिसंविभाग तथा सल्लेखना को शिक्षाव्रत माना है।⁸⁸ सागारधर्मांमृत में देशावकाशिक, सामायिक, प्रौषधोपवास एवं अतिथिसंविभाग इन चार शिक्षाव्रतों का उल्लेख किया गया है।⁸⁹ इस प्रकार शिक्षाव्रत की संख्या और क्रम को लेकर श्वेताम्बर एवं दिग्ब्रत मान्य साहित्य में कुछ अंतर अवश्य परिलक्षित होता है। हम इन अंतरों पर विचार न करके 4 शिक्षाव्रतों के स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

(क) सामायिक :- सामायिक जैन परंपरा की आराधना पद्धति है। इसी

साधना के द्वारा श्रावक समतामूलक दृष्टि को प्राप्त कर सकता है। सामायिक की साधना के अनुक्रम में साधक त्रस-स्थावर सभी जीवों के प्रति समान भाव रखता है। वह पापपूर्ण (सावद्य) प्रवृत्ति का त्याग करता है तथा दोषमुक्त (निरवद्य) प्रवृत्ति को अपनाता है। सामायिक का व्रत पूर्वाहन, मध्याहन एवं अपराहन तीनों कालों में किया जाता है। इसकी साधना व्यवधान रहित स्थानों पर की जाती है ताकि साधक चित्त विक्षेप से मुक्त होकर समत्व भाव में रमण कर सके। इसके 5 अतिचार हैं⁹⁰— मनोदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, स्मृत्यकरण और अनवस्थितता।

1. मनोदुष्प्रणिधान : मन में अशुभ विचारों का आना।
2. वचनदुष्प्रणिधान : वचन का दुरुपयोग, कठोर-कटु-असत्य संभाषण।
3. कायदुष्प्रणिधान : शरीर से पापपूर्ण कार्य करना।
4. स्मृत्यकरण : सामायिक में स्मृति न रखना।
5. अनवस्थितता : अस्थिर मन से अथवा शीघ्रता से सामायिक करना।

(ख) देशावकाशिक :- देशावकाशिक व्रत द्वारा अनिवार्य एवं अपरिहार्य परिस्थिति आ जाने पर दिशापरिमाणव्रत नामक गुणव्रत में निर्धारित की गई क्षेत्र-दिशा की मर्यादा में कुछ अवधि के लिए परिवर्तन करने का विधान किया जाता है। यह व्रत जिस निश्चित अवधि के लिए ग्रहण किया जाता है, श्रावक इस काल में उस नवीन रूप में स्थिर क्षेत्रादि की मर्यादा का पूर्णतः पालन करता है। जिस नवीन क्षेत्र की मर्यादा निर्धारित की जाती है, कर्ता उसके बाहर नहीं जाता, किसी को बाहर नहीं भेजता और उसके बाहर स्थित व्यक्ति को भी नहीं बुलाता है। वह क्षेत्र के बाहर से लायी गई वस्तु का उपयोग नहीं करता। इस प्रकार इस व्रत में मुख्य रूप से प्रवृत्तियों को संकुचित किया जाता है। उपासकदशांग, आवश्यकसूत्र में यह शिक्षाव्रत है जबकि तत्त्वार्थसूत्र, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, उपासकाध्ययन में इसे गुणव्रत माना गया है⁹¹ इसके 5 अतिचार हैं⁹²— आनयन प्रयोग, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और बहिःपुद्गल प्रक्षेप।

1. आनयनप्रयोग- मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मंगाना।
2. प्रेष्यप्रयोग- मर्यादित क्षेत्र से बाहर कोई वस्तु भेजना।
3. शब्दानुपात- मर्यादित क्षेत्र से स्वयं बाहर नहीं जाना, लेकिन शब्दादि संकेतों के माध्यम से संदेश प्रेषित करना।
4. रूपानुपात- मर्यादित क्षेत्र से बाहर कोई प्रतीक वस्तु भेजकर उसकी सहायता से कार्य संपन्न कराना।
5. बहिःपुद्गल प्रक्षेप- मर्यादित क्षेत्र से बाहर कंकड, पत्थर आदि फेंककर वहां के व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करना।

(ग) पौषधोपवास :- तिथिविशेष में धर्मस्थान में धर्माचार्य के संग उपवास करना पौषधोपवास व्रत कहलाता है। पौषध या प्रोषध का अर्थ है- धर्मस्थान में रहना या धर्माचार्य के संग रहना। यद्यपि इस प्रक्रिया में शरीर का रक्षण होता है लेकिन श्रावक को आध्यात्मिक लाभ मिलता है और उसकी आत्मवृद्धि होती है क्योंकि इस परिस्थिति में आत्मा को पोषण मिलता है। आचार्य अभयदेव द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी तथा चतुर्दशी को प्रोषधोपवास की तिथि मानते हैं जबकि आचार्य समन्तभद्र इस हेतु अष्टमी एवं चतुर्दशी को उत्तम पर्वतिथि कहते हैं। श्रावक को इन पर्वतिथियों में चतुर्विध आहार का त्याग करना चाहिए अथवा एकाशन पौषध के साथ उपवास रखना चाहिए। इसके 5 अतिचार निम्नलिखित हैं³³ :-

1. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारक :- पौषध हेतु प्रयुक्त स्थान का भली प्रकार निरीक्षण न करना।
2. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक :- पौषध हेतु प्रयुक्त शय्या आदि को भली प्रकार साफ किए बिना उपयोग करना।
3. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार-प्रस्रवण भूमि:- मल-मूत्र त्याग करने के स्थान का निरीक्षण नहीं करना।
4. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवण भूमि :- मल-मूत्र त्यागने

वाले स्थान को साफ किए बिना उपयोग करना।

5. पौषधोपवास-सम्यग्नुपालनता :- पौषधोपवास का सम्यक् रीति से पालन न करना।

(घ) अतिथिसंविभाग :- यह व्रत निःस्वार्थ सेवा और त्याग का प्रतीक माना जाता है। श्रावक मूल रूप से गृहस्थ होता है और उसके यहाँ अतिथियों का आगमन स्वाभाविक है। प्रायः अतिथि-आगमन आकस्मिक होता है इसीलिए ये अतिथि हैं अर्थात् जिनके आने की तिथि निश्चित न हो, उन्हें अतिथि कहते हैं। गृहस्थ अपने घर में स्वयं के उपयोगार्थ आवश्यक वस्तुएँ रखता है जिन पर उसका स्वतः सिद्ध अधिकार माना गया है। परंतु अतिथि के आ जाने पर अपने उपयोगार्थ वस्तु का समुचित विभाग करके अतिथियों को तृप्त करना उसका कर्त्तव्य है। श्रावक आतिथ्य-सत्कार के इस धर्म से कभी विमुख नहीं होता है। वह भ्रमणशील अतिथियों, श्रमणों को न्यायपूर्वक जो कुछ भी अर्पित करता है, वह अतिथिसंविभाग नामक चतुर्थ शिक्षाव्रत है।

संदर्भ :-

1. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
- आवश्यकं निर्युक्ति, 192
2. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागभः। प्रमाणनयतत्त्वा- लोकालंकार, 4-1 आप्तवचनं ह्यागमः।- रत्नकरंडक श्रावकाचार टीका, (प्रभाचन्द्र), 4; आवश्यक वृत्ति (मलयगिरि), पत्र 48
3. नंदीसूत्र, सूत्र 41
4. सुयसुत्त..... आगमे। अनुयोगद्वारासूत्र, 4; विशेषावश्यकभाष्य, 8/97
5. आ-अभिविधिना सकलश्रुत विषयव्याप्ति रूपेण, मर्यादया वा यथावस्थित प्ररूपणा रूपया गम्यन्ते-परिच्छिद्यन्ते अर्थाः येन सः आगमः। आवश्यक वृत्ति, मलयगिरि
6. सासिज्जइ जेण तयं..... सत्यं तु सुयनाणं।
- विशेषावश्यक भाष्य, 559
7. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 1, ले. पं. बेचरदास दोशी,

- प्रस्तावना, पृष्ठ 24
- पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1989
8. चउदस पुव्वा पण्णत्ता - समवायांग, 14 एवं 18
 9. दुविहो पण्णतं, तंजहा- अंगपविओ अंग बाहिरं च।
- नंदीसूत्र (मधुकर मुनि), पृष्ठ 160
 10. अनुयोगद्वार, 144, पृष्ठ 219
 11. डॉक्टरिन ऑफ जैनाज, पृ.29, उद्धृत-जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग1, पृष्ठ 19
 12. आगमे तिविहे पण्णत्ते- सुत्तागमे य अत्थागमे य तदुभयागमे या
-अनुयोगद्वारसूत्र, 470
 13. ...अनिबद्धमंगोपांगशः..... तत्त्वार्थभाष्य, 1/20
 14. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा- देवेन्द्र मुनि शास्त्री, तारक गुरू जैन ग्रंथालय, उदयपुर, 1977, पृष्ठ 30-33
 15. आवश्यक निर्युक्ति, 363-377, दशवैकालिक निर्युक्ति, 3 टीका; उद्धृत-जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृष्ठ 16
 16. रत्नकरंडकश्रावकाचार, 1/43-46, उद्धृत-जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृष्ठ 18
 17. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृष्ठ 18
 18. आणदे कामदेवे य, गाहावइ चुलणीपिया।
सुरादेवे चुल्लसयए, गाहावइ कुंडकोलिए।
सद्दालपुत्ते महासयए, नदिणीपिया सालिहीपिया।
- उवासगदसाओ (मधुकर मुनि), 1/2
 19. वही, प्रथम अध्ययन
 20. वही, द्वितीय अध्ययन
 21. वही, तृतीय अध्ययन
 22. वही, चतुर्थ अध्ययन
 23. वही, पंचम अध्ययन
 24. वही, षष्ठम अध्ययन
 25. वही, सप्तम अध्ययन

26. वही, अष्टम अध्ययन
27. वही, नवम अध्ययन
28. वही, दसवां अध्ययन
29. गाहावई समणोवासए यावि होत्था।
- सुत्तागमे (सुयगडांग), सूत्र 2/7
णो खलु वयं संचाएमो मुण्डा भवित्ता अगाराओ..।
सावयं ण्हं अणुपुण्वेणं सुत्तस्स लिसिस्सामो।
- वही, सूत्र 2/7
30. चरित्तधम्मे दुविहे अगारचरित्त धम्मे चेव अणगार चरित्त धम्मे।
- ठाणं (सुत्तागमे), 2/1/188
चत्तारि समणो वासगा पण्णत्ता.... वही, 4/3/406
31. एक्कारस उवासग पडिमाओ.... समवाए।
- (सुत्तागमे), पृष्ठ 324
“समणभूए आविभवइ समणाउसो” वही, पृष्ठ 324
32. सोच्चा णं केवलिस्स व केवलिसावगस्स वा केवलिसावियाए वा केवलिउवासगस्स...। भगवई (अंगसुत्ताणि, भाग 2), 5/96
33. देवाणुप्पिआणं अंतिए पच्चाणुव्वइयं जाव समणोवासए।
ज्ञाताधर्मकथा (शोभाचंद्रभारिल्ल), 5/ पृष्ठ 190
34. उवासगदसाओ (मधुकर मुनि), 1/70, 1/12, 1/11, 2/92
35. से मोग्गर पाणी जक्खे सुदंसणं समणोवासयं...।
- अंतगडदसाओ (सुत्तागमे), 6/3 पृष्ठ 1197
36. उवासगाण पडिमासु भिक्खुण पडिमासु य
जे भिक्खु जयइ णिच्चसेन अच्छइ मण्डले।
- उत्तराध्ययनसूत्र, 31/11
37. दुविह संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं।
- चारित्रपाहुड, गाथा 22
38. मूलोत्तरगुण..... श्रावकः पिपासुः स्यात्।
- धर्माभृत (सागार), 1/15
39. सम्मत्त विसुद्धमई सो दंसण सावयो भणिओ।

- वसुनंदिश्रावकाचार, सूत्र 205

40. अणुव्रतोऽगारी। - तत्वार्थसूत्र, 7/15
41. उवासगदसाओ, (मधुकर मुनि), 1/14-75
42. स्थानांग (मधुकर मुनि), 5/1/2
43. समवायांग (मधुकर मुनि), 11/71
44. आवश्यकसूत्र (मधुकर मुनि), चतुर्थ अध्ययन, पृ. 39,40,पृ. 99-106
45. तत्वार्थसूत्र, 7/20,21 आगे तक
46. योगशास्त्र, द्वितीय एवं तृतीय प्रकाश
47. चारित्रसार, 13/7,
48. वसुनंदि श्रावकाचार, 207
49. सागारधर्मांमृत, 2/16
50. विरतिं स्थूलहिंसादेर्द्विविधत्रिविधादिना।
अहिंसादीनि पंचाणुव्रतानि जगदुर्जिनाः।

- योगशास्त्र, 2/18

51. सागारधर्मांमृत, 4/5
52. पाणवध-मुसावाद-दत्तादान परदारगमणेहिं।
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइ विरमणाइं।
- भगवती आराधना, 2080
53. एत्थसत्थं असमारम्भमाणस्स इच्चेते आरम्भा परिण्णाया भवन्ति।
- आचारांग, 1/4/36
54. प्रमत्तयोगात् प्राणण्यपरोपणं हिंसा। - तत्वार्थसूत्र, 7/13
55. उवासगदसाओ, 1/13
56. उवासगदसाओ, 1/45; तत्वार्थसूत्र, 7/25
57. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 91
58. तत्वार्थसूत्र, विवेचन पं. सुखलाल संघवी, पृ. 176, पारश्वनाथ विद्याश्रम
शोध संस्थान, वाराणसी, 1993
59. रत्नकरंडकश्रावकाचार, 3/9
60. उवासगदसाओ, 1/46

61. तत्त्वार्थसूत्र, 7/21
62. वही, 7/10
63. उवासगदसाओ, 1/15
64. सचित्तादत्तादाणे अचित्तादत्तादाणे य...।
- आवश्यकसूत्र, 3
65. पतितं विस्मृतं नष्टं..... परकीयं क्वचित् सुधीः॥
- योगशास्त्र, 2/66
66. अवासगदसाओ, 1/47; तत्त्वार्थसूत्र, 7/22;
- धर्माभूत (सागर), 4/50
67. स्त्री पुंसयोश्चारित्र मोहोदयेसति रागपरिणामा विष्टयोः परस्पर स्पर्शनं प्रतिइच्छा मिथुनम् मिथुनस्य कर्म मैथुनमिच्युच्यते।
- सर्वार्थसिद्धिः, 7/16
68. उवासगदसाओ, 1/16 ; रत्नकरंडकश्रावकाचार, 3/13
69. उवासगदसाओ, 1/48; तत्त्वार्थसूत्र, 7/23; रत्नकरंडक- श्रावकाचार, 3/14
70. तत्त्वार्थसूत्र, 7/12
71. या मूर्खानामेयं..... तु ममत्वपरिणामः।
- पुरुषार्थसिद्धयुपायः, 111
72. उपासकाध्ययन, 432
73. उवासगदसाओ, 1/17; रत्नकरंडकश्रावकाचार, 3/15
74. उवासगदसाओ, 1/49; तत्त्वार्थसूत्र, 7/24; रत्नकरंडक- श्रावकाचार, 3/16
75. तिण्णि गुणव्वयाइं.....। उवासगदसाओ, 1/11
..... सत्त सिक्खावइयं वही, 1/12
76. उवासगदसाओ, 1/11; रत्नकरंडकश्रावकाचार, 2/21
77. उवासगदसाओ, 1/43; श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, (अणुव्रत), 8;
श्रावकप्रज्ञप्ति, 289; रत्नकरंडकश्रावकाचार, 2/29;
अमितगतिश्रावकाचार, 6/93
78. उवासगदसाओ, 1/53; तत्त्वार्थसूत्र, 7/27; श्रावकप्रज्ञप्ति, 291;

सागारधर्मांमृत 5/12

79. मज्जाया गमणे होई, पुव्वाइसु दिसासु जा एयं सिया दिसिवय तिविहं
तं च कित्ति।
- उपासकदशांगसूत्र (घासीलाल जी), पृ. 235
80. रत्नकरंडकश्रावकाचार, 2/22
81. उवासगदसाओ, 1/50; रत्नकरंडकश्रावकाचार, 2/27; सागारधर्मांमृत,
4/5
82. उवासगदसाओ, 1/18-42; श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र (अणुव्रत), 7;
रत्नकरंडकश्रावकाचार, 2/36 ; योगशास्त्र, 3/4
83. उवासगदसाओ, 1/51; तत्त्वार्थसूत्र, 7/30
84. उवासगदसाओ, 1/50, 51,52
85. उवासगदसाओ, 1/11; तत्त्वार्थसूत्र, 7/16; रत्नकरंडक-
श्रावकाचार,4/1
86. तत्त्वार्थसूत्र, 7/16,
87. रत्नकरंडकश्रावकाचार,4/1
88. वसुन्दिश्रावकाचार, 217, 218, 219
89. सागारधर्मांमृत, 5/24
90. उवासगदसाओ, 1/53; तत्त्वार्थसूत्र, 7/28; रत्नकरंडक- श्रावकाचार,
4/9; सागारधर्मांमृत, 5/33; कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 53
91. उवासगदसाओ, 1/11; आवश्यकसूत्र, 6; तत्त्वार्थसूत्र, 7/16;
पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 139; उपासकाध्ययन, 4/5
92. उवासगदसाओ, 1/54; रत्नकरंडकश्रावकाचार, 4/20; तत्त्वार्थसूत्र,
7/29
93. उपासकदशांगसूत्र टीका (अभयदेव), पृ.45; रत्नकरंडक-
श्रावकाचार, 4/19

□ प्रवक्ता

पार्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

अन्तकृद्दशा की विषय वस्तु : एक पुनर्विचार

□ प्रो. सागरमल जैन

अन्तकृद्दशा जैन अंग-आगमों का अष्टम अंगसूत्र है। स्थानांगसूत्र में इसे दस दशाओं में एक बताया गया है। अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु से संबंधित निर्देश श्वेताम्बर आगम साहित्य में स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र में तथा दिगम्बर परम्परा में राजवार्तिक, धवला तथा जयधवला में उपलब्ध है।

अन्तकृद्दशा का वर्तमान स्वरूप :- वर्तमान में जो अन्तकृद्दशा उपलब्ध है उसमें आठ वर्ग हैं।

प्रथम वर्ग में और विष्णु ये दस अध्ययन उपलब्ध हैं :-

1. गौतम
2. समुद्र
3. सागर
4. गम्भीर
5. स्तिमित
6. अचल
7. काम्पिल्य
8. अक्षोभ
9. प्रसेनजित

द्वितीय वर्ग में आठ अध्ययन हैं इनके नाम हैं :-

1. अक्षोभ
2. सागर
3. समुद्र
4. हिमवन्त
5. अचल
6. धरन
7. पूरन
8. अभिचन्द्र।

तृतीय वर्ग में निम्न तेरह अध्ययन हैं :-

1. अनीयस कुमार
2. अनन्तसेन कुमार
3. उनिहत कुमार
4. विद्वत् कुमार
5. देवयश कुमार
6. शत्रुसेन कुमार
7. सारण कुमार
8. गज कुमार
9. सुमुख कुमार
10. दुर्मुख कुमार
11. कूपक कुमार
12. दारुक कुमार
13. अनादृष्टि कुमार।

चतुर्थ वर्ग में निम्न दस अध्ययन हैं :-

1. जालि कुमार
2. मयालि कुमार
3. उवयालि कुमार
4. पुरुषसेन कुमार
5. वारिषेण कुमार
6. प्रद्युम्न कुमार
7. शाम्ब कुमार
8. अनिरुद्ध कुमार
9. सत्यनेमि कुमार
10. दृढनेमि कुमार।

पंचम वर्ग में दस अध्ययन हैं जो कृष्ण की आठ प्रधान पत्नियों और प्रद्युम्न की दो पत्नियों से संबंधित हैं। प्रथम वर्ग से लेकर पांचवें वर्ग तक के अधिकांश

व्यक्ति कृष्ण के परिवार से संबंधित हैं छठें, सातवें और आठवें वर्ग का संबंध महावीर के शासन से है।

छठें वर्ग के निम्न 16 अध्ययन बताये गये हैं :-

1. मकाई 2. किंकम 3. मुद्गरपाणि 4. कारयप 5. क्षेमक 6. धृतिधर 7. कैलाश 8. हरिचन्दन 9. वारत्त 10. सुदर्शन 11. पुण्यभद्र 12. सुमनभद्र 13. सुप्रतिष्ठित 14. मेघकुमार 15. अतिमुक्त कुमार 16. अलक्क (अलक्ष्य) कुमार।

सातवें वर्ग के 13 अध्ययनों के नाम निम्न हैं :-

1. नन्दा 2. नन्दवती 3. नन्दोत्तरा 4. नन्दश्रेणिका 5. मरुता 6. सुमरुता 7. महामरुता 8. मरुदेवा 9. भद्रा 10. सुभद्रा 11. सुजाता 12. सुमनायिका 13. भूतदत्ता।

आठवें वर्ग में काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, वीरकृष्णा, रामसेनकृष्णा, कर्मसेनकृष्णा और महासेनकृष्णा इन दस श्रेणिक की पत्नियों का उल्लेख है। उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण को देखने से केवल किंकम और सुदर्शन ही ऐसे अध्याय हैं जो स्थानांग में उल्लिखित विवरण से नाम साम्य रखते हैं, शेष सारे नाम भिन्न हैं।

अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु संबंधी प्राचीन उल्लेख :-

स्थानांग में हमें सर्वप्रथम अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें अन्तकृद्दशा के निम्न दस अध्याय बताये गये हैं- नमि, मातंग, सोमिल, रामगुप्त (रामपुत्त), सुदर्शन, जमाली, भयाली, किंकम, पल्लतेतीय और फलअम्बपुत्र। यदि हम वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशा को देखते हैं तो उसमें उपर्युक्त दस अध्यायों में केवल दो नाम सुदर्शन और किंकम उपलब्ध हैं।

समवायांग में अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु का विवरण देते हुए कहा गया है कि इसमें अन्तकृत जीवों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक और परलोक की ऋद्धि विशेष, भोग और उनका परित्याग, प्रव्रज्या, श्रुतज्ञान का अध्ययन, तप तथा क्षमा आदि बहुविध

प्रतिमाओं का वहन, सत्रह प्रकार के संयम, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य, समिति, गुप्ति, अप्रमाद, योग, स्वाध्याय और ध्यान संबंधी विवरण हैं। आगे इसमें उत्तम संयम को प्राप्त करने पर तथा परिग्रहों के जीतने पर चार कर्मों के क्षय होने से केवलज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार से होती है, इसका उल्लेख है, साथ ही उन मुनियों की श्रमण पर्याय, प्रायोपगमन, अनशन, तप और रज से मुक्त होकर मोक्षसुख को प्राप्त करने संबंधी उल्लेख हैं। समवायांग के अनुसार इसमें एक श्रुतस्कंध, दस अध्ययन और सात वर्ग बतलाये गये हैं जबकि उपलब्ध अन्तकृद्दशा में आठ वर्ग हैं। अतः समवायांग में वर्तमान अन्तकृद्दशा की अपेक्षा एक वर्ग कम बताया गया है। ऐसा लगता है कि समवायांगकार ने स्थानांग की मान्यता और उसके सामने उपलब्ध ग्रंथ में एक समन्वय बैठाने का प्रयास किया है। ऐसा भी लगता है कि समवायांगकार के सामने स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा लुप्त हो चुकी थी और मात्र उसमें 10 अध्ययन होने की स्मृति ही शेष थी तथा उसके स्थान पर वर्तमान उपलब्ध अन्तकृद्दशा के कम से कम सात वर्गों का निर्माण हो चुका था।

नन्दीसूत्रकार अन्तकृद्दशा के संबंध में जो विवरण प्रस्तुत करता है वह बहुत कुछ तो समवायांग के समान ही है किन्तु उसमें स्पष्ट रूप से इसके आठ वर्ग का उल्लेख प्राप्त है। समवायांगकार जहाँ अन्तकृद्दशा के दस समुद्देशन कालों की चर्चा करता है वहाँ नन्दीसूत्रकार उसके आठ उद्देशन कालों की चर्चा करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशा की रचना समवायांग के काल तक बहुत कुछ हो चुकी थी और वह अन्तिम रूप से नन्दीसूत्र की रचना के पूर्व अपने अस्तित्व में आ चुका था। श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध तीनों विवरणों से हमें यह ज्ञात होता है कि स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा के प्रथम संस्करण की विषयवस्तु किस प्रकार से उससे अलग कर दी गई और नन्दीसूत्र के रचना काल तक उसके स्थान पर नवीन संस्करण किस प्रकार अस्तित्व में आ गया।

यदि हम दिगम्बर साहित्य की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करें तो हमें सर्वप्रथम तत्त्वार्थवार्तिक में अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु से संबंधित विवरण उपलब्ध होता है। उसमें निम्न दस अध्ययनों की सूचना प्राप्त होती है :- नमि, मातंग, सोमिल, रामपुत्र,

सुदर्शन, यमलिक, वलिक, किष्कम्बल और पातालम्बष्ठ पुत्र। यदि हम स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा के दस अध्ययनों से इनकी तुलना करते हैं तो इसके यमलिक और वलिक ऐसे दो नाम हैं, जो स्थानांग के उल्लेख से भिन्न हैं। वहाँ इनके स्थान पर जमाली, भयाली (भगाली) ऐसे दो अध्ययनों का उल्लेख है। पुनः चित्त्वक का उल्लेख तत्त्वार्थ वार्तिककार ने नहीं किया है उसके स्थान पर पाल और अम्बष्ठपुत्र ऐसे दो अलग-अलग नाम मान लिये हैं। यदि हम इसकी प्रामाणिकता की चर्चा में उतरें तो स्थानांग का विवरण हमें सर्वाधिक प्रामाणिक लगता है।

स्थानांग में अन्तकृद्दशा के जो दस अध्याय बताये गये हैं उनमें नमि नामक अध्याय वर्तमान में उत्तराध्ययनसूत्र में उपलब्ध है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि स्थानांग में उल्लिखित "नमि" नामक अध्ययन की विषयवस्तु अभिन्न थी या भिन्न थी। नमि का उल्लेख सूत्रकृतांग में भी उपलब्ध होता है। वहाँ पाराशर, रामपुत्र आदि प्राचीन ऋषियों के साथ उनके नाम का भी उल्लेख हुआ है। स्थानांग में उल्लिखित द्वितीय "मातंग" नामक अध्ययन ऋषिभाषित के 23वें मातंग नामक अध्ययन के रूप में आज उपलब्ध है। यद्यपि विषयवस्तु की समरूपता के संबंध में यहाँ भी कुछ कह पाना कठिन है। सौमिल नामक तृतीय अध्ययन का नाम साम्य ऋषिभाषित के 42वें सोम नामक अध्याय के साथ देखा जा सकता है। रामपुत्र नामक चतुर्थ अध्ययन भी ऋषिभाषित के तेईसवें अध्ययन के रूप में उल्लिखित है। समवायांग के अनुसार द्विगृद्धिदशा के एक अध्ययन का नाम भी रामपुत्र था। यह भी संभव है कि अन्तकृद्दशा इसिभासियाई और द्विगृद्धिदशा के रामपुत्र नामक अध्ययन की विषयवस्तु भिन्न हो, चाहे व्यक्ति वही हो। सूत्रकृतांगकार ने रामपुत्र का उल्लेख अर्हत् प्रवचन में एक सम्मानित ऋषि के रूप में किया है। रामपुत्र का उल्लेख पालि त्रिपिटक साहित्य में हमें विस्तार से मिलता है। स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा का पाचवाँ अध्ययन सुदर्शन है। वर्तमान अन्तकृद्दशा में छठें वर्ग के दसवें अध्ययन का नाम सुदर्शन है। स्थानांग के अनुसार अन्तकृद्दशा का छठा अध्ययन जमाली है। अन्तकृद्दशा में सुदर्शन का विस्तृत उल्लेख अर्जुन मालाकार के अध्ययन में भी है। जमाली का उल्लेख हमें भगवती सूत्र में भी उपलब्ध होता है। यद्यपि

भगवतीसूत्र में जमाली को भगवान् महावीर के क्रियमाणकृत के सिद्धांत का विरोध करते हुए दर्शाया गया है। श्वेताम्बर परम्परा जमाली को भगवान् महावीर का जामातृ भी मानती है। परवर्ती साहित्य निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों में भी जमाली का उल्लेख पाया जाता है और उन्हें एक निहन्व बताया गया है। स्थानांग की सूची के अनुसार अन्तकृद्दशा का सातवाँ अध्ययन भयाली (भगाली) है। “भगाली मेतेज्ज”। स्थानांग की सूची में अन्तकृद्दशा के आठवें अध्ययन का नाम किंकम या किंकस है। वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशा में छठें वर्ग के द्वितीय अध्याय का नाम किंकम है, यद्यपि यहाँ तत्सम्बन्धी विवरण का अभाव है। स्थानांग में अन्तकृद्दशा के 9वें अध्ययन का नाम चिल्वकया चिल्लवाक है। कुछ प्रतियों में इसके स्थान पर “पल्लेतीय” ऐसा नाम भी मिलता है इस सम्बन्ध में हमें कोई विशेष जानकारी नहीं है। दिगम्बर आचार्य अकलंकदेव भी इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं है। स्थानांग में दसवें अध्ययन का नाम फ़ालअम्बडपुत्त बताया है। जिसका संस्कृतरूप पालअम्बष्टपुत्र हो सकता है। अम्बड संन्यासी का उल्लेख हमें भगवतीसूत्र में विस्तार से मिलता है। अम्बड के नाम से एक अध्ययन ऋषिभाषित में भी है। यद्यपि विवाद का विषय यह हो सकता है कि जहाँ ऋषिभाषित और भगवती उसे अम्बड परिव्राजक कहते हैं यहाँ उसे अम्बडपुत्त कहा गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से गवेषणा करने पर हमें ऐसा लगता है कि स्थानांग में अन्तकृद्दशा के जो 10 अध्ययन बताये गये हैं वे यथार्थ व्यक्तियों से सम्बन्धित रहे होंगे क्योंकि उनमें से अधिकांश के उल्लेख अन्य स्रोतों से भी उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनका उल्लेख बौद्ध परम्परा में मिल जाता है यथा-रामपुत्त, सोमिल, मातंग आदि।

अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु के संबंध में विचार करते समय हम सुनिश्चितरूप से इतना कह सकते हैं कि इन सबमें स्थानांग संबंधी विवरण अधिक प्रामाणिक तथा ऐतिहासिक सत्यता को लिये हुए है। समवायांग में एक ओर इसके दस अध्ययन बताये गये हैं तो दूसरी ओर समवायांगकार सात वर्गों की भी चर्चा करता है इससे ऐसा लगता है कि समवायांग के उपर्युक्त विवरण लिखे जाने के समय स्थानांग में

उल्लेखित अन्तकृत्दशा की विषयवस्तु बदल चुकी थी किन्तु वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृत्दशा का पूरी तरह निर्माण भी नहीं हो पाया था। केवल सात ही वर्ग बने थे। वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृत्दशा की रचना नन्दीसूत्र में तत्संबंधी विवरण लिखे जाने के पूर्व निश्चित रूप से हो चुकी थी क्योंकि नन्दीसूत्रकार उसमें 10 अध्ययन होने का कोई उल्लेख नहीं करता है। साथ ही वह आठ वर्गों की चर्चा करता है। वर्तमान अन्तकृत्दशा के भी आठ वर्ग ही हैं।

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृत्दशा की विषयवस्तु नन्दीसूत्र की रचना के कुछ समय पूर्व तक अस्तित्व में आ गई थी। ऐसा लगता है कि वल्लभी वाचना के पूर्व ही प्राचीन अन्तकृत्दशा के अध्यायों की या तो उपेक्षा कर दी गयी या उन्हें यत्र-तत्र अन्य ग्रंथों में जोड़ दिया गया था और इस प्रकार प्राचीन अन्तकृत्दशा की विषयवस्तु के स्थान पर नवीन विषयवस्तु रख दी गयी। यहाँ प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो सकता है कि ऐसा क्यों किया गया। क्या विस्मृति के आधार पर प्राचीन अन्तकृत्दशा की विषयवस्तु लुप्त हो गयी अथवा उसकी प्राचीन विषयवस्तु सप्रयोजन वहाँ वहाँ से अलग कर दी गई।

मेरी मान्यता यह है कि विषयवस्तु का यह परिवर्तन विस्मृति के कारण नहीं, परन्तु सप्रयोजन ही हुआ है। अन्तकृत्दशा की प्राचीन विषयवस्तु में जिन दस व्यक्तियों के चरित्र का चित्रण किया गया था उनमें निश्चित रूप से मातंग, अम्बड, रामपुत्र, भयाली (भगाली) जमाली आदि ऐसे हैं जो चाहे किसी समय तक जैन परम्परा में सम्मान्यरूप से रहे हों किन्तु अब वे जैन परम्परा के विरोधी या बाहरी मान लिये गये थे। जिनप्रणीत अंगसूत्रों में उनका उल्लेख रखना समुचित नहीं माना गया। जिस प्रकार प्रश्नव्याकरण से ऋषिभाषित को सप्रयोजन अलग किया गया उसी प्रकार अन्तकृत्दशा से इनके विवरण को भी सप्रयोजन अलग किया गया। यह भी सम्भव है कि जब जैन परम्परा में श्रीकृष्ण को वासुदेव के रूप में स्वीकार कर लिया गया तो उनके तथा उनके परिवार से संबंधित कथानकों को कहीं स्थान देना आवश्यक था। अतः अन्तकृत्दशा की प्राचीन विषयवस्तु को बदल कर उसके स्थान पर कृष्ण और उनके परिवार से संबंधित पांच वर्गों को जोड़ दिया गया।

अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु की चर्चा करते हुए सबसे महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने यह आता है कि दिगम्बर परम्परा में अन्तकृद्दशा की जो विषयवस्तु तत्त्वार्थवार्तिक में उल्लिखित है वह स्थानांग की सूची से बहुत कुछ मेल खाती है। यह कैसे सम्भव हुआ? दिगम्बर परम्परा जहाँ अंग आगमों के लोप की बात करती है तो फिर तत्त्वार्थवार्तिककार को उसकी प्राचीन विषयवस्तु के संबंध में जानकारी कैसे हो गई। मेरी ऐसी मान्यता है कि श्वेताम्बर आगम साहित्य के संबंध में दिगम्बर परम्परा में जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हुई है वह यापनीय परम्परा के माध्यम से प्राप्त हुई और इतना निश्चित है कि यापनीय और श्वेताम्बरों का भेद होने तक स्थानांग में उल्लिखित सामग्री अन्तकृद्दशा में प्रचलित रही हो और तत्संबंधी जानकारी अनुश्रुति के माध्यम से तत्त्वार्थ वार्तिककार तक पहुंची हो। तत्त्वार्थवार्तिककार को भी कुछ नामों के संबंध में अवश्य ही भ्रांति है, उसके सामने मूलग्रंथ होता तो ऐसी भ्रांति की सम्भावना नहीं रहती। जमाली का तो संस्कृत रूप यमलीक हो सकता है किन्तु भगाली या भयाली का संस्कृत रूप वलीक किसी प्रकार नहीं बनता। इसी प्रकार किंकम का किष्कम्बल रूप किस प्रकार बना, यह भी विचारणीय है। चिल्वक या पल्लतेतीय के नाम का अपलाप करके पालअम्बष्ठपुत्र को भी अलग-अलग कर देने से ऐसा लगता है कि वार्तिककार के समक्ष मूल ग्रंथ नहीं है केवल अनुश्रुति के रूप में ही वह उनकी चर्चा कर रहा है। जहाँ श्वेताम्बर चूर्णिकार और टीकाकार विषयवस्तु संबंधी दोनों प्रकार की विषयवस्तु से अवगत हैं वहाँ दिगम्बर (आचार्यों को मात्र प्राचीन संस्करण) उपलब्ध अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु के संबंध में जो कि छठीं शताब्दी में अस्तित्व में आ चुकी थी कोई जानकारी नहीं थी। अतः उनका आधार केवल अनुश्रुति था ग्रन्थ नहीं। जबकि श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों का आधार एक ओर ग्रन्थ था तो दूसरी ओर स्थानांग का विवरण। धवला और जयधवला में अन्तकृद्दशा सम्बन्धी जो विवरण उपलब्ध हैं वह निश्चित रूप से तत्त्वार्थवार्तिक पर आधारित हैं। स्वयं धवलाकार वीरसेन “उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये” कहकर उसका उल्लेख करता है। इससे स्पष्ट है कि धवलाकार के समक्ष भी प्राचीन विषयवस्तु का कोई ग्रंथ उपस्थित नहीं था।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि प्राचीन अन्तकृद्दशा की

विषयवस्तु ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पूर्व ही परिवर्तित हो चुकी थी और छठीं शताब्दी के अन्त तक वर्तमान अन्तकृद्दशा अस्तित्व में आ चुकी थी।

संदर्भ :-

1. स्थानांग- (सं. मधुकर मुनि) दशम स्थान सूत्र 110 एवं 113
दस दसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कम्मविवागदसाओ, उवासंगदसाओ,
अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ आयारदसाओ,
पण्हवागरणदसाओ, बंधदसाओ, दोगिद्धिदसाओ, दीहदसाओ,
संखेवियदसाओ।

एवं

अंतगडदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहाँ ।
णमि मातंगे सोमिले, रामगुत्ते सुदंसणे चेव॥
जमाली य भगाली य, किंकसे चिल्लएतिय।
फाले अंबडपुत्ते य एमेते एस आहिता॥

2. समवायांग- (सं. मधुकर मुनि) प्रकीर्णक समवाय, सूत्र, 539-540
से किं तं अंतगडदसाओ? अंतगडदसासु णं अंतगडाणं नगराई उज्जाणाई चेइयाई
वणसंडाई रायाणो अम्मापियरो समोसरणाई धम्मायरिया धम्मकहाओ
इहलोइय-परलोइया इड्ढिसेसा भोगपरिच्चाया पक्वज्जाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाई
पडिमाओ बहुविहाओ, खमा अज्जवं मइवं च, सोअं च सच्चसहियं, सत्तरसविहो य
संजमो, उत्तम, च बंभं, आकिंचणया तवो चियाओ समिइगुत्तीओ चेव, तह
अप्पमायजोगो, सज्झायज्झाणाण य उत्तमाणं दोण्हंपि लक्खणाई।

पत्ताण य संजमुत्तमं जियपरीसहाणं चउव्विहकम्मखयम्मि जह केवलस्स लंभो,
परियाओ जत्तिओ य जह पालिओ मुणिहिं, पायोवगओ य जो जहिं, जत्तियाणि भत्ताणि
छेयइत्ता अंतगडो मुणिवरो तमरयोघविप्पमुक्को, मोक्खसुहमणुत्तरं च पत्ता।

एए अण्णे य एवामाइअत्था वित्थारेणं परूवेई।

अंतगडदसासु णं परिता वायणा संखेज्जा अणुओगदारा संखेज्जाओ षडिवतीओ
संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ संखेज्जाओ संगहणीओ।

से णं अंगओयाए अओमे अंगे एगे सुयक्खंधे दस अज्झयणा सत्त वग्गा दस उद्देसणकाला दस समुद्देसणकाला संखेज्जाइं पयसयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परिता तसा अणंता थावरा सासया कडा णिबद्धा णिकाइया जिणपण्णत्ताभावा आघविज्जति पण्णा विज्जति परूविज्जति दंसिज्जति निदंसिज्जति उवदंसिज्जति।

से एवं आया एवं विण्णाया एवं चरण-करण -परूवणया आघविज्जति, पण्णविज्जति परूविज्जति दंसिज्जति निदंसिज्जति उवदंसिज्जति। सेतं अंतगडदसाओ।

3. नन्दीसूत्र (सं. मधुकर मुनि) सूत्र 53 पृ. 183,

से किं तं अंतगडदसाओ?

अंतगडदसासु णं अंतगडाणं नगराईं, उज्जाणाईं, वणसंडाईं समोसरणाईं, रायाणो, अम्मा-पियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइआइडिढविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाईं संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खणाईं, पाओवगमणाईं अंतकिरिआओ आघविज्जन्ति।

अंतगडदसासु णं परिता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगओयाए अओमे अंगे, एगे सुअखंधे अओ वग्गा, अओ उद्देसणकाला, अओ समुद्देसणकाला संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परिता, परिता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जति, पन्नविज्जति, परूविज्जति, दंसिज्जति निदंसिज्जति, उवदंसिज्जति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ।
से तं अंतगडदसाओ।

4. तत्त्वार्थवार्तिक- पृष्ठ 51

संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः नमिमतंगसोमिलरामपुत्रसु-
दर्शनयमवाल्मीकवलोक - निष्कंबलपालम्बष्टपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थकरतीर्थे॥

5. षट्खण्डागम- धवला 1/1/2, खण्ड एक, भाग एक, पुस्तक एक, पृष्ठ
103-4

अंतयडदसा णाम अंगं तेवीस-लख-अओवीस-सहस्स-पदेहि 2328000
एक्केक्कम्हि य तित्थे दारुणे बहुविहोवसगगे सहिऊण पाडिहेरं लद्धण णिव्वागं गदे
दस-दस वण्णेदि। उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये-संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः
नमि-मतंगसोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीकवलीककिष्कविल- पालम्बष्ठपुत्रा इति
एते दश वर्द्धमानतीर्थकरतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये, एवं
दशदशानगाराः दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतो दशास्यां वर्ण्यन्त इति
अन्तकृद्दशा।

□ निदेशक

पार्वनाथ विद्यापीठ,

आई.टी.आई. रोड, वाराणसी

अन्तगडदशासूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन

□ मानमल कुदाल

प्रत्येक धर्म परम्परा में धर्म ग्रंथों का आदरणीय स्थान होता है। जैन परम्परा में आगम साहित्य उनके प्रामाणिक एवं आधारभूत ग्रंथ माने गये हैं। जैन आगम साहित्य अंग, उपांग, छेद, मूल, प्रकीर्णक आदि वर्गों में विभाजित है। यह विभागीकरण हमें सर्वप्रथम विधिमांगप्रपा (आचार्य जिनप्रभ 13वीं शताब्दि) में प्राप्त होता है।

अन्य आगमों के वर्गीकरण में “अंतकृतदशांग” का उल्लेख अंग प्रविष्ट आगमों में आठवें स्थान पर हुआ है। आगम साहित्य में साधु-साध्वियों के अध्ययन-विषयक जितने उल्लेख प्राप्त होते हैं, वे सब अंगों और पूर्वों से संबंधित हैं और वे सब हमें “अन्तकृतदशांग” में भी प्राप्त होते हैं जैसे :-

(क) सामायिक आदि ग्यारह अंगों को पढने वाले :-

1. अन्तगड, प्रथम वर्ग में भ. अरिष्टनेमि के शिष्य गौतम के विषय में प्राप्त होता है :-

“सामाइयमाइयाइ एक्कारसअंगाई अहिज्जइ”

2. अन्तगड, पंचम वर्ग, प्रथम अध्ययन में भ. अरिष्टनेमि की शिष्या पद्मावती के विषय में प्राप्त होता है :-

“सामाइयमाइयाइ एक्कारसअंगाई अहिज्जइ”

3. अन्तगड, अष्टम वर्ग, प्रथम, अध्ययन में भगवान महावीर की शिष्या काली के विषय में प्राप्त होता है :-

“सामाइयमाइयाइ एक्कारसअंगाई अहिज्जइ”

4. अन्तगड, षष्ठ वर्ग, 15वें अध्ययन में भगवान महावीर के शिष्य अतिमुक्तककुमार के विषय में प्राप्त होता है :-

“सामाइयमाइयाइ एक्कारसअंगाई अहिज्जइ”

(ख) बारह अंगों को पढने वाले :- अन्तगड, चतुर्थ वर्ग, प्रथम अध्ययन

में भगवान अरिष्टनेमी के शिष्य जालीकुमार के विषय में प्राप्त होता है :- “बारसंगी”

(ग) चौदह पूर्वों को पढ़ने वाले :-

(1) अन्तगड़, तृतीय वर्ग, नवम अध्ययन में भगवान अमिष्टनेमि के शिष्य सुमुखकुमार के विषय में प्राप्त होता है :-

“चौदसपुव्वाइं अहिज्जइ”

(2) अन्तगड़, तृतीय वर्ग, प्रथम अध्ययन में भू अरिष्टनेमि के शिष्य अणीयसकुमार के विषय में प्राप्त होता है :-

“सामाइयमाइयाइं चौदसपुव्वाइं अहिज्जइ”

नामकरण :- “अंतकृतदशासूत्र” में जन्म-मरण की परम्परा का अन्त करने वाली पवित्र आत्माओं का वर्णन और इसके दस अध्ययन होने से इसका नाम “अन्तकृतदशा” है। इस सूत्र के नामकरण के बारे में हमें विभिन्न प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं। “समवायांग” में इस सूत्र के दस अध्ययन और सात वर्ग बताये हैं।¹² आचार्य देववाचक ने नन्दीसूत्र में आठ वर्गों का उल्लेख किया है, दस अध्ययनों का नहीं।¹³ आचार्य अभयदेव ने समवायांग वृत्ति में दोनों ही उपर्युक्त आगमों के कथन में सामंजस्य बिठाने का प्रयास करते हुए लिखा है कि प्रथम वर्ग में दस अध्ययन है, इस दृष्टि से समवायांग सूत्र में दस अध्ययन और अन्य वर्गों की अपेक्षा से सात वर्ग कहे हैं। नन्दीसूत्रकार ने अध्ययनों का कोई उल्लेख न कर केवल आठ वर्ग बतलाये हैं।¹⁴ यहाँ प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि प्रस्तुत सामंजस्य का निर्वाह अन्त तक किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि समवायांग में ही अन्तकृद्दशा के शिक्षाकाल दस कहे गये हैं जबकि नन्दीसूत्र में उनकी सख्या आठ बताई है। आचार्य अभयदेव ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि हमें उद्देशनकालों के अन्तर का अभिप्राय ज्ञात नहीं है।¹⁵ आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने नन्दीसूत्र चूर्णी¹⁶ में और आचार्य हरिभद्र ने नन्दीवृत्ति¹⁷ में लिखा है कि प्रथम वर्ग के दस अध्ययन होने से इनका नाम “अन्तगडदसाओ” है। नन्दीचूर्णीकार ने ‘दशा’ का अर्थ अवस्था किया है।¹⁸ यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि समवायांग में दस अध्ययनों का निर्देश तो है किन्तु उन अध्ययनों के नामों का संकेत नहीं है। स्थानांगसूत्र में अध्ययनों के नाम इस प्रकार बतलाये हैं :-

नमि, मातंग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमालि, भगालि, किंकष, चिल्वक्क, फ़ाल और अंबडपुत्र।⁹

अकलंक ने राजवार्तिक¹⁰ और शुभचन्द्र ने अंगपण्णति¹¹ में कुछ पाठभेदों के साथ दस नाम दिये हैं- नमि, मातंग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, यमलोक, वलीक, कंबल, पाल और अंबष्टपुत्र। इसमें यह भी लिखा है कि प्रस्तुत आगम में प्रत्येक तिर्थकर के समय में होने वाले दस-दस अन्तकृत केवलियों का वर्णन है। इसका समर्थन वीरसेन और जयसेन जो जयध्वलाकार हैं ने भी किया है।¹² नन्दीसूत्र में न तो दस अध्ययनों का उल्लेख है और न उनके नामों का ही निर्देश है। समवायांग और तत्त्वार्थराजवार्तिक में जिन अध्ययनों के नामों का निर्देश है वे अध्ययन वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृतदशांग में नहीं है। नन्दीसूत्र में वही वर्णन है जो वर्तमान में अन्तकृतदशा में उपलब्ध है। इससे यह फलित होता है कि वर्तमान में अन्तकृतदशा का जो रूप प्राप्त है वह आचार्य देववाचक के समय के पूर्व का है। वर्तमान में अन्तकृतदशा में आठ वर्ग हैं और प्रथम वर्ग के दस अध्ययन हैं किन्तु जो नाम स्थानांग, तत्त्वार्थराजवार्तिक व अंगपण्णति में आये हैं उनसे पृथक हैं। जैसे गौतम, समुद्र, सागर, गंभीर, स्तिमित, अचल, कांपिल्य, अक्षोभ, प्रसेनजित और विष्णु। आचार्य अभयदेव ने स्थानांग वृत्ति में इसे वाचनान्तर कहा है।¹³ इससे यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृतदशा समवायांग में वर्णित वाचना से अलग है। कितने ही विद्वानों ने यह भी कल्पना की है कि पहले इस आगम में उपासकदशा की तरह दस ही अध्ययन होंगे, जिस तरह उपासकदशा में दस श्रमणोपासकों का वर्णन है इसी तरह प्रस्तुत आगम में भी दस अर्हत्तों की कथाएँ आईं होगी।¹⁴

उपरोक्त वर्णन से हम यह कह सकते हैं कि अन्तकृतदशा में उन नब्बे महापुरुषों का जीवनवृत्तान्त संग्रहित हैं, जिन्होंने संयम एवं तप साधना द्वारा सम्पूर्ण कर्मों पर विजय प्राप्त करके जीवन के अन्तिम क्षणों में मोक्ष-पद की प्राप्ति की। इस प्रकार जीवन-मरण के चक्र का अन्त कर देने वाले महापुरुषों के जीवनवृत्त के वर्णन को ही प्रधानता देने के कारण इस शास्त्र के नाम का प्रथम अवयव “अन्तकृत” है। नाम का दूसरा अवयव

“दशा” शब्द है। दशा शब्द के दो अर्थ हैं :-

- (1) जीवन की भोगावस्था से योगावस्था की ओर गमन “दशा” कहलाता है, दूसरे शब्दों में शुद्ध अवस्था की ओर निरन्तर प्रगति ही “दशा” है।
- (2) जिस आगम में दस अध्ययन हों उस आगम को भी “दशा” कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र में प्रत्येक अन्तकृत साधक निरन्तर शुद्धावस्था की ओर गमन करता है, अतः इस ग्रन्थ में अन्तकृत साधकों की दशा के वर्णन को ही प्रधानता देने से “अन्तकृतदशा” कहा गया है।

अन्तकृतदशा सूत्र के कर्ता एवं रचनाकाल :- अंग आगमों के उद्गाता स्वयं तीर्थंकर और सूत्रबद्ध रचना करने वाले गणधर हैं। अंगबाह्य आगमों के मूल आधार तीर्थंकर और उन्हें सूत्र रूप में रचने वाले हैं- चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और प्रत्येकबुद्ध आचार्य।¹⁵ मूलाचार में आचार्य वटुंकर ने गणधर कथित, प्रत्येक बुद्ध कथित और अभिन्नदशपूर्वी कथित, सूत्रों को प्रमाणभूत माना है।¹⁶

इस प्रकार अंगप्रविष्ट साहित्य के उद्गाता भगवान महावीर हैं और इनके रचयिता गणधर सुधर्मास्वामी। अंगबाह्य साहित्य में कर्तृत्व की दृष्टि से अनेक आगम स्थविरों द्वारा रचित है और अनेक द्वादशांगों से उद्भूत हैं। वर्तमान में जो अंगसाहित्य उपलब्ध है वह भगवान महावीर के समकालीन गणधर सुधर्मा की रचना है इसलिए अंग-साहित्य का रचनाकाल ई.पू. छठी शताब्दी सिद्ध होता है। अंग बाह्य की रचना एक व्यक्ति की नहीं हो अतः उन सभी का एक समय नहीं हो सकता। प्रज्ञापनासूत्र के रचयिता श्यामाचार्य हैं तो दशवैकालिक सूत्र के रचयिता आचार्य शाय्यंभव हैं। नन्दीसूत्र के रचयिता देववाचक हैं तो दशा, कल्प और व्यवहार सूत्र के कर्ता चतुर्दशपूर्वी के भद्रबाहु कुछ विद्वान आगमों का रचनाकाल वीर निर्वाण के पश्चात् 980 अथवा 993वाँ वर्ष जो देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण का है, मानते हैं उनका यह समय मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने तो आगमों को इस काल में लिपिबद्ध किया था, किन्तु आगम तो प्राचीन ही है। पहले आगम साहित्य को लिखने का निषेध था उसे कण्ठस्थ रूप में रखने की परम्परा थी।¹⁷ लगभग एक हजार वर्ष तक वह कण्ठस्थ रहा जिससे श्रुतवचनों में कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक

था परन्तु देवादिगणि क्षमाश्रमण ने इसे पुस्तकारूढ़ कर इनका हास होने से बचा लिया।¹⁸ इसके बाद कुछ अपवादों को छोड़कर श्रुत-साहित्य में परिवर्तन नहीं हुआ। कुछ स्थलों पर थोड़ा बहुत पाठ प्रक्षिप्त व परिवर्तन हुआ हों किन्तु आगमों की प्रामाणिकता में कोई अन्तर नहीं आया।

अन्तकृतदशांग की भाषा-शैली :- जिस प्रकार वेद-छान्दस भाषा में, बौद्धपिटक पालि भाषा में निबद्ध है, उसी प्रकार जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी प्राकृत है। समवायांग सूत्र में लिखा है कि भगवान अर्द्धमागधी भाषा में धर्म का व्याख्यान करते हैं। भगवान द्वारा भाषित अर्द्धमागधी आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, आदि सभी की भाषा में परिणत हो जाती है- उनके लिए हितकर, कल्याणकर तथा सुखकर होती है।¹⁹ आचारांगचूर्णी में भी इसी आशय का उल्लेख है। दशवैकालिक वृत्ति में भी इसी प्रकार के आशय एवं भाव व्यक्त किये गये हैं- चरित्र की कामना करने वाले बालक, स्त्री, वृद्ध, मूर्ख, अनपढ़ सभी लोगों पर अनुग्रह करने के लिए तैत्त्वद्रष्टाओं ने सिद्धान्त की रचना प्राकृत में की।²⁰ प्रस्तुत आगम की भाषा भी अर्धमागधी है।

“अन्तकृतदशासूत्र” की रचना कथात्मक शैली में की गई है। इस शैली को “कथानुयोग” कहा जाता है। इस शैली में “तेणं कालेणं तेणं समएणं” से कथा का प्रारम्भ किया जाता है। आगमों में ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अनुत्तरौपपातिक, विपाकसूत्र और अन्तकृतदशांग सूत्र इसी शैली में निबद्ध किया गया है। इस आगम में प्रायः स्वरान्तरूप ग्रहण करने की शैली को ही अपनाया गया है जैसे :- परिवसति, परिवसइ, रायवण्णतो, रायवण्णओ, एगवीसाते, एगवीसाए आदि। इस आगम में प्रायः संक्षिप्तिकरण की शैली को अपनाते हुए शब्दान्त में बिन्दुयोजना द्वारा अथवा अंक योजना द्वारा अवशिष्ट पाठ को व्यक्त करने की प्राचीन शैली अपनाई है। इस सूत्र में अनेक स्थानों पर तपों का वर्णन प्राप्त होता है, इसके अष्टम वर्ग में विशेष रूप से तपों के स्वरूप एवं पद्धतियों को विवेचन किया गया है, जिनके अनेक विध स्थापनायन्त्र प्राप्त होते हैं।

विषय-वस्तु :- अन्तकृतदशांग सूत्र में उन स्त्री-पुरुषों के आख्यान हैं,

जिन्होंने अपने कर्मों का अन्त करके मोक्ष प्राप्त किया है। इसमें 900 श्लोक, 8 वर्ग और 9 अध्ययन है। ये आठ वर्ग क्रमशः 10,8,13,10,10,16,13, और 10 अध्ययनों में विभक्त है। प्रत्येक अध्ययन में किसी न किसी व्यक्ति का नाम अवश्य आता है। किन्तु कथानक अपूर्ण है, अधिकांश वर्णनों को अन्य स्थान से पूर्ण कर लेने की सूचना दी गई है। “वर्णणओ” की परम्परा द्वारा कथानकों को अन्यत्र से पूरा कर लेने को कहा गया है। प्रथम अध्ययन में गौतम का कथानक द्वारावती नगरी के राजा अन्धकवृष्णि की रानी धारणी देवी की सुप्तावस्था तक वर्णन कर कह दिया गया है और बताया है कि स्वप्नदर्शन, कुमारजन्म, उसका बालकपन, विद्याग्रहण, यौवन, पाणिग्रहण, विवाह, प्रसाद एवं भोगों का वर्णन महाबल की कथा के समान चित्रित है। आगे वाले प्रायः सभी अध्ययनों में नायक-नायिका मात्र का नाम निर्देश कर वर्णन अन्यत्र से अवगत कर लेने की सूचना दी गई है। इस आगम के आख्यानों को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम पांच वर्गों के कथानकों का संबंध अरिष्टनेमि के साथ है और शेष तीन वर्ग के कथानकों का संबंध महावीर तथा श्रेणिक के साथ है। इस आगम में मूलतः दस अध्ययन रहे होंगे, उत्तरकाल में इसको विकसित कर यह रूप हुआ है।²¹

प्रथम वर्ग से लेकर पांचवे वर्ग में श्रीकृष्ण वासुदेव का वर्णन आया है। मधुकरमुनि द्वारा संपादित अन्तकृत्दशा सूत्र की भूमिका में श्रीकृष्ण वासुदेव की प्रामाणिकता के बारे में विस्तृत वर्णन किया है उनके अनुसार श्रीकृष्ण वासुदेव जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा में अत्यधिक चर्चित रहे हैं। वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में वासुदेव, विष्णु, नारायण, गोविन्द, प्रभृति उनके अनेक नाम प्रचलित हैं। श्रीकृष्ण, वासुदेव के पुत्र थे, इसलिये वे वासुदेव कहलाये। महाभारत शान्तिपर्व में कृष्ण को विष्णु का रूप बताया है।²² गीता में श्रीकृष्ण, विष्णु के पूर्व अवतार हैं।²³ महाभारतकार ने उन्हें नारायण मानकर स्तुति की है। वहां उनके दिव्य और भव्य मानवीय स्वरूप के दर्शन होते हैं।²⁴ शतपथब्राह्मण में उनके नारायण नाम का उल्लेख हुआ है।²⁵ तैत्तरीयारण्यक में उन्हें सर्वगुणसम्पन्न कहा है।²⁶ महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में नारायण को सर्वेश्वर का रूप दिया है मार्कण्डेय ने युधिष्ठिर को यह बताया है

कि जनार्दन ही स्वयं नारायण हैं। महाभारत में अनेक स्थलों पर उनके नारायण रूप का निर्देश है।²⁷ पञ्चपुराण, वायुपुराण, वामनपुराण, कर्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, हरिवंशपुराण और श्रीमद्भागवत में विस्तार से श्रीकृष्ण का चरित्र वर्णित है।

छान्दोग्य उपनिषद में कृष्ण को देवकी का पुत्र कहा है। वे घोर अंगिरस ऋषि²⁸ के निकट अध्ययन करते हैं। श्रीमद्भागवत में कृष्ण को परमब्रह्म बताया है।²⁹ वे ज्ञान, शान्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन छह गुणों में विशिष्ट हैं। उनके जीवन के विविध रूपों का चित्रण साहित्य में हुआ है। वैदिक परम्परा के आचार्यों ने अपनी दृष्टि से श्रीकृष्ण के चरित्र को चित्रित किया है। जयदेव विद्यापति आदि ने कृष्ण के प्रेमी रूप को ग्रहण कर कृष्णभक्ति का प्रादुर्भाव किया। सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण की बाल-लीला और यौवन-लीला का विस्तार से विश्लेषण किया। रीतिकाल के कवियों के आराध्य देव श्रीकृष्ण रहे और उन्होंने गीतिकाएँ व मुक्तकों के रूप में पर्याप्त साहित्य का सृजन किया। आधुनिक युग में भी वैदिक परम्परा के विज्ञानों ने प्रिय-प्रवास, कृष्णावतार आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।³⁰

बौद्ध साहित्य के घटजातक³¹ में श्रीकृष्ण चरित्र का वर्णन आया है। यद्यपि घटनाक्रम में वे नामों में पर्याप्त अन्तर है, तथापि कृष्ण-कथा का हार्द एक सदृश है।

जैन परम्परा में श्रीकृष्ण सर्वगुणसम्पन्न, श्रेष्ठ, चरित्रनिष्ठ, अत्यन्त दयालु शरणागतवत्सल, धीर, विनयी, मातृभक्त, महानवीर, धर्मात्मा, कर्तव्यपरायण, बुद्धिमान, नीतिमान और तेजस्वी व्यक्तित्व के धनी हैं। समवायांग³² में उनके तेजस्वी व्यक्तित्व का जो चित्रण है, वह अद्भुत है, वे त्रिखण्ड के अधिपति अर्धचक्री हैं। उनके शरीर पर एक सौ आठ प्रशस्त चिह्न थे। वे नरवृषभ और देवराज इन्द्र के सदृश थे, महान् योद्धा थे। उन्होंने अपने जीवन में तीन सौ साठ युद्ध किये किन्तु किसी भी युद्ध में वे पराजित नहीं हुए। उनमें बीस लाख अष्टपदों की शक्ति थी।³³ किन्तु उन्होंने अपनी शक्ति का कभी भी दुरुपयोग नहीं किया। वैदिक परम्परा की भाँति जैन परम्परा ने वासुदेव श्रीकृष्ण को ईश्वर का अंश या अवतार नहीं माना है। वे श्रेष्ठतम शासक थे। भौतिक दृष्टि से वे उस युग के सर्वश्रेष्ठ अधिनायक थे किन्तु निदानकृत होने से वे आध्यात्मिक दृष्टि से चतुर्थ गुणस्थान से आगे विकास न कर

सके। वे तीर्थंकर अरिष्टनेमि के परम भक्त थे। अरिष्टनेमि से श्रीकृष्ण, वय की दृष्टि से ज्येष्ठ थे तो आध्यात्मिक दृष्टि से अरिष्टनेमि ज्येष्ठ थे।¹³⁴ एक धर्मवीर थे तो दूसरे कर्मवीर थे, एक निवृत्ति प्रदान थे तो दूसरे प्रवृत्ति प्रदान थे। अतः जब भी अरिष्टनेमि द्वारका में पधारते तब श्रीकृष्ण उनकी उपासना के लिए पहुँचते थे। अन्तकृद्दशा, समवायांग, ज्ञाताधर्मकथा, स्थानांग, निरयावलिका, प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन, प्रभृति आगमों में उनका यशस्वी व तेजस्वी व्यक्तित्व उजागर हुआ है। आगमिक व्याख्या-साहित्य में निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका ग्रंथों में उनके जीवन से संबंधित अनेक घटनाएँ हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के मूर्धन्य मनीषियों ने कृष्ण के जीवन्त प्रसंगों को लेकर शताधिक ग्रंथों की रचनाएँ की है। भाषा की दृष्टि से वे रचनाएँ प्राकृत, अपभ्रंश संस्कृत, पुरानी गुजराती, राजस्थानी व हिन्दी भाषा में हैं।

प्रस्तुत आगम में श्रीकृष्ण का चहुँमुखी व्यक्तित्व निहारा जा सकता है। वे तीन खण्ड के अधिपति होने पर भी माता-पिता के परमभक्त-थे। माता देवकी की अभिलाषापूर्ति के लिए वे हरिणगमेषी देव की आराधना करते हैं। भाई के प्रति भी उनका अत्यन्त स्नेह है। भगवान् अरिष्टनेमि के प्रति भी अत्यन्त निष्ठावान है। जहाँ एक ओर वे रणक्षेत्र में असाधारण वीरता का परिचय देकर रिपुमर्दन करते हैं, वज्र से भी कठोर प्रतीत होते हैं, वहीं दूसरी ओर एक वृद्ध व्यक्ति को देखकर उनका हृदय अनुकम्पा से द्रवित हो जाता है और उसके सहयोग के लिए स्वयं भी ईंट उठा लेते हैं। द्वारका विनाश की बात सुनकर वे सभी को यह प्रेरणा प्रदान करते हैं कि भगवान् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या ग्रहण करो। दीक्षितों के परिवार के पालन-पोषण आदि की व्यवस्था मैं करूँगा। स्वयं की महारानियाँ, पुत्र-पुत्रियाँ और पौत्र जो भी प्रव्रज्या के लिए तैयार होते हैं उन्हें वे सहर्ष अनुमति देते हैं। आवश्यकचूर्णि में वर्णन है कि वे पूर्णरूप से गुणानुरागी थे। कुत्ते के शरीर में कुलबुलाते हुये कीड़ों की ओर दृष्टि न डालकर उसके चमचमाते हुए दाँतों की प्रशंसा की, जो उनके गुणानुराग का स्पष्ट प्रतीक है।

प्रस्तुत आगम के पाँच वर्ग तक भगवान् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित होने

वाले साधकों का उल्लेख है। भगवान् अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर हैं। यद्यपि आधुनिक इतिहासकार उन्हें निश्चित तौर पर ऐतिहासिक पुरूष नहीं मानते हैं, किन्तु उनकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। जब उस युग में होने वाले श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक पुरूष माना जाता है तो उन्हें भी ऐतिहासिक पुरूष मानने में संकोच नहीं होना चाहिए।

जैन परम्परा में ही नहीं, वैदिक परम्परा में भी अरिष्टनेमि का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। ऋग्वेद में अरिष्टनेमि शब्द चार बार आया है।³⁵ “स्वस्ति नस्ताक्षर्यो अरिष्टनेमिः”।³⁶ यहाँ पर अरिष्टनेमि शब्द भगवान् अरिष्टनेमि के लिए ही आया है। इसके अतिरिक्त भी ऋग्वेद के अन्य स्थलों पर “ताक्षर्य अरिष्टनेमि” का वर्णन है। यजुर्वेद³⁷ और सामवेद³⁸ में भी भगवान् अरिष्टनेमि को ताक्षर्य अरिष्टनेमि लिखा है जो भगवान् का ही नाम होना चाहिए। उन्होंने राजा सगर को मोक्ष-मार्ग का जो उपदेश दिया, वह जैनधर्म के मोक्ष-मन्तव्यों से अत्यधिक मिलता-जुलता है।⁴⁰ ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि सगर के समय में वैदिक लोग मोक्ष में विश्वास नहीं करते थे। अतः यह उपदेश किसी श्रमण संस्कृति के ऋषि का ही होना चाहिए। यजुर्वेद में एक स्थान पर अरिष्टनेमि का वर्णन इस प्रकार है- अध्यात्म यज्ञ को प्रकट करने वाले, संसार के सभी भव्य जीवों को यथार्थ उपदेश देने वाले, जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा बलवान् होती है, उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लिए आहुति समर्पित करता हूँ।⁴¹ डॉ. राधाकृष्णन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है।⁴²

स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड में एक वर्णन है- अपने जन्म के पिछले भाग में वामन ने तप किया। उस तप के प्रभाव से शिव ने वामन को दर्शन दिये। वे शिव, श्यामवर्ण, अचेल तथा पद्मासन में स्थित थे। वामन ने उनका नाम नेमिनाथ रखा। नेमिनाथ इस घोर कलिकाल में सब पापों का नाश करने वाले हैं। उनके दर्शन और स्पर्श से करोड़ों यज्ञों का फल प्राप्त होता है।⁴³

प्रभासपुराण⁴⁴ में भी अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है। महाभारत अनुशासन

पर्व में “शूरः शौरिर्जिनेश्वर” पद आया है। विद्वानों ने “शूरःशौरिर्जिनेश्वरः” मानकर उसका अर्थ अरिष्टनेमि किया है।⁴⁵

लंकावतार के तृतीय परिवर्तन में तथागत बुद्ध के नामों की सूची दी गई है। उनमें एक नाम “अरिष्टनेमि” है।⁴⁶ सम्भव है अहिंसा के दिव्य आलोक को जगमगाने के कारण अरिष्टनेमि अत्यधिक लोकप्रिय हो गये थे जिसके कारण उनका नाम बुद्ध की नाम-सूची में भी आया है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. राम चौधरी ने अपनी कृति वैष्णव परम्परा के प्राचीन इतिहास में श्रीकृष्ण को अरिष्टनेमि का चचेरा भाई बतलाया है। कर्नल टॉड⁴⁷ ने अरिष्टनेमि के संबंध में लिखा है कि मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में चार मेघावी महापुरुष हुए हैं, उनमें एक आदिनाथ हैं, दूसरे नेमिनाथ हैं, नेमिनाथ ही स्कन्द्रीनेविया निवासियों के प्रथम ओदिन तथा चीनियों के प्रथम “फो” देवता थे। प्रसिद्ध कोषकार डॉ. नेगेन्द्रनाथ वसु, पुरातत्ववेत्ता डॉक्टर फुहरर, प्रो. वारनेट, मिस्टर करवा, डॉ. हरिदत्त, डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार प्रभृति अनेक विद्वानों का स्पष्ट मन्तव्य है कि भगवान् अरिष्टनेमि एक प्रभावशाली पुरुष थे। उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने में कोई बाधा नहीं है।

छान्दोग्योपनिषद् में भगवान् अरिष्टनेमि का नाम “घोर आंगिरस ऋषि” आया है, जिन्होंने श्री कृष्ण को आत्मयज्ञ की शिक्षा प्रदान की थी। धर्मानन्द कौशाम्बी का मानना है कि आंगिरस भगवान् अरिष्टनेमि का ही नाम था।⁴⁸ आंगिरस ऋषि ने श्रीकृष्ण से कहा- श्रीकृष्ण जब मानव का अन्त समय सन्निकट आये उस समय उसको तीन बातों का स्मरण करना चाहिये-

1. त्वं अक्षतमसि - तू अविनश्वर है।
2. त्वं अच्युतमसि - तू अच्युत है।
3. त्वं प्राणसंशितमसि - तू प्राणियों का जीवनदाता है।⁴⁹

प्रस्तुत उपदेश को श्रवणकर श्रीकृष्ण अपिपास हो गये। वे अपने आपको धन्य अनुभव करने लगे। प्रस्तुत कथन की तुलना अन्तकृतद्शा में आये हुए भगवान् अरिष्टनेमि के इस कथन से कर सकते हैं कि जब भगवान् के मुँह से द्वारका का

विनाश और जराकुमार के हाथ से स्वयं अपनी मृत्यु की बात सुनकर श्रीकृष्ण का मुखकमल मुझा जाता है, तब भगवान कहते हैं- हे श्रीकृष्ण! तुम चिन्ता न करो। आगामी भव में तुम अमम नामक तीर्थकर बनोगे।⁵⁰ यह सुनकर श्रीकृष्ण संतुष्ट एवं खेदरहित हो गये।

प्रस्तुत आगम में श्रीकृष्ण के छोटे भाई गजसुकुमार का प्रसंग अत्यन्त प्रेरणास्पद एवं रोचक है। वे भगवन् अरिष्टनेमि के उपदेश से इतने प्रभावित हुए कि सब कुछ छोड़कर श्रमण बन जाते हैं और महाकाल नामक शमशान में जाकर भिक्षु महाप्रतिमा को स्वीकार कर ध्यान में लीन हो जाते हैं। इधर सोमिल नामक ब्राह्मण देखता है कि मेरा होने वाला जन्मात्मा श्रमण बन गया है तो उसे अत्यन्त क्रोध आता है और सोचता है कि इसने मेरी बेटी के जीवन के साथ खिलवाड़ किया है, क्रोध से उसका विवेक क्षीण हो जाता है। उसने गजसुकुमार मुनि के सिर पर मिट्टी की पाल बांधकर धधकते अंगार रख दिये। उसके मस्तक, चमड़ी, मज्जा, माँस आदि के जलने से महाभयंकर वेदना होती है फिर भी वे ध्यान से विचलित नहीं होते हैं। उनके मन में जरा भी विरोध एवं प्रतिशोध की भावना पैदा नहीं हुई। यह थी रोष पर तोष की विजय। दानवता पर मानवता की विजय, जिसके फलस्वरूप उन्होंने केवल एक ही दिन में अपने चरित्र-पर्याय के द्वारा मोक्ष को प्राप्त किया।

चतुर्थ वर्ग के दस अध्ययनों में उन दस राजकुमारों का वर्णन है जिन्होंने राज्य के सम्पूर्ण वैभव व ठाट-बाट को छोड़कर भगवान अरिष्टनेमि के पास उग्र तपश्चर्या कर केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया। इस वर्ग में निम्न दस राजकुमारों का वर्णन है :-

क्र.सं.	नाम	पिता	माता
1.	जालि कुमार	म.वसुदेव	रानी धारिणी
2.	मयालि कुमार	म.वसुदेव	रानी धारिणी
3.	उवयालि कुमार	म.वसुदेव	रानी धारिणी
4.	पुरूषसेन कुमार	म.वसुदेव	रानी धारिणी

5.	वारिषेण कुमार	म. वसुदेव	रानी धारिणी
6.	प्रद्युम्न कुमार	श्रीकृष्ण-वासुदेव	रानी रूक्मिणी
7.	शाम्ब कुमार	श्रीकृष्ण-वासुदेव	रानी जाम्बवती
8.	अनिरुद्ध कुमार	प्रद्युम्न कुमार	रानी दैदर्भी
9.	सत्यनेमि कुमार	म. समुद्र विजय	रानी शिवा
10.	दृढनेमि कुमार	म. समुद्र विजय	रानी शिवा

इस वर्ग में वर्णन आया है कि इन सभी राजकुमारों का जीवन गौतम कुमार की तरह था। इन सभी ने पचास-पचास कन्याओं के साथ विवाह किया था। बारह वर्ष तक अंगों का अध्ययन कर सोलह वर्ष तक संयम का पालन किया और अन्त में शत्रुंजय पर्वत पर मुक्त अवस्था प्राप्त की।

पाँचवे वर्ग के दस अध्ययनों में श्रीकृष्ण-वासुदेव की आठ रानियों तथा दो पुत्रवधुओं के वैराग्यमय जीवन का वर्णन है। श्रीकृष्ण की रानियों में पद्मावती, गौरी गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती, सत्यभामा तथा रूक्मिणी देवी तथा पुत्रवधुओं में मूलश्री एवं मूलदत्ता देवी हैं। राज्य वैभव को त्यागकर वैराग्य मार्ग को अपनाने में राजरानियाँ भी किसी से कम नहीं हैं। यह अपूर्व उदाहरण है। इसी वर्ग में भगवान अरिष्टनेमि ने श्री कृष्ण को कहा था कि वे आने वाली चौबीसी में जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष के पुण्ड्रदेश के शतद्वार नामक नगर में अमम नामक बारहवें तीर्थकर बनेंगे। इस वर्ग का एक और प्रसंग महत्वपूर्ण है जिसमें भगवान अरिष्टनेमि द्वारा द्वारिका का विनाश सुरापान के कारण यदुवंशी युवक द्वैपायन ऋषि का अपमान करेंगे और द्वैपायन ऋषि अग्नि कुमार देव बनकर द्वारिका नगरी का विनाश करेंगे।

छठे वर्ग में सोलह अध्ययन हैं। प्रथम और द्वितीय अध्ययन में मंकाति और किंकर्मा गाथापति, तृतीय अध्ययन में अर्जुनमाली, चतुर्थ अध्ययन से चौदहवें अध्ययन में काश्यप, क्षेमक, धृतिधर, कैलाश, हरिचन्दन, वारदत्तक, सुदर्शन, पूर्णभद्र, सुमनभद्र, सुप्रतिष्ठित और मेघकुमार मुनि, पन्द्रहवें अध्ययन में अतिमुक्त कुमार और सोलहवें अध्ययन में अलक्ष नरेश का वर्णन आया है। मंकाई तथा किंकम

ने सोलह वर्ष तक गुणरत्न संवत्सर तप की आराधना कर विपुलगिरि पर्वत पर सिद्धावस्था प्राप्त की। इसके तृतीय अध्ययन में अर्जुनमाली और उसकी पत्नी बन्धुमती का मार्मिक वर्णन प्राप्त होता है जो मुद्गरपाणि नामक यक्ष की उपासना करते थे। ललित गोष्ठी के छह सदस्यों द्वारा बन्धुमती के चरित्र हरण करने पर अर्जुनमाली को क्रोध आता है और मुद्गरपाणि यक्ष के सहयोग से उन छहों सदस्यों को मार देता है। भगवान महावीर के राजगृह नगर में आगमन पर सुदर्शन नामक श्रेष्ठी उनके दर्शनार्थ जाते हैं। सुदर्शन पर भी वह क्रोधित होता है परन्तु सुदर्शन अपने जीवन को समता-साधना में लगाकर अर्जुनमाली का क्रोध शांत कर देता है और वे दोनों भगवान के पास पहुँच कर श्रमण दीक्षा अंगीकार कर उग्र तपश्चर्या करते हैं। जिसके नाम से एक दिन बड़े-बड़े वीरों के पाँव धरते थे और हृदय काँपते थे, जिसने तेरह दिन में 1141 व्यक्तियों की हत्याएँ की थी, वही अर्जुनमाली श्रमण दीक्षा ग्रहण कर लोगों के कटुवचन तथा तिरस्कार को निर्जरा का हेतु समझकर अपनी इन्द्रियों का दमन करता है। वह निमित्त को दोषी नहीं मानते हुए अपने कर्मों का दोष मानते हुए समत्व भावना का चिन्तन करते हुए भयंकर उपसर्गों को शान्त भाव से सहन करता हुआ उग्र साधना के द्वारा छह माह में ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इसी वर्ग के पन्द्रहवें अध्ययन में बालमुनि अतिमुक्तक कुमार का मार्मिक वर्णन प्राप्त होता है जो साधना की दृष्टि से सभी मुनियों के लिए प्रेरणास्त्रोत है इस प्रसंग से यह सिद्ध होता है कि साधना की दृष्टि से वय की प्रधानता नहीं है जो साधक वय की दृष्टि से भले ही छोटा हो परन्तु यदि उसमें साधना की योग्यता है तो वह दीक्षित हो सकता है। इस अध्ययन में अतिमुक्तक और गोतम गणधर का समागम और भगवान महावीर से चर्चाएँ मुख्य हैं। अतिमुक्तक कुमार का उनके माता-पिता के साथ संसार की क्षणभंगुरता का प्रसंग मार्मिक है माता-पिता ने अतिमुक्तक कुमार को इस प्रकार कहा- 'हे पुत्र! तुम अभी बालक हो। असंबुद्ध हो। तुम अभी धर्म-तत्व को क्या जानते हो? तब अतिमुक्तक कुमार ने कहा हे माता-पिता! मैं जिसको जानता हूँ, उसको नहीं जानता हूँ, और जिसको नहीं जानता हूँ, उसी को जानता हूँ। तब उन्होंने कहा कि हे माता-पिता! मैं जानता हूँ कि जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है किन्तु मैं यह नहीं जानता कि मृत्यु कब, किस समय अथवा कहाँ अर्थात् किस

स्थान पर कैसी अवस्था में आयेगी। जीव किन कर्मों नरक आदि में जन्म लेते है यह मैं नहीं जानता, किन्तु यह जानता हूँ कि कर्मबन्ध के कारणों से नारकी आदि योनियों में जन्म लेते हैं। अतः मैं संयम अंगीकार करना चाहता हूँ। भगवती सूत्र¹ में उल्लेख है कि शौच के लिए जाते समय रास्ते में पानी को देखकर अतिमुक्तक कुमार का बालकपन उभर आया और एक पात्र उस पानी में छोड़कर वे कहने लगे- “तिर मेरी नैया तिर-”। परन्तु अन्य स्थविरों को उनका यह कृत्य श्रमणमर्यादा के विपरीत लगा। अतः उन्हें उपालम्भ दिया। अतिमुक्तक को इस कृत्य पर अत्यन्त पश्चाताप हुआ। भगवान महावीर ने स्थविरों के मन की भावना को जानकर उन्हें कहा कि अतिमुक्तक इसी भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे। इनकी निन्दा और गर्हणा मत करो। यहाँ मुक्ति के लिए पश्चाताप के आदर्श मार्ग को अतिमुक्तक मुनि के प्रसंग से दर्शाया है।

सप्तम वर्ग के 13 अध्ययन हैं। इन तरह अध्ययनों में राजगृह नगर के सम्राट राजा श्रेणिक की तरह रानियों के बीस वर्ष तक संयम पालन कर अन्त में सिद्धत्व प्राप्ति का उल्लेख है। ये तरह रानियाँ हैं- नंदा, नंदवती, नंदोत्तरा, नंदश्रेणिका, मरूता, समरूता, महामरूता, मरूदेवा, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमनायिका और भूतदत्ता। अष्टम वर्ग के 10 अध्ययन हैं। इनमें राजा श्रेणिक की रानियों की कठोर तपश्चर्या का वर्णन है जो रोंगटे खड़े करने वाला है। इन महारानियों के छुट-पुट जीवन प्रसंग अन्य आगमों में भी विस्तार से मिलते हैं। ये महारानियाँ अपने जीवन के अन्त में संलेखना पूर्वक आयु पूर्ण कर मुक्ति प्राप्त करती हैं। इस वर्ग के प्रथम अध्ययन में काली देवी के “रत्नावली तप”, दूसरे अध्ययन में सुकाली देवी के “कनकावली तप”, तृतीय अध्ययन में महाकाली देवी के “लघुसिंह निष्क्रीडित तप”, चतुर्थ अध्ययन में कृष्णा देवी के “महासिनिष्क्रीडित तप”, पंचम अध्ययन में सुकृष्णा देवी के “सप्तसप्तमिका भिक्षुप्रतिका तप”, षष्ठ अध्ययन में महाकृष्णा देवी के “लघुसर्वतोभद्र तप”, सप्तम अध्ययन में वीरकृष्णा देवी के “महासर्वतोभद्र तप”, अष्टम अध्ययन में रामकृष्णा देवी के “भद्रोत्तरप्रतिमा तप”, नवम अध्ययन में पितृसेन कृष्णा देवी के “मुक्तावली तप” तथा दशम अध्ययन में महासेनकृष्णा देवी के “आर्यबिल-वर्धमान तप” का वर्णन है जो श्रमणों के लिए अनुकरणीय है।

क्र. सं.	नाम तप	तपश्चर्याकाल	तप के दिन	पारणो
1.	रत्नावली तप	एक परिपाटी- 1वर्ष, 3 मास, 22 दिन चार परिपाटी- 5 वर्ष, 2 मास, 28 दिन	एक परिपाटी- 1 वर्ष-24 दिन चार परिपाटी- 4 वर्ष, 3मास,6 दिन	एक परिपाटी-88 चार परिपाटी-352
2.	कलकावली तप	एक परिपाटी- 1 वर्ष, 5 मास, 12 दिन चार परिपाटी- 5 वर्ष, 9 मास, 18 दिन	एक परिपाटी- 1 वर्ष, 2माह, 14दिन चार परिपाटी- 4वर्ष, 9मास, 26दिन	एक परिपाटी- 88 चार परिपाटी- 352
3.	खड्डुगसिंह निकीलियं (लघुसिंह निकीलियं तप)	एक परिपाटी- 6मास, 7दिन चार परिपाटी- 2वर्ष, 28दिन	एक परिपाटी- 5माह, 4दिन चार परिपाटी- 1 वर्ष, 8मास, 16दिन	एक परिपाटी- 33 चार परिपाटी- 132
4.	महासिंह निकीलियं	एक परिपाटी- 1वर्ष, 6मास, 18दिन चार परिपाटी- 6वर्ष, 2मास, 12दिन	एक परिपाटी- 1वर्ष, 4 माह, 17दिन चार परिपाटी- 5वर्ष, 6मास, 8दिन	एक परिपाटी- 61 चार परिपाटी- 244
5.	सतसतमिया मिक्खू प्रदिभा तप	49दिन, 196 दत्तिओ प्रतिभा		
6.	अट्टअट्टमिया मिक्खू पदिमा तप	64दिन, 288 दत्तिओ		
7.	नवनवामिया मिक्खू पदिमा	81 दिवस, 405 दत्तिओ		

क्र. सं.	नाम तप	तपश्चर्याकाल	तप के दिन	पारणे
8.	दसदसमियामिक्खू पदिमा	100दिवस, 550दत्तिओं		
9.	खुऔयासव्वतोभद्द पदिमा	75दिवस, पारणे-29		
10.	महासर्वतोभद्र- पदिमा	196दिवस, पारणे-49		
11.	भद्रोत्तर प्रतिभा-	175 दिवस, पारणे-29		
12.	मुक्तावली	एक परिपाटी 11 मास, 25दिन चार परिपाटी-3वर्ष, 10मास	एक परिपाटी-285दिन चार परिपाटी-3वर्ष, 2मास, चार-240	एक परिपाटी- 60पारणे
13.	आयाबिल वर्धमान	14वर्ष, 3मास, 20दिन चार परिपाटी- 11मास, 15दिन	चारपरिपाटी-3वर्ष, 10मास	बीच में कोई पारणा नहीं।

विशिष्ट तपश्चर्या वर्णन :- प्रस्तुत ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें विशिष्ट तपश्चर्या का वर्णन किया गया है जिसके माध्यम से राजा श्रेणिक की रानियों ने मुक्ति प्राप्त की। यहाँ इन तपश्चर्याओं का संक्षिप्त विवरण दर्शाया गया है।-

पर्युषण में अन्तकृतद्दशांग सूत्र का वाचना क्यों? :-

दिगम्बर परम्परा में पर्युषण काल में तत्त्वार्थसूत्र के वाचन की परम्परा है। ऐसा कहा जाता है कि राजा श्रेणिक के शासन काल में चम्पानगरी के पूर्णभद्र उद्यान में सुधर्मा स्वामी ने जम्बूस्वामी को अतगड़दशासूत्र का अध्ययन कराया था वह काल पर्युषण काल नहीं था और शास्त्रों में भी पर्युषण काल में ही इसकी वाचना का विधान प्राप्त नहीं होता परन्तु पर्युषण काल में ही इसकी वाचना की परम्परा विद्यमान है। पर्युषण के अवसर पर कब से इसकी वाचना की परम्परा प्रारंभ हुई, यह भी एक शोध का विषय है, परन्तु ऐसा लगता है कि 15वीं शती के पश्चात् अर्थात् लोकाराह के पश्चात् इसके वाचन की परम्परा प्रारंभ हुई होगी। चूँकि एक ओर इसमें महाराजा श्रेणिक तथा श्रीकृष्ण-वासुदेव की महारानियों द्वारा विशिष्ट तपश्चर्याओं के द्वारा मुक्तावस्था का वर्णन है तो दूसरी ओर गजसुकुमार और अतिमुक्तक कुमार जैसे श्रमणों का तेजस्वी व्यक्तित्व वर्णित है और तीसरी ओर सेठ सुदर्शन, अर्जुनमाली आदि के आख्यानों का मार्मिक वर्णन है, जो सम्पूर्ण जैन संस्कृति के लिए अनुकरणीय एवं आदर्श हैं। अतः पर्युषण के पावन पर्व पर स्थानकवासी परम्परा में इस आगम के वाचन की परिपाटी विद्यमान है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज में कल्पसूत्र के वाचन की परम्परा है। अंगसूत्रों में “अन्तकृतद्दशा” आठवाँ अंग आगम है यह आठ वर्गों में बँटा हुआ है और पर्युषण के दिन भी आठ ही होते हैं। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर इसके वाचन की परिपाटी पर्युषण के दिनों में हुई होगी। वैसे इसका वाचन किसी भी दिन किया जा सकता है।

अंतकृतद्दशांग सूत्र की वृत्तियाँ एवं अनुवाद :- अंतकृतद्दशांग सूत्र पर संस्कृत में दो वृत्तियाँ प्राप्त होती हैं आचार्य अभयदेव और आचार्य घासीलाल जी म. सा. की। छः हिन्दी अनुवाद प्राप्त होते हैं। तीन-चार गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। इस तरह इस आगम के करीब तेरह संस्करण प्राप्त होते हैं। एक अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक वैशिष्ट्य :- अन्तगड़दशासूत्र में काकंदी,

गुणशील उद्यान, चम्पानगरी, जम्बूद्वीप, द्वारका, दूतिपलाश चैत्य, पूर्णभद्र चैत्य, भद्रिलपुर, भरतक्षेत्र, राजगृह, रैवतक, विपुलगिरि पर्वत, सहास्राग्रवन उद्यान, साकेत तथा श्रावस्ती के परिचय के साथ ही इसमें ब्राह्मण, वैश्य, शुद्र और क्षत्रिय जातियों का परिचय भी प्राप्त होता है। ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति विशेष में सोमश्री, सोमा और सोमिल ब्राह्मण का उल्लेख हुआ है। वैश्य वर्ण के व्यक्ति-गाथापति में काश्यप, किंकर्मा, कैलाशजी, द्वेपायनऋषि, धृतिधरजी नागगाथापति, पूर्णभद्र, मंकातिगाथापति, मेघकुमार वास्तक, सुदर्शन सेठ, (प्रथम) एवं (द्वितीय), सुप्रतिष्ठित, सुमनभद्र सुलज्ञा, हरिचन्दन और क्षेमकगाथापति। शुद्र वर्ण में अर्जुनमाली और उसकी पत्नी बंधुमती तथा क्षत्रिय वर्ण में राजाओं की दृष्टि में अन्धकवृष्णि, अलक्षराजा, श्रीकृष्ण-वासुदेव, कोणिकराजा, जितशत्रु, प्रद्युम्न, विजयराजा, वासुदेवराजा, बलदेव, समुद्रविजय तथा श्रेणिक राजा, रानियों में काली, कृष्णा, गांधारी, गौरी, चेल्लणा, जाम्बवती देवकी, धारिणी, नन्दश्रेणिका नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा, पद्मावती, मितृसेनकृष्णा, बलदेवपत्नी, भद्रा, मरूतदेवी, मरूतादेवी, महाकाली, भद्रकृष्णा, महामरूता, महासेनकृष्णा, मूलदत्ता, मूलश्री, रामकृष्णा, रूक्मिणी, लक्ष्मणा, वसुदेव-पत्नी, वीरकृष्णा, वैदर्भी, सत्यभामा, सुकालिका, सुकृष्णा, सुजाता, सुभद्रा, सुमनतिका, सुमरूत, सुसीमा और श्री देवी। राजकुमारों में अचल, अतिमुक्त, अनंतसेन, अनादृष्टि, अनियस, अनिरुद्ध, अनिहत, अभिचन्द्र, अक्षोभकुमार, उवयालि, कार्पिल्य, कूपक, गजसुकुमार, गंभीर, गौतम, जालि, इडनेमि, दारूक, दुर्मुख, देवयश, धरण, प्रद्युम्न, प्रेसेनजीत, पुरूषषेण, पूर्णकुमार, मयालि, वारिषेण, विदु, विष्णु, सत्यनेमि, समुद्र, सागर, सारण, स्तिमिता, सुमुख, शत्रुसेन, शांब और हेमवन्त कुमार का वर्णन मिलता है।

अंतगड़दशासूत्र की कतिपय विशेषताएँ :-

1. चरित्र एवं पौराणिक काव्यों के लिए इसमें बीजभूत आख्यान समाविष्ट हैं।
2. राजकीय परिवार के स्त्री-पुरूषों को संयम धारण करते हुए देखकर आध्यात्मिक साधना के लिए प्रेरणा प्राप्त होती है।

3. कृष्ण और कृष्ण की आठ पत्नियों का आख्यान- सम्यक्त्वकौमुदी की कथाओं का स्रोत है। जम्बूस्वामी की आठ पत्नियाँ एवं उनको सम्यक्त्व प्राप्ति की कथाएँ भी इन्हीं बीजों से अंकुरित हुई हैं।
4. कथानकों के बीजभाव काव्य और कथाओं के विकास में उपादान रूप में व्यवहृत हुए हैं। एक प्रकार से उत्तरवर्ती साहित्य के विकास के लिए इन्हें “जर्मिनल आडिया” कहा जा सकता है।
5. द्वारिका नगरी के विध्वंस का आख्यान- जिसका विकास परवर्ती साहित्य में खूब हुआ है।
6. ललित गोषियों (मित्र मण्डलियों) के अनेक रूप- अर्जुन माली के आख्यान से प्रकट हैं।
7. प्राचीन मान्यताओं और अन्धविश्वासों का प्रतिपादन यक्षपूजा, मनुष्य के शरीर में यक्ष का प्रवेश आदि के द्वारा किया है।
8. अहिंसक के समक्ष हिंसावृत्ति का काफूर होना और अहिंसा-वृत्ति में परिणत होना- अर्जुन लौह मुदगर से नगरवासियों का विध्वंस करता है किन्तु भगवान महावीर के समक्ष जाकर वह नतमस्तक हो जाता है और प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता है।
9. नगर, पर्वत-रैवतक, आयतन-सुरप्रिय, यक्षायतन आदि का वर्णन काव्यग्रंथों के लिए उपकरण बना।
10. देवकी के पुत्र गजसुकुमार के दीक्षित हो जाने पर सोमिल ने ध्यानास्थित दशा में उसे जला दिया, अत्यन्त वेदना होने पर भी वह शांत भाव से कष्ट सहन करता रहा, यह आख्यान साहित्य निर्माताओं का इतना प्रिय हुआ, जिससे “गजसुकुमार” नामक स्वतन्त्र काव्य ग्रंथ लिखे गये।⁵²

इस प्रकार अन्तगडदशासूत्र अंग आगमों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस श्रुतांग के आख्यानों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। आदि के पाँच

वर्गों के कथानकों का संबंध अरिष्टनेमि के साथ है और शेष तीन वर्ग के कथानकों का संबंध महावीर तथा श्रेणिक के साथ है।

प्रस्तुत आगम में विविध कथाओं के माध्यम से सरल एवं मार्मिक तरिके से विविध तपश्चर्याओं का विवेचन किया गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि किस प्रकार व्यक्ति अपनी आत्म साधना के द्वारा जीवन के अन्तिम लक्ष्य “मुक्ति” को प्राप्त करता है।

संदर्भ :-

1. विधिमार्गप्रपा- प्रष्ठ 55
2. समवायांग प्रकीर्णक, समवाय, 86
3. नन्दीसूत्र - 88
4. समवायांग वृत्ति पत्र, 112
5. वही, पत्र, 112
6. नन्दीसूत्र चूर्णिसहित पत्र, 68
7. वही, पत्र, 73
8. वही, पत्र, 68
9. स्थानांगसूत्र - 10/113
10. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/20, पृष्ठ-73
11. अंगपण्णत्ति, 51
12. कसायपाहुड, भाग 1, पृष्ठ-130
13. “ततो वाचनान्तराक्षाणीमानीति सम्भावामः।” स्थानांगवृत्ति पत्र 483
14. अन्तकृतृद्दशा-मधुकर मुनि- 1889, भूमिका पृष्ठ 24
15. द्रोणसरि, ओधनिर्युक्ति, पृष्ठ - 3
16. सुत्तं गणधरकथिदं, तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा काथिदं अभिण्णदेशपुव्विकार्थदं च॥

- मूलाचार 5/80

17. (क) सूत्रकृतांग-शीलांकाचार्य वृत्ति, पत्र 336
 (ख) स्थानांगसूत्र, अभयदेव वृत्ति प्रारंभ।
 (ग) दशवैकालिकसूत्रचूर्णि, पृष्ठ- 29
 (घ) निशिथभाष्य - 4004
18. (क) वलहिपुराभिनयरे, देवढिडपमुहेण समणसंधेण।
 पुत्थई आगमु हिको नवसय असीआओ वीराओ।
 अर्थात् ईस्वी 453, भतान्तर से ई.466 एक प्राचीन गाथा।
 (ख) कल्पसूत्र - देवेन्द्रमुनि शास्त्री, महावीर अधिकार।
19. “भगणं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाद्वक्खइ। सावि य णं
 अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणा-
 रियाणंदुप्पय-चडप्पय-मिय-पसु-पार्वख- सरीसिवाणं अप्पणो
 हिय-सिव सुहयभासत्राए परिणमई।”
 - समवायांग सूत्र-34, 22, 23
20. बालस्मीवृद्धमुख्याणां नृणां चारित्रकाक्षिणाम् ।
 अनुग्रहार्थं तच्चज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥
 - दशवैकालिक वृत्ति, पृष्ठ - 223
21. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-ले.डा.
 नेमिचन्द शास्त्री, पृष्ठ - 175-76।
22. महाभारत - शान्तिपर्व, अ. 48
23. श्रीमद्भागवद्गीता।
24. महाभारत - अनुशासन पर्व, 147/18-20
25. शतपथब्राह्मण, 13/3/4
26. तैत्तरीयारण्यक, 10/11
27. महाभारत - वनपर्व 16-47, उद्योग पर्व 481
28. छान्दोग्योपनिषद् अ. 3 खण्ड 17, 2 श्लोक 6, गीताप्रेस गोरखपुर।

29. श्रीमद्भागवत् - दशम स्कन्ध, 8-48, 3/13/24-25
30. भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण- एक अनुशीलन, पृष्ठ 176 से 186
31. जातककथाएं, चतुर्थ खण्ड 454 में घटजातक - भदन्त आनन्द कौशल्यायन।
32. समवायांग, 158
33. आवश्यकनियुक्ति, गाथा 415
34. अन्तकृद्दशा, वर्ग 1 से 3 तक
35. (क) ऋग्वेद 1/14/95/6/
(ख) ऋग्वेद 1/24/180/10
(ग) ऋग्वेद 3/4/53/17
(घ) ऋग्वेद 10/12/178/1
36. ऋग्वेद - 1/14/89/9, 1/1/16, 1/12/178/1
37. यजुर्वेद - 25/18
38. सामवेद - 3/8
39. महाभारत शान्ति पर्व - 288/4
40. महाभारत शान्ति पर्व - 288/5/6
41. वाजसनेयि : माध्यदिन युक्लयजुर्वेद, अध्याय 8 मंत्र 25, सातवलेकर संस्करण (विक्रम 1894)
42. Indian Philosophy संस्करण (विक्रम 1894)
43. स्कन्धपुराण प्रभास खण्ड
44. प्रभास पुराण 48/50
45. मोक्षमार्ग प्रकाश, पण्डित टोडरमल।
46. बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ. 162

47. अन्नल्स ऑफ दी भण्डारकर रिसर्च इनस्टीट्यूट पत्रिका, 23, पृ.122।
48. भारतीय संस्कृति और अहिंसा - पृ. 57
49. तद्धैतद् घोरं अगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्राये। तत्वोवाचाडपियाज्ञा एवं सं बभूव, सोडन्त वेलायामेमत्ययं प्रतिपद्येताक्ष तमस्य चयुतमसि प्राणसंसीति।
- छान्दोग्योपनिषद् प्र.3, खण्ड 18।
50. अन्तकृत्दशासूत्र, वर्ग 5, अध्ययन - 1
51. भगवती शतक 5, उद्देशक - 4
52. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री - प्राकृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 176

□ पूर्व प्रभारी एवं शोधधिकारी

आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान,

पद्मिनी मार्ग, उदयपुर

अनुत्तरोपपातिकदृशा का समीक्षात्मक अध्ययन

□ डॉ. अतुल कुमार प्रसाद सिंह

जैन परम्परा में ज्ञान को पाँच भागों में विभक्त किया गया है :- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। इन पाँचों ज्ञान को प्रमाण की अपेक्षा से दो भागों में विभक्त किया गया है :- प्रत्यक्ष और परोक्ष। मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना वस्तु के स्वभाव आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेना प्रत्यक्ष है तथा मन और इन्द्रियों की सहायता से प्राप्त ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष के अंतर्गत अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान आते हैं तथा मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष हैं। आगम साहित्य श्रुत ज्ञान के अन्तर्गत है। नन्दीसूत्र में ज्ञान (प्रमाण) का वर्णन विस्तार से किया गया है।

भारतीय साहित्य में “श्रुति” और “श्रुत” दोनों शब्द प्राचीन काल से प्रचलित रहे हैं। दोनों का अर्थ एक ही है- सुनी हुई या सुना हुआ। जो ज्ञान श्रवण परम्परा से उपलब्ध है, अर्थात् गुरु से शिष्य को परम्परागत रूप से कर्णोपकर्ण होकर प्राप्त हुआ है तथा अनेक प्राचीन आचार्यों ने अपने स्मरण द्वारा जिसको सुरक्षित रखा है, उसकी “श्रुति” संज्ञा वैदिक परम्परा में तथा “श्रुत” संज्ञा जैन परम्परा में प्रचलित है।

नन्दीसूत्र में श्रुत ज्ञान के चतुर्दश प्रकार बतलाये गये हैं :-

- | | | |
|-------------------------|------------------------|--------------------|
| 1. अक्षरश्रुत | 2. अनक्षरश्रुत | 3. संज्ञिश्रुत |
| 4. असंज्ञिश्रुत | 5. सम्यक्श्रुत | 6. मिथ्याश्रुत |
| 7. सादिकश्रुत | 8. अनादिकश्रुत | 9. सपर्यवसित श्रुत |
| 10. अपर्यवसितश्रुत | 11. गमिकश्रुत | 12. अगमिकश्रुत |
| 13. अंगप्रविष्टश्रुत और | 14. अनंगप्रविष्टश्रुत। | |

इनमें से तीन प्रकार श्रुत का समावेश अंग आगमों में होता है। ये हैं :-

1. सम्यक्श्रुत केवल ज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले, त्रिलोकवर्ती

जीवों द्वारा सम्मानित तथा उत्कीर्तित, भावयुक्त नमस्कृत, अतीत, वर्तमान और अनागत को जानने वाले, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अर्हत-तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा प्रणीत अर्थ से कथन किया हुआ- द्वादश अंग रूप गणिपिटक है।'

2. आदि, मध्य या अन्त में कुछ शब्द भेद के साथ उसी सूत्र को बार-बार कहना गमिकश्रुत है इसके विपरीत आचारांग आदि कालिकश्रुत अगमिक हैं। जबकि दृष्टिवाद गमिकश्रुत है।²
3. अंगप्रविष्ट श्रुत में भी आचारांग आदि बारह अंगों का समावेश हो जाता है।³ इस प्रकार दृष्टिवाद को छोड़कर ग्यारह अंगों का समावेश सम्यक्श्रुत, अगमिकश्रुत तथा अंगप्रविष्टश्रुत में हो जाता है।

जिस प्रकार मनुष्य के अंग होते हैं उसी तरह श्रुत को पुरुष मानकर उसके बारह अंगों की कल्पना की गयी है। अनुत्तरोपपातिकदशा का स्थान अंग आगमों में नौवां है।

अनुत्तरोपपातिकदशा शब्द "अनुत्तर" + "उपपात" + "दशा" इन तीन शब्दों से बना है। इसका अर्थ है :- अनुत्तरविमान में उत्पन्न होने वाले की अवस्था या अनुत्तरविमान में उत्पन्न होने वाले दस लोगों का वर्णन या दस अध्ययन।

स्थानांगसूत्र में इन दस नामों का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है:- ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, संस्थान, शालिभद्र, आनन्द, तेतली, दशार्णभद्र और अतिमुक्तक। समवायांग में दस अध्यायों की सूचना तो है किन्तु इनके नाम नहीं दिये गये हैं, दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों-तत्त्वार्थराजवार्तिक, धवला, जयधवला तथा अंगपण्णत्ति में अनुत्तरोपपातिक के विषय में सूचना प्राप्त होती है। राजवार्तिक में इसके दस अध्ययन हैं :- ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण तथा चिलातपुत्र। धवला में राजवार्तिक के समान उल्लेख मिलता है। इसमें केवल कार्तिक के स्थान पर कार्तिकेय तथा नन्द के स्थान पर आनन्द नाम प्राप्त होता है। अंगपण्णत्ति में इसके क्रम में अन्तर है। इसमें दस नाम इस प्रकार हैं-

ऋजुदास, शालिभद्र, सुनक्षत्र, अभय, धन्य, वारिषेण, नंदन, नंद, चिलातपुत्र और कार्तिकेय। इसमें ऋषिदास की जगह ऋजुदास तथा कार्तिक के स्थान पर कार्तिकेय नाम उपलब्ध हैं। जयधवला में किसी विशेष नाम का उल्लेख नहीं है। दिगम्बर परम्परा के इन ग्रंथों में प्राप्त विवरणों से यह ज्ञात होता है कि इस परम्परा में श्वेताम्बर मान्य ग्यारह अंगों को लुप्त हुआ तो मान लिया गया, परन्तु इसके वर्ण्य विषय इसमें सुरक्षित रहे यद्यपि स्थानांग में उपलब्ध नामों से इसमें आंशिक भिन्नता है। स्थानांग के संस्थान, आनन्द, तेतली, दशार्णभद्र और अतिमुक्तक की जगह दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में नंद, नंदन, अभय, वारिषेण, और चिलातपुत्र का उल्लेख है।

वर्तमान में उपलब्ध अनुत्तरोपपातिकदशा में तीन वर्गों में कुल 33 अध्ययन हैं। स्थानांग और दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में उपलब्ध दस नामों में से तीन नाम :- ऋषिदास, धन्य और सुनक्षत्र वर्तमान में तृतीय वर्ग में है तथा दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में प्राप्त वारिषेण व अभय नाम वर्तमान में प्रथम वर्ग में उपलब्ध हैं। इससे पता चलता है कि वर्तमान में उपलब्ध अनुत्तरोपपातिकदशा का प्रथम एवं द्वितीय वर्ग स्थानांग की अपेक्षा प्रक्षिप्त है तथा तृतीय वर्ग के सात अध्ययन भी बाद में कभी जोड़ दिये गये हैं। दिगम्बर परम्परा की अपेक्षा प्रथम वर्ग के अभय और वारिषेण नामक अध्ययन को छोड़कर शेष आठ अध्ययन, द्वितीय वर्ग पूरा तथा तृतीय वर्ग के ऋषिदास, सुनक्षत्र और धन्य अध्ययन को छोड़कर शेष सात अध्ययन प्रक्षिप्त हैं, यद्यपि स्थानांगसूत्र के वृत्तिकार अभयदेवसूरि स्थानांग में वर्णित शेष नाम प्रस्तुत सूत्र की किसी अन्य वाचना में होने की संभावना व्यक्त करते हैं। समवायांग और नंदीसूत्र की वाचना परिमित अर्थात् अनेक बतलायी गयी है। जहाँ तक वल्लभी वाचना के समय उपलब्ध पाठ का प्रश्न है, यह नन्दी में प्राप्त होता है। परन्तु नन्दी में इस विषय में एक श्रुतस्कन्ध, तीन वर्ग तथा तीन उद्देशण काल तो कहा गया है।¹ किन्तु इसके अध्ययनों की संख्या व नाम का कोई उल्लेख नहीं है। एक दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इसी विषय में समवायांग सूत्र में प्रस्तुत अंग के एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन, तीन वर्ग तथा दस उद्देशणकाल कहा गया है।² अध्ययन के नाम यहाँ भी नहीं हैं। समवाय के वृत्तिकार इस संबंध में लिखते हैं कि इस

भेद का हेतु अवगत नहीं है। “इह तु दृश्यंते दशा-इति अन्त अभिप्रायो न ज्ञायते इति।”⁶ वर्तमान में उपलब्ध तीन वर्ग नन्दीसूत्र में उपलब्ध होने से वल्लभी वाचना में भी इसके रहने का संकेत मिलता है।

स्थानांग में उल्लिखित “अतिमुक्तक” अध्ययन वर्तमान में आठवें अंग अन्तकृद्दशा के षष्ठ वर्ग का पन्द्रहवाँ अध्ययन है। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में प्राप्त वारिषेण नामक अध्ययन वर्तमान में इसी अंग के चौथे वर्ग का पाँचवा अध्ययन है। इसके अतिरिक्त वर्तमान में उपलब्ध अनुत्तरोपपातिक दशा के प्रथम वर्ग के जालि, मयालि, उपजालि और पुरुषसेन नामक अध्ययन भी अन्तकृद्दशा के इसी वर्ग में प्राप्त होते हैं। अन्तर सिर्फ इतना है कि इसमें जालि, मयालि, उपजालि, पुरुषसेन और वारिषेण के पिता वसुदेव, माता धारिणी, नगरद्वारिका तथा दीक्षगुरु के रूप में बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का नाम उल्लिखित है। इसी प्रकार प्रथम वर्ग में वेहल्ल और द्वितीय वर्ग में हल्ल अध्ययन का वर्णन है। इसकी कथा विस्तार से निरयावली⁷ आवश्यकचूर्णि⁸ आवश्यकवृत्ति (हरिभद्र)⁹ भगवतीवृत्ति (अभयदेव)¹⁰ तथा आवश्यक¹¹ में वर्णित हैं। ये दोनों राजा श्रेणिक के चलना रानी से उत्पन्न पुत्र थे। चलना वैशाली के राजा चेटक की पुत्री थी। हल्ल और वेहल्ल को चेटक ने एक हाथी और सोने का हार उपहार में दिया, जिसे उसके बड़े भाई कुणिक (अजातशत्रु) ने मांगा। इन दोनों ने हाथी और हार कुणिक को देने से इनकार कर दिया और अपने नाना चेटक के पास चले आये। इस बात को लेकर चेटक और कुणिक में भयंकर युद्ध हुआ था।¹² भगवतीसूत्र में इन दो युद्धों- महाशिलकण्टक संग्राम और रथ-मुसल संग्राम का वर्णन है। इसमें कुणिक की विजय हुई थी।¹³ किन्तु अनुत्तरोपपातिक में चलना के दो पुत्रों का नाम वेहल्ल और वेहायस दिया गया है तथा हल्लकुमार का परिचय द्वितीय वर्ग में धारिणी देवी और श्रेणिक के पुत्र के रूप में उल्लिखित है।

समवायांग सूत्र में इस अंग की विषयवस्तु का अल्लेख करते हुए कहा गया है :-

“अनुत्तरोपपातिक” में “अनुत्तरोपपातिकों” के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखंड, समवसरण, तत्कालीन राजा, सौधर्म, ईशान आदि नाम वाले बारह स्वर्ग माने गये हैं। बारहवें स्वर्ग के ऊपर नव ग्रैवेयक विमान आते हैं और इनके ऊपर

विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्ध – ये पाँच अनुत्तरविमान आते हैं। ये विमान उत्तर या उत्तम (प्रधान) होने से और अन्य सामान्य स्वर्गों की अपेक्षा श्रेष्ठ होने से अनुत्तरविमान कहलाते हैं। जो मनुष्य अपने तप और संयम की साधना से इनमें जन्म पाते हैं, उनको अनुत्तरोपपातिक कहा जाता है।

जैन दर्शन में लोक का स्वरूप पुरुषाकार निरूपित किया गया है। उसके सबसे नीचे के भाग में सात नरक हैं। मध्य के भाग में जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड पुष्करार्धद्वीप आदि शुभनाम वाले द्वीप, लवण, कालोदधि, पुष्करोदधि आदि समुद्र और मानुषोत्तर आदि पर्वत अवस्थित हैं। इनमें मनुष्य और तिर्यच रहते हैं। उर्ध्वलोक को देवलोक भी कहा जाता है। यहाँ देवताओं के वास स्थान विमान माने गये हैं। इनमें ज्योतिष्क और वैमानिक निकायों के देव निवास करते हैं। भवनपति मध्यलोक के नीचे भवनों में तथा व्यन्तर मध्यलोक में निवास करते हैं। भवनवासी के दस, व्यन्तर के आठ, ज्योतिष्क के पाँच तथा वैमानिक निकाय के बारह भेद हैं। वैमानिकों के सौधर्म से अच्युत विमान तक बारह स्वर्ग होते हैं जो एक दूसरे के ऊपर अवस्थित हैं। इनसे ऊपर पुरुषाकार लोक के ग्रीवास्थान में नौ ग्रैवेयक विमान अवस्थित हैं। इनके ऊपर बाईसवें से छब्बीसवें तक पाँच विजय आदि अनुत्तर विमान हैं तथा लोक के सबसे ऊपरी भाग में सिद्ध स्थान है। प्रस्तुत अंग में इन्हीं अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले महापुरुषों का वर्णन किया गया है।

समवायांग तथा नंदीसूत्र में इसके परिचय के क्रम में कहा गया है :- इस सूत्र की वाचनाएँ परिमित हैं। वेदा नामक छन्द संख्येय है, रलोक संख्येय हैं, उसकी निर्युक्ति संख्येय हैं, श्रुत-स्कन्ध है, तीन वर्ग हैं, अक्षर असंख्येय हैं, नय अनन्त हैं और पर्याय भी अनन्त हैं। पदाग्र परिमाण से संख्यात सहस्र पद हैं, इसमें परिमित त्रस तथा अनन्त स्थावरों का वर्णन है। शाश्वतकृत-निबद्ध-निकाचित जिन भगवान द्वारा प्रणीत भाव कहे गये हैं। इस प्रकार चरण-करण की प्ररुपणा के द्वारा वस्तु स्वरूप का कथन प्रज्ञापन, प्ररुपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन किया गया है।¹⁴

समवायांग में आगे कहा गया है- अनुत्तरोपपातिकदशा में परम मंगलकारी, जगतहितकारी तीर्थकरों के समवसरण और बहुत प्रकार के जिन-अतिशयों का वर्णन

है तथा जो श्रमणजनों में प्रवर गन्धहस्ती के समान श्रेष्ठ हैं, स्थिर यशवाले हैं, परिषह-सेना रूपी शत्रु-बल का मर्दन करने वाले हैं, तप से दीप्त हैं, जो चरित्र, ज्ञान, सम्यक्त्वरूप सार वाले, अनेक प्रकार के विशाल प्रशस्त गुणों से संयुक्त हैं, ऐसे अनगार महर्षियों के अनगार-गुणों का वर्णन है, जो श्रेष्ठ तपविशेष से और विशिष्ट ज्ञान-योग से युक्त हैं, जिन्होंने जगत हितकारी भगवान तीर्थंकरों जैसी परम आश्चर्यकारिणी ऋद्धियों की विशेषताओं को और देव, असुर, मनुष्यों की सभाओं के प्रादुर्भाव को देखा है, वे महापुरुष जिनवरों के समीप जाकर उनकी जिस प्रकार से उपासना करते हैं तथा अमर, नर, सुरगणों के लोकगुरु वे जिनवर जिस प्रकार से उनको धर्म का उपदेश देते हैं वे क्षीणकर्मा महापुरुष उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म को सुनकर अपने समस्त काम-भागों से और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर जिस प्रकार से बहुत वर्षों तक उनका आचरण करके, ज्ञान, दर्शन, चरित्र योग की आराधना कर जिन-वचन के अनुकूल पूनीत धर्म का दूसरे भव्य जीवों को उपदेश देकर और अपने शिष्यों को अध्ययन करवाकर तथा जिनवरों की हृदय से आराधना कर वे उत्तम मुनिवर बेला, तेला आदि अनशन के द्वारा कर्मों का छेदन कर, समाधि को प्राप्त कर और उत्तम ध्यान योग से युक्त होते हुए जिस प्रकार से अनुत्तरविमानों में उत्पन्न होते हैं और वहाँ जैसे अनुपम विषय सौख्य को भोगते हैं उस सब का वर्णन किया गया है।¹⁵

षट्खण्डागम की धवला टीका में अनुत्तरोपपातिकदशा का परिचय देते हुए बताया गया है कि यह अंग बानवे लाख चौवालीस हजार पदों द्वारा एक-एक तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहकर और प्रतिहायं अर्थात् अतिशय-विशेषों को प्राप्त करके पाँच अनुत्तर विमानों में गये हुये दस-दस अनुत्तरोपपातिकों का वर्णन करता है।¹⁶ कषायपाहुड की जयधवला टीका में भी पदों की संख्या इतनी ही कही गयी है।¹⁷ इसी विषय में नंदीसूत्र में कहा गया है:- “संखेज्जाई पय सहस्साइं पयगणे” अर्थात् इस सूत्र में संख्येय हजार पद हैं। नंदीसूत्र के विवरणकार मलयगिरि ने लिखा है कि “पद सहस्राणि पदसहस्राष्टाधिक-षट-चत्वारिंशत् लक्षप्रमाणानि वेदितव्यानि” अर्थात् छयालीख लाख आठ हजार पद हैं। समवायांग

में वर्णित “संखेज्जाइ पयसयसहसाइ पयग्गेण” का भी अर्थ व्याख्याकार अभयदेवसूरि ने संख्येय लाख अर्थात् छयालीस लाख और आठ हजार पद किया है। इसके अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए नंदीसूत्र के टीकाकार कहते हैं कि- “पद परिमाणं च पूर्वस्मात् अंगात् उत्तरस्मिन् उत्तरस्मिन् अंगे द्विगुणमवसेयम्।” अर्थात् प्रथम अंग की पद संख्या प्रत्येक अगले अंग में दोगुणा हो जाती है यानि आचारांग में अठारह हजार पद हैं तो सूत्रकृतांग में छत्तीस हजार, स्थानांग में बहतर हजार, समवायांग में एक लाख चौवालीस हजार, भगवती में दो लाख अद्वयसी हजार, ज्ञाताधर्मकथा में पाँच लाख छिहतर हजार पद तथा कथा-उपकथा सब मिलाकर साढ़े तीन करोड़, उपासकदशा में ग्यारह लाख बावन हजार पद, अन्तकृत्दशा में तेईस लाख चार हजार तथा अनुत्तरोपपातिक में छियालीस लाख आठ हजार पद हैं। परन्तु समवायांग में वर्णन क्रम में भगवतीसूत्र के पदों की संख्या चौरासी हजार ही उल्लिखित है। ऐसा लगता है कि ये वर्णन परम्परागत मान्यता पर आधारित हैं। वर्तमान में इन अंगों में इतने अक्षर भी नहीं हैं।

प्रस्तुत आगम का रचनाकाल पण्डित दलसुख मालवणिया आदि विद्वानों ने विक्रम पूर्व की द्वितीय शताब्दी माना है, यद्यपि इसका वर्तमान स्वरूप वीर निर्वाण के 980 वर्ष पश्चात् वल्लभी में संपन्न तृतीय वाचना में ही निर्धारित हो पाया।

वर्तमान में उपलब्ध इस अंग का स्वरूप स्थानांग, समवायांग आदि ग्रंथों में उल्लिखित इसके स्वरूप से भिन्न है। वर्तमान में यह ग्रंथ तीन वर्गों में विभक्त है। इनमें क्रमशः दस, तेरह और दस अध्ययन हैं। इन तैतीस अध्ययनों में से प्रत्येक में एक-एक ऐसे महान आत्माओं के तप आदि का वर्णन किया गया है जो वर्तमान शरीर को छोड़कर पांच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए।

इसके प्रथम वर्ग में दस अध्ययन हैं, जिनके नाम हैं :- जालि, मयालि, उपजालि, पुरुषसेन, वारिषेण, दीर्घदन्त, लष्टदन्त, वेहल्ल, वेहायस और अभया। इनमें जालिकुमार का वर्णन कुछ विस्तार से है। शेष का “जाव” कहकर जालिकुमार के समान इंगित कर दिया गया है।

द्वितीय वर्ग में तेरह अध्ययन हैं :- दीर्घसेन, महासेन, लष्टदन्त, गूढदन्त, शूद्धदन्त, हल्ल, द्रम, द्रमसेन, महाद्रमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन और पुण्यसेन।

इन तेरह राजकुमारों के नाम देकर जालिकुमार के वर्णन के समान होने का संकेत कर दिया गया है।

तृतीय वर्ग में दस अध्ययन हैं :- धन्यकुमार, सुनक्षत्र, ऋषिदास, पल्लक, रामपुत्र, चन्द्रिक, पृष्टिमातृक, पेदालपुत्र, पोष्टिल्ल तथा वेहल्ल। इनमें धन्य कुमार का वर्णन विस्तार से तथा शेष का संक्षेप में संकेत रूप ही है। इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि ये सभी तैंतीस महान आत्माएँ इस मानव का जन्म आयुष्य पूर्ण करके कौन से अनुत्तर विमान में जन्म ग्रहण करेंगे तथा फिर कहां पर मनुष्य जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।

प्रस्तुत अंग के प्रथम वर्ग का सातवाँ अध्ययन लष्टदन्त राजकुमार है और द्वितीय वर्ग का तीसरा अध्ययन भी लष्टदन्त कुमार ही है। दोनों की माता धारिणी और पिता श्रेणिक सम्राट हैं। संभव है कि लष्टदन्त नामक दो राजकुमार रहे हों या श्रेणिक की बहुत सी रानियों में धारिणी नाम की दो पत्नियाँ हों तथा दोनों के पुत्र का नाम लष्टदन्त रहा हो, यह भी संभव है। तीसरा मत भाषा संबंधी है। प्राकृत के एक शब्द के संस्कृत में कई उच्चारण होते हैं जैसे प्राकृत "कय" का संस्कृत में कज, कच या कृत तथा कइ का कपि, कवि आदि। हो सकता है कि एक का नाम लष्टदन्त तथा दूसरे का नाम लष्टदन्त रहा हो तथा प्राकृत में र और ल में अभेद के कारण दोनों लष्टदन्त ही हो गया हो।¹⁸

प्रस्तुत अंग में इन सभी भव्य जीवों के माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक तथा परलोक की सिद्धि, भोग, त्याग, प्रव्रज्या एवं उसकी पर्याय, श्रुत का अभ्यास, तप, उपधान, प्रतिमा (विशेष प्रकार का तप), उत्सर्ग, संलेखना, अन्तिम समय का पादोपगमन (संधारा) आदि भक्त-प्रत्याख्यान, अनुत्तरविमान में जन्म, वहां से फिर श्रेष्ठ कुल में जन्म, बोधि-प्राप्ति तथा अन्त-क्रिया आदि का वर्णन किया गया है। इनमें से 23 राजकुमार श्रेणिक सम्राट के तथा 10 भद्रासार्थवाही के पुत्र थे।

प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन में जालिकुमार की कथा है। कथा की पूर्वपीठिका के रूप में आर्य सुधर्मा का राजगृह नगरी में आगमन, धर्मदेशना सुनने के लिए

नगरवासियों का उनके पास आना फिर आर्य सुधर्मा के शिष्य आर्य जम्बू द्वारा अनुत्तरोपपातिक की विषय-वस्तु की जिज्ञासा करना वर्णित है। आर्य सुधर्मा भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों में से पाँचवे गणधर थे। जैन साहित्य के अनुसार ग्यारह गणधरों के नौ गण हुए, परन्तु इनमें से दस गणधर पहले ही मोक्ष को प्राप्त हुए। अन्तिम समय में इन सबने अपने-अपने गण आर्य सुधर्मा को ही समर्पित किये जो सबसे अंत में मोक्ष गये इसलिए भगवान महावीर के तीर्थ में आर्य सुधर्मा के ही 9 गण वर्तमान में विद्यमान माने जाते हैं। वर्तमान में जितने भी आगम उपलब्ध हैं, उन सबके व्याख्याकार आर्य सुधर्मा ही हैं। इन वाचनाओं का निमित्त उनका शिष्य आर्य जम्बू है। इसका प्रथम सूत्र इसी बात को द्योतित करता है। आर्य जम्बू प्रश्न करते हैं कि भगवान महावीर ने आठवें अंग अंतकृतदशा के बाद नौवें अंग अनुत्तरोपपातिक दशा का क्या अर्थ प्रज्ञप्त किया है। यहाँ अन्तकृतदशा तथा अनुत्तरोपपातिकदशा दोनों की विषयवस्तु समान ही है। दोनों में महापुरुषों के जीवन, उनके भोगविलास, तप-त्याग आदि का वर्णन समान रूप से किया गया है। अन्तर सिर्फ इतना है कि अन्तकृतदशा में उन नब्बे महापुरुषों का वर्णन है जिन्होंने तप साधना के द्वारा मोक्ष पद को प्राप्त किया जबकि अनुत्तरोपपातिकदशा उन तैंतीस महापुरुषों का वर्णन करता है, जिन्होंने अपनी तपस्या आदि के बल पर अनुत्तरविमानों में जन्म ग्रहण किया। मोक्ष प्राप्ति के लिए उन्हें एक जन्म और धारण करना आवश्यक है।

भगवान महावीर के समकालीन मगध सम्राट श्रेणिक थे। उनकी राजधानी राजगृह थी। श्रेणिक की कई पत्नियों में एक का नाम धारिणी था। जालिकुमार इन्हीं धारिणी देवी और श्रेणिक का पुत्र था। जालिकुमार का युवावस्था में आठ कन्याओं के साथ विवाह हुआ। इसमें उसे प्रचुर मात्रा में दहेज प्राप्त हुआ। इसके बाद जालिकुमार मनुष्योचित श्रेष्ठभोगों को भोगता हुआ रहने लगा। इसी बीच भगवान महावीर विहार करते हुए राजगृह पधारे। राजा श्रेणिक भगवान के दर्शनार्थ गया। जालिकुमार भी भगवान के दर्शनार्थ गया। वहीं उपदेश से प्रभावित होकर उसने माता-पिता की आज्ञा लेकर प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। वहाँ उसने स्थविरों की सेवा करते हुए ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। यहाँ जालिकुमार की तुलना मेघकुमार से की गयी है।

मेघकुमार की कथा छोटे अंग ज्ञाताधर्मकथा में विस्तार से उल्लिखित है। वह भी अनुत्तरविमान में ही उत्पन्न हुआ फिर भी मेघकुमार का वर्णन प्रस्तुत अंग में न करके छोटे अंग में किया गया है। इसका कारण यह है कि ज्ञाताधर्मकथा में धर्मयुक्त पुरुषों की शिक्षाप्रद जीवन घटनाओं का वर्णन है। स्वयं मेघकुमार के जीवन की कितनी ही ऐसी घटनाएँ वर्णित हैं, जिनको पढ़ने से प्रत्येक व्यक्ति को लाभ हो सकता है। अनुत्तरोपपातिकदशा में केवल सम्यक्चारित्र पालन करने का फल बतलाया गया है इसलिए मेघकुमार की कथा धर्मकथा के अन्तर्गत है और जालिकुमार की कथा चरण-करण के अन्तर्गत। मेघकुमार भी श्रेणिक और धारिणी देवी का ही पुत्र था।

प्रब्रज्या ग्रहण के पश्चात् जालिकुमार ने गुणरत्नसंवलसर नामक तप किया। इस प्रकार सोलह वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन कर विपुलगिरि पर्वत पर स्थविरों के साथ जाकर आयुष्य के अन्त में मरण प्राप्त करके उर्ध्वगमन करता हुआ विजय नामक अनुत्तरविमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ। जालि अनगार को दिवंगत हुआ जानकर स्थविरों ने उनके परिनिर्वाण निमित्तिक कायोत्सर्ग किया। तत्पश्चात् उनका पात्र एवं चीवर लेकर विपुलगिरि से उतरकर श्रमण भगवान महावीर को सारी घटना सुनाकर उन्हें वे पात्र और चीवर सौंप दिये। गौतम गणधर द्वारा पूछे जाने पर भगवान ने स्पष्ट किया कि विजय नामक अनुत्तरविमान में देवरूप में उत्पन्न जालिकुमार की कालस्थिति वहां बत्तीस सागरोपम की है। वहां से वह अपना समय पूरा कर महाविदेहक्षेत्र से सिद्धि प्राप्त करेगा।

प्रथम वर्ग के द्वितीय अध्ययन से लेकर दसवें अध्ययन तक का केवल निर्देश किया गया है। इन नौ राजकुमारों में से छः धारिणी रानी के ही पुत्र हैं। दो वेहल्ल और वेहायस चेलना के पुत्र हैं तथा अभयकुमार नन्दा का पुत्र है। सबके पिता श्रेणिक हैं। जालिकुमार की तरह ही मयालि, उपजालि, पुरुषसेन और वारिसेन का श्रमण-पर्याय सोलह-सोलह वर्षों का है। दीर्घदन्त, लष्टदन्त और वेहल्ल का श्रमण पर्याय बारह-बारह वर्षों का है तथा अंतिम दो वेहायस और अभयकुमार का श्रमण पर्याय पांच वर्षों का है। इनमें से जालि और अभयकुमार विजय में, मयालि और वेहायस वैजयन्त में, उपजालि और वेहल्ल जयन्त में, पुरुषसेन और लष्टदन्त

अपराजित में तथा वारिषेण और दीर्घदन्त अनगार सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए।

प्रस्तुत वर्ग में अभयकुमार का केवल नाम- निर्देश करके छोड़ दिया गया है परन्तु अभयकुमार के विषय में छठे अंग ज्ञाताधर्मकथा के प्रथम अध्ययन और अन्य ग्रंथों में विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

अभयकुमार प्रबल प्रतिभा का धनी था। जैन और बौद्ध दोनों परम्परा उसे अपना अनुयायी मानती है। जैन आगम साहित्य के अनुसार वह भगवान महावीर के पास आर्हती दीक्षा स्वीकार करता है और त्रिपिटिक साहित्य के अनुसार बुद्ध के पास दीक्षित होता है। जैन साहित्य के अनुसार अभयकुमार श्रेणिक नन्दा रानी की पुत्र था।¹⁹

ज्ञाताधर्मकथा में वर्णित है कि अभयकुमार साम, दाम, दण्ड, भेद, उपप्रदान और व्यापार नीति में निष्णात थे। ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा और अर्थशास्त्र में कुशल थे। वे चारों प्रकार की बुद्धियों के धनी थे। वे राजा के प्रत्येक कार्य के लिए सच्चे परामर्शक थे। वे राज्यधूरा को धारण करने वाले थे। वे राज्य (शासन) राष्ट्र (देश) कोष, कोठार (अभयभण्डार), सेना, वाहन, नगर और अन्तःपुर की अच्छी तरह देखभाल करते थे।²⁰

अभयकुमार श्रेणिक राजा के मनोनीत मंत्री थे।²¹ वे जटिल से जटिल समस्याओं को अपनी कुशाग्र बुद्धि से सुलझा देते थे। उन्होंने मेघकुमार की माता धारिणी²² और कुणिक की माता चेलना²³ का दोहद अपनी कुशाग्रबुद्धि से सम्पन्न किया। उन्होंने अपने पिता श्रेणिक का विवाह चेलना से संपन्न कराया था। उनके बुद्धि के चमत्कार की अनेक घटनाएँ जैन साहित्य में उल्लिखित हैं। उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत द्वारा श्रेणिक के लिए उत्पन्न विकट राजनैतिक संकट को अभय ने दूर किया था।²⁴ धर्मरत्नप्रकरण के अभयकुमार नामक अध्ययन में यह कथा वर्णित है कि द्रुमक लकड़हारे द्वारा प्रत्रज्या ग्रहण करने पर लोगों ने उसका मजाक उड़ाया। जब अभयकुमार को यह बात मालूम हुई तब उसने सार्वजनिक स्थान पर एक-एक करोड़ स्वर्णमुद्राओं के तीन ढेर लगवाकर यह घोषणा करवायी कि जो आजीवन स्त्री, अग्नि और सचित्त जल का त्याग करे वह इन मुद्राओं को ले सकता है। कोई

आगे नहीं आया तब उन्होंने द्रुमकमुनि के उपहास के लिए उन आलोचकों की भर्त्सना की तब वे लोग द्रुमक मुनि के महान तप से प्रभावित हुए।²⁵ अभयकुमार ने आर्द्रककुमार को धर्मोपकरण उपहार में दिये। जिससे प्रभावित होकर वह श्रमण बना।²⁶ अभयकुमार के संपर्क से ही राजगृह का कसाई कालशौकरिक का पुत्र सुलसकुमार भगवान का परम भक्त बना था।²⁷ भगवान महावीर के मुख से अंतिम मोक्षगामी राजा के रूप में उदयन का नाम सुनकर अभयकुमार चिंतित हो गया कि यदि मैं राजा बन गया तो मोक्ष नहीं जा सकूँगा इसलिए कुमारावस्था में ही दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति पिता से मांगी। पिता ने कहा कि जिस दिन मैं क्रुद्ध होकर तुम्हें मुँह न दिखाने को कहूँ उस दिन तू दीक्षा ग्रहण कर लेना। एक दिन रानी चेलना के चरित्र पर संदेह कर राजा ने अभयकुमार को महल जला देने का आदेश दिया। अभयकुमार ने रानी और बहुमूल्य वस्तुओं को महल से निकालकर रानी चेलना के महल में आग लगा दी। बाद में राजा श्रेणिक को पता चला कि चेलना पूर्ण पतिव्रता है तो पश्चाताप करता हुआ महल में लौटा, रास्ते में अभय कुमार मिला, पूछने पर उसने महल में आग लगाने की बात कह दी। इस पर क्रोधित होकर राजा ने उसे मुँह न दिखाने को कहा। इसी बात की प्रतीक्षा में रहने वाले अभयकुमार ने उसी दिन दीक्षा ग्रहण कर ली।

बौद्ध साहित्य में भी अभय राजकुमार का वर्णन प्राप्त होता है। बौद्ध साहित्य में अभय का पिता श्रेणिक तथा माता उज्जयिनी की गणिका पद्मावती है। अभय राजकुमार ने अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा से सीमा विवाद को सुलझाया था जिससे प्रसन्न होकर बिम्बिसार ने एक सुन्दर नर्तकी उसे उपहार में प्रदान की। मज्झिमनिकाय के अभयकुमार सूत्र में निगण्ठ ज्ञातपुत्र (महावीर) के कहने पर उसका बुद्ध से शास्त्रार्थ होने का उल्लेख है।²⁸ वह बुद्ध से पूरण-कारयप के मत से संबंधित एक प्रश्न करता है।²⁹ धम्मपद अट्टकथा के अनुसार जब अभयकुमार नर्तकी की मृत्यु से दुःखित होकर बुद्ध के पास गया और बुद्ध ने धर्मोपदेश दिया, तब उसे श्रोतापत्तिफल प्राप्त हुआ।³⁰ थेरगाथा अट्टकथा के अनुसार उसे श्रोतापत्तिफल तब प्राप्त हुआ जब बुद्ध ने वालच्छिगुलुपम सूत्र का उपदेश दिया।³¹ पिता बिम्बिसार की मृत्यु से दुःखी होकर उसने बुद्ध के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

वस्तुतः इन जैन-बौद्ध साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि अभयकुमार और अभयराजकुमार दो अलग-अलग व्यक्ति रहे होंगे क्योंकि जैन दृष्टि से उसकी माता वणिक् कन्या है, वह श्रेणिक का मंत्री है और भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण करता है, जबकि बौद्ध मतानुसार वह एक गणिका का पुत्र है, सफल रथिक है।¹² निगण्ठ धर्म का त्याग कर बौद्ध धर्म को स्वीकार करता है, यदि अभय एक व्यक्ति होता तो महावीर और बुद्ध दोनों के पास कैसे दीक्षा ले सकता है? यह भी संभव है कि राजा श्रेणिक के अनेक पुत्र रहे हों, उनमें से एक का नाम अभय और दूसरे का अभयकुमार रहा हो।¹³

द्वितीय वर्ग में जिन तेरह राजकुमारों का वर्णन है, वे सब श्रेणिक और धारिणी देवी के पुत्र थे। इन सबकी दीक्षा-पर्याय सोलह-सोलह वर्ष बतलायी गयी है। इनमें से दीर्घसेन और महासेन विजय नामक अनुत्तरविमान में, लष्टदन्त और गूढदन्त वैजयन्त में, शुद्धदन्त और हल्ल जयन्त में, द्रुम और द्रुमसेन अपराजित में और शेष पांच सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न हुए। इन सबने एक-एक मास ऋी संलेखना की। इस वर्ग के सभी तेरह नायकों का वर्णन अति संक्षेप में करके शेष बातें जालिकुमार के समान इंगित कर दी गयी हैं।

तृतीय वर्ग में दस अध्ययन हैं। इनमें प्रथम धन्य नामक अध्ययन का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। दूसरे सुनक्षत्र आदि अध्ययनों को संक्षेप में निरूपित कर पहले धन्य अध्ययन, जालिकुमार या ज्ञाताधर्मकथा के पाँचवे अध्ययन में वर्णित थावच्चापुत्र की तरह इंगित कर दिया गया है।

तीसरे से दसवें अध्याय तक को एक साथ ही रखा गया है तथा इसमें भी केवल नाम निर्देश कर निक्षेप पद दे दिया गया है। शेष वर्णन के लिए सुनक्षत्र, स्कंदकमुनि, थावच्चापुत्र तथा धन्य अनगार का प्रसंग उदाहरण स्वरूप लिखा गया है। तीसरे वर्ग में जो विशेष बातें हैं वह यह कि धन्यकुमार और सुनक्षत्र काकन्दी में, ऋषिदास और पल्लक राजगृह में, राजपुत्र और चन्द्रिक साकेत नगरी में, पृष्टिमातृक और पेढालपुत्र वाणिज्यग्राम में, पोष्टिल्ल हस्तिनापुर में तथा वेहल्ल राजगृह में उत्पन्न हुए। इन दसों की माता भद्रा सार्थवाही थी। इसमें से प्रथम नो का दीक्षा-पर्याय

नौ माह तथा दसवें का छः माह था। सभी ने गुणरत्नसंवर नामक तप करके एक मास की संलेखना धारण कर विपुलगिरि पर्वत से मृत्यु को प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध नामक अनुत्तर विमान में जन्म ग्रहण किया तथा वहां से अपनी आयु पूरी कर महाविदेह क्षेत्र से मोक्ष को प्राप्त करेंगे, ऐसा उल्लेख है।

तृतीय वर्ग के प्रथम अध्ययन में धन्यकुमार की कठोरतकठोर तपस्या का विस्तृत और रोमांचकारी वर्णन किया गया है। धन्यकुमार काकन्दी नगरी की भद्रा सार्थवाही का पुत्र था। भद्रा काकन्दी के व्यापारियों की मुखिया है। उसके पास भवन, शय्यासन, यान-वाहन सोना-चांदी आदि धन विपुल मात्रा में थे। वह धनी और तेजस्वी स्त्री थी। वह व्यापार के लेन-देन के कार्य में अतिकुराल थी। उसने अपने पुत्र धन्यकुमार का पालन-पोषण बड़े ऊंचे स्तर से किया था। धन्य कुमार के माता-पिता ने शुभ तिथि, करण और मुहूर्त में अध्ययन के लिए उसे कालाचार्य के पास भेजा। कालाचार्य ने धन्यकुमार को गणित, शकुनिरूत (पक्षियों के शब्द) आदि बहतर कलाएँ सिखलायी। धन्यकुमार अठारह प्रकार की देशी भाषाओं में कुराल हो गया। वह अश्वयुद्ध, गजयुद्ध, रथयुद्ध और बाहुयुद्ध में प्रवीण हो गया। युवावस्था को प्राप्त होने पर माता भद्रा ने उसके लिए बत्तीस भव्य प्रासाद बनवाकर उसका विवाह बत्तीस सुन्दर कन्याओं के साथ कर दिया।

कुछ दिन पश्चात् भगवान महावीर काकन्दी नगरी में पधारे। वहां उनका धर्मोपदेश सुनकर धन्यकुमार के मन में वैराग्य भावना जागृत हो गयी और तदनुसार उसने अपने विपुल धन, धान्य, पत्नी, राज्य आदि सबको छोड़कर मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। वह ईर्यासमिति, भाषा समिति से युक्त यावत गुप्त ब्रह्मचारी बन गया। प्रव्रजित होने पर उन्होंने जीवन-पर्यन्त बेला तप के साथ आर्यबिल पारणे से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण किया। मुनि काल में धन्य ने जो त्याग और तपस्या की, वह अद्भूत है। तपोमय जीवन का इतना सुन्दर एवं सर्वांगीण वर्णन श्रमण साहित्य में तो क्या पूरे भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। महाकवि कालिदास ने अपने ग्रंथ “कुमारसम्भव” महाकाव्य में पार्वती की तपस्या का जो वर्णन किया है, वह महत्वपूर्ण अवश्य है, फिर भी धन्य मुनि की तपस्या का वर्णन उससे भी विशिष्ट

है।³⁴ इसमें धन्य मुनि की तपस्या से उनकी जो शारीरिक दशा का वर्णन किया गया है, वह मन को रोमांचित कर देता है। तप करने से उनके दोनों पैर इस प्रकार सूख गये थे, जैसे सूखी हुई वृक्ष की छाल, लकड़ी की खड़ाऊं अथवा पुरानी सूखी हुई जूती हो। उनके पैरों में मांस और रक्त के नाम पर कुछ भी नहीं था केवल हड्डी, चमड़ा और नसें ही दिखायी देती थी। पैरों की अंगुलियां कलाय, कूंग या उड़द की उन फलियों के समान हो गयी थी जो कोमल-कोमल तोड़कर धूप में डाल दी गयी हो। तीव्रतर तप के प्रभाव से धन्य मुनि की जंघा रक्त-मांस के अभाव में काकजंघा नामक वनस्पति जो स्वभावतः शुष्क होती है- की नाल जैसी हो गयी। उसकी तुलना कंक और ढंक नामक पक्षियों की जंघाओं से की गयी है। इसी प्रकार धन्य मुनि की ऊरू, कटि, उदर, पांसुलिका, पृष्ठ-प्रदेश और वक्षःस्थल, भुजा, हाथों की अंगुलियां, ग्रीवा, चिबुक, ओंठ, जिह्वा आदि सभी अंग-प्रत्यंगों का उपमाओं द्वारा वर्णन किया गया है। इस प्रकार धन्य अनगार कर्मनिर्जरा के अनन्य कारण तपश्चरण में इस प्रकार तन्मय हो गये कि वे अपने शरीर से भी निरपेक्ष हो गये। उनको शरीर का मोह लेशमात्र भी नहीं रह गया। सदेह होकर भी वे विदेह दशा को प्राप्त हो गये। उनकी कठोर और निर्लिप्त तपस्या की प्रशंसा भगवान महावीर ने स्वयं अपने मुख से श्रेणिक से की।³⁵ तपश्चात किसी रात्रि के मध्य भाग में धर्म जागरिका करते हुए उनके मन में शुष्क शरीरी होने की भावना जगी। वे स्थविरों के साथ विपुलगिरि पर आरूढ़ होकर एक मास की संलेखना के द्वारा काल करके सर्वार्थसिद्ध विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए।

तृतीय वर्ग के अन्य अध्ययन भी धन्यमुनि के समान ही संकेत कर दिये गये हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में वर्णित धन्यमुनि की तपस्या की तुलना बौद्ध साहित्य में वर्णित भगवान बुद्ध की तपस्या से की जा सकती है। बौद्ध परम्परा में मज्झिमनिकाय के बारहवें महासीहनाद सूत्र में भगवान बुद्ध की कठोर तपस्या का वर्णन किया गया है। धन्यकुमार ने कठोर देहदमन नौ मास तक किया था। उन्होंने दो-दो उपवास के बाद पारणे में आर्यबिल करना (जिस में घी, दूध, तेल आदि रसप्रद चीजों का तथा अन्य

मिर्च-मसालों का प्रयोग न हो, साथ ही छाछ और नमक भी न हो, ऐसा आहार जिसमें उबले हुए चावल आदि हों- लेने का नियम आर्यबिल कहलाता है) उन्होंने ऐसा नियम किया था कि आर्यबिल में भी जो संसृष्ट हाथ से दिया जाए, जो फेंकने लायक हो, जिसे अन्य श्रमण-ब्राह्मण लेना पसन्द न करे, वही भिक्षा लूँगा। बुद्ध के तप का वर्णन इस प्रकार है- प्रारम्भ में बुद्ध अचेलक रहे, मुक्ताचारी रहे, “आईए” कहने पर वहां भिक्षार्थ नहीं जाते थे, “ठहरिये” कहने पर वहां भिक्षा ग्रहण नहीं करते, सामने लायी हुई भिक्षा नहीं लेते, औद्देशिक भिक्षा नहीं लेते, निमन्त्रण स्वीकार नहीं करते, कुंभी मुख से तथा कलोपी के मुख से भिक्षा नहीं लेते थे। एक ही दत्ति से निर्वाह करते थे। एक-एक उपवास करते, पन्द्रह-पन्द्रह उपवास करते, केवल शाकभक्षी रहे, आचाम (मांड-ओसामण) भक्षी रहे, खल-भक्षी, तृण-भक्षी, गोबर भक्षी रहे, चमड़े को साफ करने वाले चमारों के द्वारा फेंक दिये गये हों, ऐसे चमड़े के टुकड़ों को भी चबाते रहे, दाढ़ी-मूँछ और सिर के केशों का लोच करते रहे, बहुत समय तक खड़े ही रहते, कांटों में सोते रहते, मल-धारण करते रहे। यहाँ तक कि उन्हें जल के बिन्दु पर भी दया आने लगी कि जल में रहे हुए छोटे-छोटे जीवों को मेरे कारण दुःख नहीं हो। छोटे बछड़ों का मूत्र पीते, अपने मूत्र तथा करीष को खाते-पीते रहे, श्मशान में रहते और सोते। मुर्दों की हड्डियों का उपधान (तकिया) लगाते। कुत्तों को अपने ऊपर पेशाब मूतने देते। उनके मन में यह भावना आयी कि अन्य लोग मेरे ऊपर धूल डालते रहें, कानों में शलाका डालते रहें, ऐसी-ऐसी दुःख वेदना आने पर भी उनके चित्त में पाप-वृत्ति नहीं आयी। कभी-कभी एक ही बेर खाते रहे। बुद्ध स्वयं ही कहते हैं कि हे सारि-पुत्र! ऐसा नहीं समझना कि उस समय का बेर बड़ा होता था। उस समय भी बेर इतना ही छोटा होता था। इस प्रकार के शयन, भोजन करने से मैं एकदम विवर्ण (काला) हो गया। मेरी पांसुली पुराने छप्पर की बल्ली की तरह अलग-विलग हो गयी। जैसे दिन में कुँएँ में ताराओं का प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है, उसी तरह मेरी आंखें उंडी हो गयी। जैसे कडुआ कद्दू ताप और पवन के प्रभाव से म्लान हो जाता है, उसी प्रकार मेरा सिर भी हो गया। जब मैं पेट का स्पर्श करता तो मेरे हाथ पीठ आती है, ऐसी कठोर तपस्या की जिससे मल-मूत्र विसर्जन के

बाह्य तप छः प्रकार के हैं :-

- (क) इच्छापूर्वक अनशन।
- (ख) उनोदरिका (कम खाना)।
- (ग) वृत्ति संक्षेप (खाने-पीने, सुनने-सूँघने, देखने-स्पर्शने, गमनागमन आदि की वृत्तियों को कम करना)।
- (घ) रस-परित्याग (इच्छा पूर्वक रसों का त्याग)।
- (ङ) काय-क्लेश (सहनशील बनने के लिए शरीर के कष्टों का सहन) एवं
- (च) संलीनता (विषयवृत्ति उत्तेजित न हो, इसके लिए अंगो की विविध चेष्टाओं को रोकना)।

आभ्यन्तर तप भी छः हैं :-

- (क) प्रायश्चित्त :- किये हुए दोष से होने वाले पाप-संस्कार के निवारण के लिए गुरु के सम्मुख उक्त दोष को प्रकट करके आलोचना करना और गुरु द्वारा दी हुई आलोचना के अनुसार शारीरिक तथा मानसिक अनुष्ठान करना।
- (ख) विनय :- माननीय गुणवंत जनों (स्त्री या पुरुष) के प्रति वचन और कर्म (शरीर) से नम्र होकर श्रद्धाभाव से व्यवहार करना।
- (ग) वैयावृत्य :- गुरुजन, वृद्ध, रोगी आदि की सेवा भक्ति।
- (घ) स्वाध्याय :- सत् शास्त्रों की वाचना लेना, उस संबंध में प्रश्न करना, ऐसे शास्त्र-वचनों का बार-बार मनन और चिन्तन करना और जीवन में संयम-शुद्धि को स्थिर रखनेवाली कथाओं द्वारा सत्-शास्त्रों का अभ्यास करना।
- (ङ) ध्यान :- दुष्ट विचारों को रोकना और सत् विचारों की वृद्धि करना तथा शुद्ध संकल्पों की वृद्धि के लिए मानसिक व्यापार करना।

बाह्य तप छः प्रकार के हैं :-

- (क) इच्छापूर्वक अनशन।
- (ख) उनोदरिका (कम खाना)।
- (ग) वृत्ति संक्षेप (खाने-पीने, सुनने-सूँघने, देखने-स्पर्शने, गमनागमन आदि की वृत्तियों को कम करना)।
- (घ) रस-परित्याग (इच्छा पूर्वक रसों का त्याग)।
- (ङ) काय-क्लेश (सहनशील बनने के लिए शरीर के कष्टों का सहन) एवं
- (च) संलीनता (विषयवृत्ति उत्तेजित न हो, इसके लिए अंगों की विविध चेष्टाओं को रोकना)।

आभ्यन्तर तप भी छः हैं :-

- (क) प्रायश्चित्त :- किये हुए दोष से होने वाले पाप-संस्कार के निवारण के लिए गुरु के सम्मुख उक्त दोष को प्रकट करके आलोचना करना और गुरु द्वारा दी हुई आलोचना के अनुसार शारीरिक तथा मानसिक अनुष्ठान करना।
- (ख) विनय :- माननीय गुणवंत जनों (स्त्री या पुरुष) के प्रति वचन और कर्म (शरीर) से नम्र होकर श्रद्धाभाव से व्यवहार करना।
- (ग) वैयावृत्य :- गुरुजन, वृद्ध, रोगी आदि की सेवा भक्ति।
- (घ) स्वाध्याय :- सत् शास्त्रों की वाचना लेना, उस संबंध में प्रश्न करना, ऐसे शास्त्र-वचनों का बार-बार मनन और चिन्तन करना और जीवन में संयम-शुद्धि को स्थिर रखनेवाली कथाओं द्वारा सत्-शास्त्रों का अभ्यास करना।
- (ङ) ध्यान :- दुष्ट विचारों को रोकना और सत् विचारों की वृद्धि करना तथा शुद्ध संकल्पों की वृद्धि के लिए मानसिक व्यापार करना।

(च) कायोत्सर्ग :- आत्मा में जो बुरे संकल्प लगे हुए हैं, उनको निकालने के लिए और चित्त की शुद्धि के लिए शरीर को क्लेश देने की आवश्यकता अनुभव करके शरीर की ममता को दूर कर शरीर को क्लेश देना और क्लेश को शांति एवं ऐच्छिक वृत्ति से सहन करना।

तप की आवश्यकता इसलिए है कि जब शरीर तथा इन्द्रियाँ उन्मादी बनकर आत्मा को उन्मार्ग की ओर खींचती हैं तब उन्हें दण्ड देना आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में ऐसा ही तप आत्म-शोधन एवं कर्म-क्षयकर बन सकता है।

प्रस्तुत आगम में अनशन तप का उत्कृष्ट क्रियात्मक चित्रण हुआ है। अनशन तप वही साधक कर सकता है जिसकी शरीर पर आसक्ति कम हो। अनशन में अशन का त्याग तो किया ही जाता है, साथ ही इच्छाओं, कषायों और विषय-वासनाओं का त्याग भी किया जाता है। प्रारम्भ में साधक कुछ समय के लिए आहार आदि का परित्याग करता है जो इत्वरिक तप कहलाता है। जीवन के अन्तिम काल में वह जीवन-पर्यन्त के लिए आहार आदि का परित्याग कर देता है। जो यावत्कालिक तप कहलाता है। धन्य अनगार एवं अन्य दूसरे 32 अनगारों ने इन दोनों ही प्रकार के तपों की आराधना की थी।

संलेखना जैन-साधना विधि की एक प्रक्रिया है जिस साधक ने अध्यात्म की गहन साधना की है, वही संलेखना और समाधि के द्वारा मरण को वरण कर सकता है। मरण के समय जो आहार आदि का त्याग किया जाता है, उसमें मृत्यु की चाह नहीं होती अपितु वह क्रिया साधक के संयम के लिए होती है। जो शरीर साधना में सहायक न रहकर बाधक बन गया हो, जिसको वहन करने से आध्यात्मिक गुणों की शुद्धि और वृद्धि न होती हो, वह त्याज्य बन जाता है। उस समय स्वेच्छा से मरण को वरण किया जाता है। संथारा पर आत्महत्या होने का भी आरोप है, किन्तु संथारा और आत्महत्या में अन्तर है। आत्महत्या करने वाले के मन में भय, कामना, वासना, उत्तेजना और कषाय रहा हुआ होता है, किन्तु संथारे में इन सबका अभाव होता है। इसमें आत्मा के निज गुणों को प्रकट करने की तीव्रतर भावना होती है। इसमें मरण

तक की इच्छा नहीं होती। संथारा आत्महत्या नहीं बल्कि साधना का मंगलमय पावन पथ है।³⁷

प्रस्तुत ग्रंथ में सभी 33 साधकों ने जीवन-मरण की आकांक्षा से रहित संलेखना व संथारा व्रत स्वीकार किया और संसार व शरीर में निर्लिप्त रहते हुए इस शरीर को छोड़कर आत्मा को भावित करते हुए काल को प्राप्त कर विभिन्न अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए, ऐसा विवेचन है।

अनुत्तरोपपातिकदशा के अध्ययन से तत्कालीन समाज-व्यवस्था का परिचय भी प्राप्त होता है। यद्यपि इस ग्रंथ के पात्र राजपरिवारों से या आर्थिक दृष्टि से सर्व संपन्न परिवारों से संबद्ध हैं। इस वर्ग में उस समय बहुविवाह प्रथा का प्रचलन था। जैन साहित्य में सम्राट श्रेणिक की छब्बीस रानियों के नाम उल्लिखित हैं।³⁸ तत्कालीन बौद्ध ग्रंथों के अनुसार श्रेणिक की पांच सौ रानियां थीं।³⁹ जालिकुमार का एवं अन्य दूसरे कुमारों का त्रिवाह आठ-आठ कन्याओं के साथ हुआ।⁴⁰ काकन्दी नगरी की सार्थवाही भद्रा ने अपने धन्यकुमार आदि पुत्रों का विवाह बत्तीस-बत्तीस कन्याओं के साथ किया था।⁴¹ इन विवाहों में दहेज के लेन-देन का वर्णन भी प्राप्त होता है। जालिकुमार को दहेज स्वरूप आठ करोड़ हिरण्य, आठ करोड़ सुवर्ण, आठ श्रेष्ठ मुकुट, श्रेष्ठ कुण्डल युगल, उत्तम हार, उत्तम अर्धहार, उत्तम एक सराहार, मुक्तावलीहार, कनकावलीहार, रत्नावलीहार, उत्तम कड़ों की जोड़ी, उत्तम ऋटित (बाजूबंद) की जोड़ी, रेशमी वस्त्र युगल, सुती वस्त्र युगल, टसर वस्त्र युगल, पट्टयुगल, दुकुल युगल, श्री, ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मीदेवी की प्रतिमा, नन्द, भद्र, ताड़वृक्ष (सबरत्नों के), भवनों में केतुस्वरूप उत्तम ध्वज, गोकुल (एक गोकुल=दस हजार गाय) नाटक (बत्तीस मनुष्यों द्वारा किया जाने वाला), उत्तम घोड़े, भाण्डागार सदृश हाथी, भाण्डागार श्रीधर समान सर्वरत्नमय उत्तम यान, उत्तम युग्य (वादन), शिविकायें, स्यन्दमानिकाएँ, गिल्ली (हाथी की अम्बाड़ी), थिल्लि (घोड़े के पलाण-काठी) विकट यान (खुला यान), पारियानिक (क्रीड़ा योग्य) रथ, सांग्रामिक रथ, उत्तम अश्व, उत्तम हाथी, गांव (दस हजार परिवार का), दास, दासियां, किंकर, कंचुकी, वर्षधर, महत्तरक (अन्तःपुर के कार्य का विचार करने वाला), सोने का

लटकने वाला दीपक, चांदी का दीपक, सोने, चांदी और सोने-चांदी का पंजर दीपक, थाल, थाली, मल्लक (कटोरा), तालिका (रकाबियां), कलाचिका (चम्मच), तापिका हस्तक (संडासियां), तवे, पादपीठ, भिषिका, करोटिका (लोटा), पलंग, प्रतिशय्या, हंसासन, क्रौंचासन, गरुडासन, उन्नतासन, अवनतासन, दीर्घासन, भद्रासन, पक्षासन, मकरासन, पदमासन, दिक्स्वास्तिकासन, कुब्जा दासी, पारस देश की दासी, छत्र, छत्रधारिणी, धात्रियाँ, अंकधात्रियाँ, अंगमर्दिका, स्नान कराने वाली दासी, अलंकृतिकादासी, चन्दन घिसने वाली, ताम्बूल चूर्ण पीसनेवाली, काष्ठागार रक्षिका, परिहासिका सभा के पास रहने वाली दासी, नाटक करने वाली, कौटुम्बिक, भण्डार रक्षिका, तरुणियाँ, मालिनें, पानी भरनेवाली, बलि करने वाली, शय्या, बिछाने वाली, आभ्यन्तर प्रतिहारी, बाह्य प्रतिहारी- ये सब आठ-आठ की संख्या में प्राप्त हुए। इसके अलावा प्रचुर मात्रा में हीरा-सोना आदि विपुल धन भी प्राप्त हुआ।⁴² इसी प्रकार धन्य आदि को ये सारी वस्तुएँ बत्तीस की संख्या में दहेज रूप में प्राप्त हुईं।⁴³ इस वर्णन से तत्कालीन धन-संपत्ति, आभूषण, यान-वाहन आदि की विविधता पर प्रकाश पड़ता है, बड़ी संख्या में दास-दासी के उल्लेख से उस समय में प्रचलित दास-प्रथा का प्रचलन भी उजागर होता है।

इस ग्रंथ के अध्ययन से उस समय की स्त्रियों की उन्नत दशा का पता चलता है। उस समय की स्त्रियों के लिए पुरुषों पर आश्रित रहना अनिवार्य नहीं था। स्त्रियाँ स्वतंत्र रूप से व्यापार आदि कार्य करती थी तथा परिवार की पहचान भी उसी के नाम से होती थी। उन्हें व्यापार विषयक पूरा ज्ञान था। भद्रा सार्थवाही व्यापार का कार्य ही नहीं करती है बल्कि व्यापारियों के समूह की मुखिया है। उसमें विशेषता यह है कि वह किसी से पराभूत नहीं होती है।⁴⁴ यह उल्लेख स्त्रियों के सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित अवस्था को दर्शाता है। यहाँ भद्रा सार्थवाही के पति का कोई उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार छठे अंग ज्ञाताधर्मकथा के पाँचवें अध्ययन में थावच्चागाहापत्नी का उल्लेख बिना पति के ही है और उसके पुत्र का परिचय उसी के नाम से थावच्चापुत्र प्राप्त होता है। तत्कालीन नगरों के रूप में काकन्दी, राजगृह, वाणिज्य ग्राम, साकेत, हस्तिनापुर का वर्णन किया गया है। विद्वानों के अनुसार काकन्दी गोरखपुर से दक्षिण-पूर्व

तीस मील पर और नूनखार स्टेशन से दो मील पर कहीं चिन्हित किया जाता है। काकंदी जीतशत्रु राजा की राजधानी थी, यह धन्य कुमार की जन्मभूमि थी तथा यहाँ का सहस्राप्रवन नामक उद्यान उसकी दीक्षाभूमि थी। भगवान महावीर का समवसरण यहाँ भी लगा था। राजगृह प्राचीन मगध साम्राज्य की राजधानी थी। यह पाँच पर्वतों से घिरी हुई है। यह भारत का सुन्दर, समृद्ध और वैभवशाली नगर था। यहाँ भगवान के 14 वर्षावास तथा दो सौ से अधिक समवसरण हुए। यहाँ बुद्ध ने भी वर्षावास किये थे। इसका नाम गिरिवज्र भी था। वर्तमान में यह राजगिरी नाम से जाना जाता है। प्राचीन काल में यह क्षितिप्रतिष्ठित नाम से प्रतिष्ठित था। इसके जल जाने पर सम्राट श्रेणिक के पिता प्रसेनजित ने इसे राजगृह नाम से बसाया था। वाणिज्यग्राम भगवान महावीर की जन्मभूमि के पास का एक नगर था। वर्तमान में यह बनिया ग्राम के नाम से जाना जाता है। उपासकदशासूत्र में उसका वर्णन आया है।⁴⁵ साकेत कोशल की राजधानी थी। इतिहासज्ञों के अनुसार यह वर्तमान अयोध्या के पास ही कहीं होनी चाहिए। हस्तिनापुर भारत के प्रसिद्ध प्राचीन नगरों में एक था। महाभारत काल में यह कुरुदेश का एक सुन्दर एवं मुख्य नगर था। भारत के प्राचीन साहित्य में इसके हस्तिनी, हस्तिनपुर, हस्तिनापुर, गजपुर आदि नाम उपलब्ध होते हैं। वर्तमान में यह मेरठ से 22 मील पूर्वोत्तर और बिजनोर से दक्षिण-पश्चिम के कोण में गंगा नदी के दक्षिण-किनारे पर स्थित है।

तत्कालीन राजाओं में मगध सम्राट श्रेणिक और काकन्दी के राजा जीतशत्रु का नामोल्लेख मिलता था। श्रेणिक का वर्णन जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। श्रेणिक का दूसरा नाम बिम्बिसार भी है। भागवत पुराण के अनुसार वह शिशुनागवंशीय कुल में उत्पन्न हुआ।⁴⁶ महाकवि अश्वघोष ने 'जातस्य हर्यगकुले विशाले'⁴⁷ कहकर उसका कुल हर्यगकुल कहा है। आचार्य हरिभद्र ने उनका कुल याहिक माना है।⁴⁸ रायचौधरी ने हर्यगकुल को नागवंश माना है।⁴⁹ बौद्ध साहित्य में इस कुल का नाम शिशुनागवंश पाया जाता है।⁵⁰ पंडित गेगर और भण्डारकर ने सिलोन के पाली वंशानुक्रम के अनुसार बिम्बिसार और शिशुनागवंश को पृथक बतलाया है।⁵¹ डॉ. काशी प्रसाद ने श्रेणिक के पूर्वजों का

संबंध काशी के राजवंश से बताया है, जैन आगमों में श्रेणिक के भंभसार, भिंभसार, भिंभिसार नाम मिलते हैं।⁵² श्रेणिक का जन्म नाम क्या था, इस विषय में तीनों परम्परायें मौन हैं। नाम के विषय में एक कथा प्रचलित है - श्रेणिक जब बालक था तब राजमहल में आग लगी। सभी राजकुमार बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर भागे किन्तु श्रेणिक ने भंभा (राजचिन्ह) को ही ग्रहण किया इसलिए उसका नाम भंभसार पड़ा।⁵³

बौद्ध परम्परा में श्रेणिक का नाम बिम्बिसार है।⁵⁴ तिब्बती परम्परा उसकी माता का नाम बिम्बि मानती है, इसलिए उसका नाम बिम्बिसार है।⁵⁵ जैन परम्परा के अनुसार सैनिक श्रेणियों की स्थापना करने के कारण उसका नाम श्रेणिक पड़ा।⁵⁶ बौद्धों के अनुसार पिता द्वारा अठारह श्रेणियों की स्थापना करने के कारण वह श्रेणिक बिम्बिसार कहलाया।⁵⁷ महती सेना का स्वामी या श्रेणिय गोत्र होने से भी उसका नाम श्रेणिक माना जाता है।⁵⁸ श्रीमद् भागवत पुराण में श्रेणिक के अजातशत्रु⁵⁹ विधिसार नाम भी आये हैं। दूसरे स्थलों पर विन्ध्यसेन और सुविन्दु नाम के भी उल्लेख हैं।⁶⁰ आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति⁶¹ और त्रिषष्ठिशालाकापुरुषचरित्र⁶² के अनुसार श्रेणिक के पिता प्रसेनजित थे। दिगम्बर आचार्य हरिषेण ने श्रेणिक के पिता का नाम उपश्रेणिक लिखा है।⁶³ आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में श्रेणिक के पिता का नाम कुणिक दिया है।⁶⁴ परन्तु यह अन्य आगम एवं आगमेतर ग्रंथों से पृथक उल्लेख है। कुणिक श्रेणिक का पिता नहीं पुत्र है।⁶⁵ अन्यत्र ग्रंथों में श्रेणिक के पिता का नाम महापद्म, हेमजित, क्षेत्रांजा, क्षैत्रोजा भी मिलता है।⁶⁶ उत्तराध्ययन के अनुसार श्रेणिक ने अनाथी मुनि से नाथ और अनाथ के गुरु गंभीर रहस्य को समझकर जैन-धर्म स्वीकार किया था।⁶⁷ वे क्षायिक सम्यक्त्व धारी थे। बहुश्रुत और प्रज्ञप्ति जैसे आगमों के वेत्ता न होने के बावजूद सिर्फ सम्यक्त्व के कारण उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म का बंध किया था। बौद्ध ग्रंथों में श्रेणिक को बुद्ध का अनुयायी माना गया है। कई विद्वानों की धारणा है कि जीवन के पूर्वार्द्ध में वह जैन था उत्तरार्द्ध में बौद्ध बन गया, इसलिए जैन ग्रंथों में उसके नरक जाने का उल्लेख है परन्तु आगम विद्वान देवेन्द्र मुनि शास्त्री इसे गलत मानते हैं। उनकी दृष्टि में यह हो सकता है कि जब राजा प्रसेनजित ने श्रेणिक को निर्वासित किया था, उस समय उन्होंने प्रथम विश्राम नन्दीग्राम में लिया था। वहाँ के प्रमुख

ब्राह्मणों ने राजकोप के भय से उन्हें भोजन, आवास आदि प्रदान नहीं किया हो। विवशा होकर नन्दी ग्राम से बाहर बौद्ध विहार में उन्हें रूकना पड़ा हो और वहाँ के बौद्ध भिक्षुओं ने उन्हें स्नेह प्रदान किया हो, जिससे उनके अन्तर्मानस में बौद्ध धर्म के प्रति सहज अनुराग जाग्रत हुआ हो इसलिए जैन धर्म के उपासक होने के साथ बुद्ध के प्रति भी उसके मन में स्नेह रहा हो और इसी कारण उन्होंने बुद्ध से धार्मिक चर्चाएँ की हो।⁶⁸

प्रस्तुत अंग में श्रेणिक के पुत्रों की चर्चा है। अनुत्तरविमान में उत्पन्न होने वाले 33 मुनियों में 23 श्रेणिक के ही पुत्र थे। इनमें 20 धारिणी देवी से, 2 चेलना से और 1 नन्दा देवी से उत्पन्न था। 10 मुनि काकंदी के भद्रा सार्थवाही के पुत्र थे।⁶⁹

दूसरा वर्णन काकंदी के जीतशत्रु राजा का आया है। जैन साहित्य के कथाग्रंथों में जीतशत्रु राजा का पर्याप्त उल्लेख है। जीतशत्रु का नाम निम्न नगरों के राजा के रूप में आया है :-

- | | |
|------------------|------------------------|
| 1. वाणिज्यग्राम | 2. चम्पानगरी |
| 3. उज्जयिनी | 4. सर्वतोभद्र नगर |
| 5. मिथिला नगरी | 6. पांचाल देश |
| 7. आमलकल्या नगरी | 8. सावत्थी (श्रावस्ती) |
| 9. वाराणसी | 10. आलंभिया |
| 11. पोलासपुर। | |

इनके साथ में प्रायः धारिणी रानी का नाम आता है।⁷⁰ इस प्रकार के विवरण से यह पता चलता है कि जीतशत्रु कोई व्यक्ति विशेष न होकर आलंकारिक नाम रहा हो। जीतशत्रु का शाब्दिक अर्थ होता है शत्रुओं को जीतनेवाला।

दुनियाँ की लगभग सभी परम्पराओं में कहानियों के प्रारम्भ में एक आदर्श वाक्य के रूप में कथन प्राप्त हैं। महाभारत आदि ग्रंथों में यह “एकदा नैमिष्याराण्ये” बहुत से जातकों के पहले ही “अतीते वाराणसियं बहमदत्ते रज्जं करिन्ते” आरब्ध

उपन्यासों में “खलीफ़ा हारून-उ-रसीद के राज्यत्व में” इसी प्रकार ‘अतीतकाल में जब विक्रमादित्य राज्य करते थे’ या “LONG LONG AGO” जैसा आमुख प्राप्त होता है। इसी आदर्श वाक्य की परम्परा का निर्वाह करते हुए जैन आगामों और अन्य जैन साहित्य की शुरुआत “तेणं कालेणं तेणं समयेण... नयरे अज्ज सुहम्मस्स समोसरणं। परिसा निग्गया जाव या तेणं कालेणं तेणं समयेण... नगरी होत्था। वण्णओ।... राया।” इस प्रकार में की गयी है। प्रसंगानुसार प्रसिद्ध नगरों या किसी आदर्श राजा का नाम लिया गया है। जीतशत्रु नाम भी इसी प्रकार का है।

अनुत्तरोपपातिकसूत्र में तत्कालीन बहत्तर कलाओं का उल्लेख किया गया है :-

1. लेखन 2. गणित 3. रूप 4. नाटक 5. गायन 6. वाध्य 7. सरगम 8. वाच्य सुधार 9. समताल 10. द्युत 11. जनवाद (वाद-विवाद) 12. पासा 13. चौपड़ खेलना 14. पूराकृत्य 15. दगमृत्तिका 16. अन्नविधि 17. पानविधि 18. वस्त्रविधि 19. विलेपन विधि 20. शयनविधि 21. आर्या (छन्द) 22. पहली 23. भागधिका 24. गाथा 25. गीतिका 26. श्लोक 27. हिरण्ययुक्ति 28. सुवर्णयुक्ति 29. चूर्ण-युक्ति 30. आभरणविधि 31. तरूणीप्रतिक्रम 32. स्त्रीलक्षण 33. पुरुषलक्षण 34. अश्वलक्षण 35. गजलक्षण 36. गोणलक्षण 37. कुक्कुट लक्षण 38. क्षत्र-लक्षण 39. दंडलक्षण 40. असिलक्षण 41. मणिलक्षण 42. कागणिलक्षण 43. वास्तुविद्या 44. खंधारमान 45. नगरमान 46. व्यूह 47. प्रतिव्यूह 48. चार (सैन्य संचालन) 49. प्रतिचार 50. चक्रव्यूह 51. गरूड़व्यूह 52. शकट व्यूह 53. युद्ध 54. निर्युद्ध 55. युद्धातिर्युद्ध 56. अस्थियुद्ध 57. मुष्टियुद्ध 58. बाहुयुद्ध 59. लतायुद्ध 60. इषत्थ 61. छरुप्रवाद 62. धनुर्वेद 63. हिरण्यपाक 64. सुवर्णपाक 65. सूत्रखेट 66. वट्टुखेट 67. नालिकाखेट 68. पत्रच्छेदन 69. कड़ाछेदन 70. सजीव 71. निर्जीव 72. सकुनिरुपमित।

प्रस्तुत अंग की शैली अन्य आगामों की तरह ही है। इसमें नगर, राजा आदि का वर्णन समान रूप से किया गया है इसलिए इनका वर्णन एक ग्रंथ (औपपातिक सूत्र) में करके वहाँ का निर्देश जाव शब्द से कर दिया है।

इसकी भाषा अर्धमागधी है, संपूर्ण जैन आगम साहित्य अर्धमागधी भाषा में ही लिखित है। प्रो. जैकोबी ने इसे “जैन प्राकृत” कहा है और महाराष्ट्रीय का प्राचीन रूप माना है। भारतीय वैयाकरण जैन सूत्रों की भाषा को “आर्ष” कहते हैं। रूद्रट के काव्यालंकार पर टीका करते हुए नमिसाधु ने कहा है “आरिस वचणे सिद्धं देवाणं अद्धमागहावाणी” अर्थात् अर्धमागधी ऋषियों, सिद्धों और देवताओं की भाषा है। जिस प्रकार बौद्धों ने मागधी को सभी भाषाओं के मूल में माना है। उसी प्रकार जैन वैयाकरणों ने भी अर्धभागधी को सभी भाषाओं का मूल माना है। इसका कारण यह है कि भगवान महावीर ने अपना उपदेश उसी भाषा में दिया था।

अर्धभागधी को मागधी और शौरसेनी का मिश्रण माना गया है इसलिए इसमें दोनों के लक्षण प्राप्त होते हैं। अनुत्तरोपपातिक में मागधी के समान ही प्रथमा एकवचन अकारान्त वर्तमानकाल में ए पाया जाता है :- भदन्त झ भंते, वारिषेणा झ वारिसेणे, अभय झ अभये, कुम्भार झ कुमारे, कहीं ओ भी है- मेघः झ मेहो, सिंह झ सीहो, निग्गतः -निग्गओ आदि।

श के स्थान पर स - समवशरणम् झ समोसरणं, गुणशैलक झ गुणसिलय, दशानां झ दसाणं।

क का ग- अन्तकृतदशा झ अन्तगडदसाणं, इसमें त का ड भी हुआ है। काकंदी झ कागंदी, कहीं ग का लोप है- कायंदी, कहीं क ज्यों का त्यों है- काकंदी।

अवादील झ वयासी होकर आदिस्वर का लोप हुआ है।

न का ण - अनुत्तरोपपातिक झ अणुत्तरोववाइय। इसमें प का व भी है। इसके अलावा श्रमणेन झ समणेणं। कत्य का कई, अध्ययन झ अज्झयण, प्रज्ञप्तानि झ पणत्ता, प्रथम झ पढम, चैत्यः झ चैतिते।

द का र- एकादश-एक्कारस, त्रयोदश-तेरस। ऋ का उ- आपृच्छणा झ आपृच्छणा। ष,श, स का स- षोउशा झ सोलस, यहाँ ड का भी ल है। कृत प्रत्यय का कच्च- कालंकृत्वा-कालंकिच्चा। यश्रुति- भाणितव्यम्-भाणियव्वं। त के स्थान

पर च- द्वितीयस्य झ दोच्चस्स, तृतीयस्य झ तच्चस्स, च वर्ग का त वर्ग- कदाचित् झ कयाति, प्रव्रजित झ पव्वतिते, मासिक्या संलेखनया झ मासियाए संलेहणाए। यदि झ जति यहाँ य का ज, त का द- सर्वर्तुषु-सव्वोदुएं।

मध्यवर्ती ग का लोप नहीं-नगर्या झ नगरीए, अभूत का होत्था।

प्रथमा एकवचन धन्य का धन्यं रूप भी है। त ज्यों का त्यो- वदति झ वंदति, नमस्यति झ णमंसंति, दर्शयति झ दंसति, निष्क्रामति झ णिक्खामति।

प का म- वनीपका झ वणीमगा, थ का ह- अतिथि झ अतिहि, दत्ता का दिभा।

ट का ड- वट्झवड, तटिकरालेनझतडिकरालेणं, र का ल रूक्षंझलुक्खं। क का त- श्रेणिकझसेणिते, गौतम का गोयमा और गोतमा दोनों रूप हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत अंग में शौरसेनी और मागधी के रूप मिलते हैं। कुछ रूप इन दोनों से अलग और अति प्राचीन भी हैं जैसे :- "भंते, अभये, चेतिते, नगरीए, वंदति, नमंसंति, सेणिते तथा न का ण" परिवर्तन आदि।

संदर्भ :-

1. नंदीसूत्र, 76, पृ. 152
2. वही 79, पृ. 160
3. वही 82, पृ. 165
4. वही 54
5. समायांग, पृ. 185
6. निरयावली, 1/1
7. आवश्यक चूर्णि 2 पृ. 171
8. समवायवृत्ति, पृ. 144
9. आवश्यक (हरिभद्र) पृ. 679
10. भगवती (अभयदेव) पृ. 316

11. आवश्यक, पृ. - 27
12. व्यवहारसूत्र भाष्य, 10-536
13. भगवती, शतक-7
14. (क) नंदीसूत्र-54, सं. मधुकर मुनि, पृ. 185
(ख) समवायांग, पृ. - 185
15. वही, पृ. - 185
16. धवला, पृ. 103, संपा., पं. हीरालाल जैन
17. (क) जयधवला, सूत्र- 75, पृ. 93 खण्ड-1, भा.दि.जै.सं., मथुरा
(ख) नंदी टीका, पृ. 229
18. अनुत्तरोपपातिक- परिशिष्ट, टिप्पणी पृ. 62
19. ज्ञाताधर्मकथा 1/1, निरयावली 23, अनु. 11/1 त्रिषष्टिशालाका.
-10/9
20. ज्ञाताधर्मकथा 1/1
21. भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति पत्र- 3-8
22. ज्ञाता. - 1/11
23. निरयावली- 1
24. (क) आवश्यक चूर्ण उत्तरार्धपत्र 159- 163,
(ख) त्रिषष्टिशालाकापुरुषचरित्र 10-11-124 से 293
25. धर्मरत्नप्रकरण अभयकुमार कथा 1/130
26. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, टीका 2/6/136
27. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति 1/30 पृ. 91-95
28. मज्झिमनिकाय, प्रकरण 76
29. संयुक्तनिकाय, अभयसुत्त 44/6/6
30. धम्मपद अट्टकथा 13/4
31. थेरगाथा अट्टकथा 1/58
32. थेर गाथा 26, थेरगाथा अट्टकथा खण्ड 1, पृ. 83-84

33. आगम और त्रिपिटिक : एक अनुशीलन, पृ. 359
34. अनुत्तरोपपातिकदशा : एक अध्ययन, पं. बेचरदास दोशी पृ. 10
35. अनुत्तरोपपातिकदशासूत्र 16, तृतीय वर्ग
36. मज्झिमनिकाय, महासीहनाद सूत्र 12 (कडिका 20-29)
37. अनुत्तरोपपातिकदशा, सं. मधुकरमुनि, पृ. 16-17
38. भगवान महावीर : एक अनुशीलन, पृ. 473-474
39. विनयपिटक महावग्ग 9/1/15
40. अनुत्तरोपपातिक, प्रथम वर्ग, सूत्र 3
41. वही, तृतीय वर्ग, प्रथम अध्ययन, तृतीय अध्ययन, सूत्र 3,21
42. वही, प्रथम वर्ग, सूत्र 3
43. वही, तृतीय वर्ग, प्रथम अध्ययन, सूत्र 3
44. वही, सूत्र 2
45. उपासकदशा, प्रथम अध्ययन
46. श्रीमद्भागवत, द्वितीय काण्ड, पृ. 903
47. बुद्धचरित, सर्ग 11, श्लोक 2
48. आवश्यक हरीभिद्रीय वृत्ति पत्र 677
49. स्टडीज इन इण्डिया, एन्टीइक्वीटीज पृ. 216
50. महावंश, गाथा 27-32
51. (क) ज्ञाताधर्मकथासूत्र 1 अध्ययन 13
(ख) दशाश्रुतस्कन्ध 10 सूत्र 1
(ग) ठाणांगसूत्र, स्था. 9 पत्र 458
53. उपदेशमाला, सटीकपत्र 334-1
54. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटरली, भाग-14, अंक-2, जून 1938 पृ. 413
55. वही, पृ. 413
56. अभिधान चिन्तामणि, स्वोपज्ञवृत्ति, मर्त्यकाण्ड श्लोक 376

57. विनयपिटक, गिलगित मांस्कृष्ट
58. धम्मपाल उदानटीका पृ. 140
59. श्रीमद्भागवत, द्वितीय काण्ड पृ. 903
60. श्रीमद्भागवत 12/1
61. भारतवर्ष का इतिहास, भागवद् दत्त पृ. 252
62. वही, पत्र 671
63. वही, 10/6/1
64. बृहद्कथा कोष, कथा 55, रलोक 1-2
65. वही, 74/4/8 पृ. 471
66. औपपातिकसूत्र
67. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इण्डिया, पृ. 203
68. वही, अध्याय 20
69. अनुत्तरोपपातिकदशा, सं. मधुकर मुनि, भूमिका पृ. 10
70. वही, परिशिष्ट पृ. 64

□ शोधछात्र

पार्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

अन्तकृद्दशा की विषय वस्तु : एक पुनर्विचार

□ प्रो. सागरमल जैन

अन्तकृद्दशा जैन अंग-आगमों का अष्टम अंगसूत्र है। स्थानांगसूत्र में इसे दस दशाओं में एक बताया गया है। अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु से संबंधित निर्देश श्वेताम्बर आगम साहित्य में स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र में तथा दिगम्बर परम्परा में राजवार्तिक, धवला तथा जयधवला में उपलब्ध है।

अन्तकृद्दशा का वर्तमान स्वरूप :- वर्तमान में जो अन्तकृद्दशा उपलब्ध है उसमें आठ वर्ग हैं।

प्रथम वर्ग में और विष्णु ये दस अध्ययन उपलब्ध हैं :-

1. गौतम
2. समुद्र
3. सागर
4. गम्भीर
5. स्तिमित
6. अचल
7. काम्पिल्य
8. अक्षोभ
9. प्रसेनजित

द्वितीय वर्ग में आठ अध्ययन हैं इनके नाम हैं :-

1. अक्षोभ
2. सागर
3. समुद्र
4. हिमवन्त
5. अचल
6. धरन
7. पूरन
8. अभिचन्द्र।

तृतीय वर्ग में निम्न तेरह अध्ययन हैं :-

1. अनीयस कुमार
2. अनन्तसेन कुमार
3. उनिहत कुमार
4. विद्वत् कुमार
5. देवयश कुमार
6. रात्रुसेन कुमार
7. सारण कुमार
8. गज कुमार
9. सुमुख कुमार
10. दुर्मुख कुमार
11. कूपक कुमार
12. दारुक कुमार
13. अनादृष्टि कुमार।

चतुर्थ वर्ग में निम्न दस अध्ययन हैं :-

1. जालि कुमार
2. मयालि कुमार
3. उवयालि कुमार
4. पुरुषसेन कुमार
5. वारिषेण कुमार
6. प्रद्युम्न कुमार
7. शाम्ब कुमार
8. अनिरुद्ध कुमार
9. सत्यनेमि कुमार
10. दृढनेमि कुमार।

पंचम वर्ग में दस अध्ययन हैं जो कृष्ण की आठ प्रधान पत्नियों और प्रद्युम्न की दो पत्नियों से संबंधित हैं। प्रथम वर्ग से लेकर पाँचवें वर्ग तक के अधिकांश

व्यक्ति कृष्ण के परिवार से संबंधित हैं छठें, सातवें और आठवें वर्ग का संबंध महावीर के शासन से है।

छठें वर्ग के निम्न 16 अध्ययन बताये गये हैं :-

1. मकार्ई 2. किंकम 3. मुद्गरपाणि 4. काश्यप 5. क्षेमक 6. धृतिधर 7. कैलाश 8. हरिचन्दन 9. वारत्त 10. सुदर्शन 11. पुण्यभद्र 12. सुमनभद्र 13. सुप्रतिष्ठित 14. मेघकुमार 15. अतिमुक्त कुमार 16. अलक्क (अलक्ष्य) कुमार।

सातवें वर्ग के 13 अध्ययनों के नाम निम्न हैं :-

1. नन्दा 2. नन्दवती 3. नन्दोत्तरा 4. नन्दश्रेणिका 5. मरुता 6. सुमरुता 7. महामरुता 8. मरुद्देवा 9. भद्रा 10. सुभद्रा 11. सुजाता 12. सुमनायिका 13. भूतदत्ता।

आठवें वर्ग में काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, वीरकृष्णा, रामसेनकृष्णा, कर्मसेनकृष्णा और महासेनकृष्णा इन दस श्रेणिक की पत्नियों का उल्लेख है। उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण को देखने से केवल किंकम और सुदर्शन ही ऐसे अध्याय हैं जो स्थानांग में उल्लिखित विवरण से नाम साम्य रखते हैं, शेष सारे नाम भिन्न हैं।

अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु संबंधी प्राचीन उल्लेख :-

स्थानांग में हमें सर्वप्रथम अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें अन्तकृद्दशा के निम्न दस अध्ययन बताये गये हैं- नमि, मातंग, सोमिल, रामगुप्त (रामपुत्त), सुदर्शन, जमाली, भयाली, किंकम, पल्लतेतीय और फ़ालअम्बपुत्र। यदि हम वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशा को देखते हैं तो उसमें उपर्युक्त दस अध्यायों में केवल दो नाम सुदर्शन और किंकम उपलब्ध हैं।

समवायांग में अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु का विवरण देते हुए कहा गया है कि इसमें अन्तकृत जीवों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक और परलोक की ऋद्धि विशेष, भोग और उनका परित्याग, प्रव्रज्या, श्रुतज्ञान का अध्ययन, तप तथा क्षमा आदि बहुविध

प्रतिमाओं का वहन, सत्रह प्रकार के संयम, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य, समिति, गुप्ति, अप्रमाद, योग, स्वाध्याय और ध्यान संबंधी विवरण हैं। आगे इसमें उत्तम संयम को प्राप्त करने पर तथा परिग्रहों के जीतने पर चार कर्मों के क्षय होने से केवलज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार से होती है, इसका उल्लेख है, साथ ही उन मुनियों की श्रमण पर्याय, प्रायोपगमन, अनशन, तप और रज से मुक्त होकर मोक्षसुख को प्राप्त करने संबंधी उल्लेख हैं। समवायांग के अनुसार इसमें एक श्रुतस्कंध, दस अध्ययन और सात वर्ग बतलाये गये हैं जबकि उपलब्ध अन्तकृद्दशा में आठ वर्ग हैं। अतः समवायांग में वर्तमान अन्तकृद्दशा की अपेक्षा एक वर्ग कम बताया गया है। ऐसा लगता है कि समवायांगकार ने स्थानांग की मान्यता और उसके सामने उपलब्ध ग्रंथ में एक समन्वय बैठाने का प्रयास किया है। ऐसा भी लगता है कि समवायांगकार के सामने स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा लुप्त हो चुकी थी और मात्र उसमें 10 अध्ययन होने की स्मृति ही शेष थी तथा उसके स्थान पर वर्तमान उपलब्ध अन्तकृद्दशा के कम से कम सात वर्गों का निर्माण हो चुका था।

नन्दीसूत्रकार अन्तकृद्दशा के संबंध में जो विवरण प्रस्तुत करता है वह बहुत कुछ तो समवायांग के समान ही है किन्तु उसमें स्पष्ट रूप से इसके आठ वर्ग का उल्लेख प्राप्त है। समवायांगकार जहाँ अन्तकृद्दशा के दस समुद्देशन कालों की चर्चा करता है वहाँ नन्दीसूत्रकार उसके आठ उद्देशन कालों की चर्चा करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशा की रचना समवायांग के काल तक बहुत कुछ हो चुकी थी और वह अन्तिम रूप से नन्दीसूत्र की रचना के पूर्व अपने अस्तित्व में आ चुका था। श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध तीनों विवरणों से हमें यह ज्ञात होता है कि स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा के प्रथम संस्करण की विषयवस्तु किस प्रकार से उससे अलग कर दी गई और नन्दीसूत्र के रचना काल तक उसके स्थान पर नवीन संस्करण किस प्रकार अस्तित्व में आ गया।

यदि हम दिग्म्बर साहित्य की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करें तो हमें सर्वप्रथम तत्त्वार्थवार्तिक में अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु से संबंधित विवरण उपलब्ध होता है। उसमें निम्न दस अध्ययनों की सूचना प्राप्त होती है :- नमि, मातंग, सोमिल, रामपुत्र,

सुदर्शन, यमलिक, वलिक, किष्कम्बल और पातालम्बष्ठ पुत्र। यदि हम स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा के दस अध्ययनों से इनकी तुलना करते हैं तो इसके यमलिक और वलिक ऐसे दो नाम हैं, जो स्थानांग के उल्लेख से भिन्न हैं। वहाँ इनके स्थान पर जमाली, भयाली (भगाली) ऐसे दो अध्ययनों का उल्लेख है। पुनः चिल्वक का उल्लेख तत्त्वार्थ वार्तिककार ने नहीं किया है उसके स्थान पर पाल और अम्बष्ठपुत्र ऐसे दो अलग-अलग नाम मान लिये हैं। यदि हम इसकी प्रामाणिकता की चर्चा में उतरें तो स्थानांग का विवरण हमें सर्वाधिक प्रामाणिक लगता है।

स्थानांग में अन्तकृद्दशा के जो दस अध्याय बताये गये हैं उनमें नमि नामक अध्याय वर्तमान में उत्तराध्ययनसूत्र में उपलब्ध है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि स्थानांग में उल्लिखित "नमि" नामक अध्ययन की विषयवस्तु अभिन्न थी या भिन्न थी। नमि का उल्लेख सूत्रकृतांग में भी उपलब्ध होता है। वहाँ पाराशर, रामपुत्र आदि प्राचीन ऋषियों के साथ उनके नाम का भी उल्लेख हुआ है। स्थानांग में उल्लिखित द्वितीय "मातंग" नामक अध्ययन ऋषिभाषित के 23वें मातंग नामक अध्ययन के रूप में आज उपलब्ध है। यद्यपि विषयवस्तु की समरूपता के संबंध में यहाँ भी कुछ कह पाना कठिन है। सौमिल नामक तृतीय अध्ययन का नाम साम्य ऋषिभाषित के 42वें सोम नामक अध्याय के साथ देखा जा सकता है। रामपुत्र नामक चतुर्थ अध्ययन भी ऋषिभाषित के तेईसवें अध्ययन के रूप में उल्लिखित है। समवायांग के अनुसार द्विगृद्धिदशा के एक अध्ययन का नाम भी रामपुत्र था। यह भी संभव है कि अन्तकृद्दशा इसिभासियाई और द्विगृद्धिदशा के रामपुत्र नामक अध्ययन की विषयवस्तु भिन्न हो, चाहे व्यक्ति वही हो। सूत्रकृतांगकार ने रामपुत्र का उल्लेख अर्हत प्रवचन में एक सम्मानित ऋषि के रूप में किया है। रामपुत्र का उल्लेख पालि त्रिपिटक साहित्य में हमें विस्तार से मिलता है। स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा का पाचवाँ अध्ययन सुदर्शन है। वर्तमान अन्तकृद्दशा में छठें वर्ग के दसवें अध्ययन का नाम सुदर्शन है। स्थानांग के अनुसार अन्तकृद्दशा का छठा अध्ययन जमाली है। अन्तकृद्दशा में सुदर्शन का विस्तृत उल्लेख अर्जुन मालाकार के अध्ययन में भी है। जमाली का उल्लेख हमें भगवती सूत्र में भी उपलब्ध होता है। यद्यपि

भगवतीसूत्र में जमाली को भगवान् महावीर के क्रियमाणकृत के सिद्धांत का विरोध करते हुए दर्शाया गया है। स्वताम्बर परम्परा जमाली को भगवान् महावीर का जामातृ भी मानती है। परवर्ती साहित्य निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों में भी जमाली का उल्लेख पाया जाता है और उन्हें एक निहन्व बताया गया है। स्थानांग की सूची के अनुसार अन्तकृद्दशा का सातवाँ अध्ययन भयाली (भगाली) है। “भगाली मेतेज्ज”। स्थानांग की सूची में अन्तकृद्दशा के आठवें अध्ययन का नाम किंकम या किंकस है। वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशा में छठे वर्ग के द्वितीय अध्याय का नाम किंकम है, यद्यपि यहाँ तत्सम्बन्धी विवरण का अभाव है। स्थानांग में अन्तकृद्दशा के 9वें अध्ययन का नाम चिल्वकया चिल्लवाक है। कुछ प्रतियों में इसके स्थान पर “पल्लेतीय” ऐसा नाम भी मिलता है इस सम्बन्ध में हमें कोई विशेष जानकारी नहीं है। दिगम्बर आचार्य अकलंकदेव भी इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं है। स्थानांग में दसवें अध्ययन का नाम फालअम्बडपुत्त बताया है। जिसका संस्कृतरूप पालअम्बष्ठपुत्र हो सकता है। अम्बड संन्यासी का उल्लेख हमें भगवतीसूत्र में विस्तार से मिलता है। अम्बड के नाम से एक अध्ययन ऋषिभाषित में भी है। यद्यपि विवाद का विषय यह हो सकता है कि जहाँ ऋषिभाषित और भगवती उसे अम्बड परिव्राजक कहते हैं यहाँ उसे अम्बडपुत्त कहा गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से गवेषणा करने पर हमें ऐसा लगता है कि स्थानांग में अन्तकृद्दशा के जो 10 अध्ययन बताये गये हैं वे यथार्थ व्यक्तियों से सम्बन्धित रहे होंगे क्योंकि उनमें से अधिकांश के उल्लेख अन्य स्रोतों से भी उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनका उल्लेख बौद्ध परम्परा में मिल जाता है यथा-रामपुत्त, सोमिल, मातंग आदि।

अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु के संबंध में विचार करते समय हम सुनिश्चितरूप से इतना कह सकते हैं कि इन सबमें स्थानांग संबंधी विवरण अधिक प्रामाणिक तथा ऐतिहासिक सत्यता को लिये हुए है। समवायांग में एक ओर इसके दस अध्ययन बताये गये हैं तो दूसरी ओर समवायांगकार सात वर्गों की भी चर्चा करता है इससे ऐसा लगता है कि समवायांग के उपर्युक्त विवरण लिखे जाने के समय स्थानांग में

उल्लेखित अन्तकृत्दशा की विषयवस्तु बदल चुकी थी किन्तु वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृत्दशा का पूरी तरह निर्माण भी नहीं हो पाया था। केवल सात ही वर्ग बने थे। वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृत्दशा की रचना नन्दीसूत्र में तत्संबंधी विवरण लिखे जाने के पूर्व निश्चित रूप से हो चुकी थी क्योंकि नन्दीसूत्रकार उसमें 10 अध्ययन होने का कोई उल्लेख नहीं करता है। साथ ही वह आठ वर्गों की चर्चा करता है। वर्तमान अन्तकृत्दशा के भी आठ वर्ग ही हैं।

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृत्दशा की विषयवस्तु नन्दीसूत्र की रचना के कुछ समय पूर्व तक अस्तित्व में आ गई थी। ऐसा लगता है कि वल्लभी वाचना के पूर्व ही प्राचीन अन्तकृत्दशा के अध्यायों की या तो उपेक्षा कर दी गयी या उन्हें यत्र-तत्र अन्य ग्रंथों में जोड़ दिया गया था और इस प्रकार प्राचीन अन्तकृत्दशा की विषयवस्तु के स्थान पर नवीन विषयवस्तु रख दी गयी। यहाँ प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो सकता है कि ऐसा क्यों किया गया। क्या विस्मृति के आधार पर प्राचीन अन्तकृत्दशा की विषयवस्तु लुप्त हो गयी अथवा उसकी प्राचीन विषयवस्तु सप्रयोजन वहाँ से अलग कर दी गई।

मेरी मान्यता यह है कि विषयवस्तु का यह परिवर्तन विस्मृति के कारण नहीं, परन्तु सप्रयोजन ही हुआ है। अन्तकृत्दशा की प्राचीन विषयवस्तु में जिन दस व्यक्तित्वों के चरित्र का चित्रण किया गया था उनमें निश्चित रूप से मातंग, अम्बड, रामपुत्र, भंगाली (भंगाली) जमाली आदि ऐसे हैं जो चाहे किसी समय तक जैन परम्परा में सम्मान्यरूप से रहे हों किन्तु अब वे जैन परम्परा के विरोधी या बाहरी मान लिये गये थे। जिनप्रणीत अंगसूत्रों में उनका उल्लेख रखना समुचित नहीं माना गया। जिस प्रकार प्रश्नव्याकरण से ऋषिभाषित को सप्रयोजन अलग किया गया उसी प्रकार अन्तकृत्दशा से इनके विवरण को भी सप्रयोजन अलग किया गया। यह भी सम्भव है कि जब जैन परम्परा में श्रीकृष्ण को वासुदेव के रूप में स्वीकार कर लिया गया तो उनके तथा उनके परिवार से संबंधित कथानकों को कहीं स्थान देना आवश्यक था। अतः अन्तकृत्दशा की प्राचीन विषयवस्तु को बदल कर उसके स्थान पर कृष्ण और उनके

परिवार से संबंधित पांच वर्गों को जोड़ दिया गया।

अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु की चर्चा करते हुए सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने यह आता है कि दिगम्बर परम्परा में अन्तकृद्दशा की जो विषयवस्तु तत्त्वार्थवार्तिक में उल्लिखित है वह स्थानांग की सूची से बहुत कुछ मेल खाती है। यह कैसे सम्भव हुआ? दिगम्बर परम्परा जहाँ अंग आगमों के लोप की बात करती है तो फिर तत्त्वार्थवार्तिककार को उसकी प्राचीन विषयवस्तु के संबंध में जानकारी कैसे हो गई। मेरी ऐसी मान्यता है कि श्वेताम्बर आगम साहित्य के संबंध में दिगम्बर परम्परा में जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हुई है वह यापनीय परम्परा के माध्यम से प्राप्त हुई और इतना निश्चित है कि यापनीय और श्वेताम्बरों का भेद होने तक स्थानांग में उल्लिखित सामग्री अन्तकृद्दशा में प्रचलित रही हो और तत्संबंधी जानकारी अनुश्रुति के माध्यम से तत्त्वार्थ वार्तिककार तक पहुंची हो। तत्त्वार्थवार्तिककार को भी कुछ नामों के संबंध में अवश्य ही भ्रांति है, उसके सामने मूलग्रंथ होता तो ऐसी भ्रांत की सम्भावना नहीं रहती। जमाली का तो संस्कृत रूप यर्मलीक हो सकता है किन्तु भगाली या भयाली का संस्कृत रूप वलीक किसी प्रकार नहीं बनता। इसी प्रकार किंकम का किष्कम्बल रूप किस प्रकार बना, यह भी विचारणीय है। चिल्वक या पल्लतेत्तीय के नाम का अपलाप करके पालअम्बष्ठपुत्र को भी अलग-अलग कर देने से ऐसा लगता है कि वार्तिककार के समक्ष मूल ग्रंथ नहीं है केवल अनुश्रुति के रूप में ही वह उनकी चर्चा कर रहा है। जहाँ श्वेताम्बर चूर्णिकार और टीकाकार विषयवस्तु संबंधी दोनों प्रकार की विषयवस्तु से अवगत हैं वहाँ दिगम्बर (आचार्यों को मात्र प्राचीन संस्करण) उपलब्ध अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु के संबंध में जो कि छठीं शताब्दी में अस्तित्व में आ चुकी थी कोई जानकारी नहीं थी। अतः उनका आधार केवल अनुश्रुति था ग्रन्थ नहीं। जबकि श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों का आधार एक ओर ग्रन्थ था तो दूसरी ओर स्थानांग का विवरण। धवला और जयधवला में अन्तकृद्दशा सम्बन्धी जो विवरण उपलब्ध हैं वह निश्चित रूप से तत्त्वार्थवार्तिक पर आधारित हैं। स्वयं धवलाकार वीरसेन “उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये” कहकर उसका उल्लेख करता है। इससे स्पष्ट है कि धवलाकार के समक्ष भी प्राचीन विषयवस्तु का

कोई ग्रंथ उपस्थित नहीं था।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि प्राचीन अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पूर्व ही परिवर्तित हो चुकी थी और छठीं शताब्दी के अन्त तक वर्तमान अन्तकृद्दशा अस्तित्व में आ चुकी थी।

संदर्भ :-

1. स्थानांग- (सं. मधुकर मुनि) दशम स्थान सूत्र 110 एवं 113
दस दसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कम्मविवागदसाओ, उवासगदसाओ,
अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ आयारदसाओ,
पण्हवागरणदसाओ, बंधदसाओ, दोगिद्धिदसाओ, दीहदसाओ,
संखेवियदसाओ।

एवं

अंतगडदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहाँ ।
णमि मातंगे सोमिले, रामगुत्ते सुदंसणे चेव॥
जमाली य भगाली य, किंकसे चिल्लएतिय।
फाले अंबडपुत्ते य एमेते एस आहिता॥

2. समवायांग- (सं. मधुकर मुनि) प्रकीर्णक समवाय, सूत्र, 539-540
से किं तं अंतगडदसाओ? अंतगडदसाओ अंतगडाणं नगराई उज्जाणाई चेइयाई
वणसंडाई रायाणो अम्मापियरो समोसरणाई धम्मायरिया धम्मकहाओ
इहलोइय-परलोइया इडिद्विसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाई
पडिमाओ बहुविहाओ, खमा अज्जवं मद्दवं च, सोअं च सच्चसहियं, सत्तरसविहो य
संजमो, उत्तम, च बंभं, आकिंचणया तवो चियाओ समिइगुत्तीओ चेव, तह
अप्पमायजोगो, सज्जायज्जाणाण य उत्तमाणं दोण्हपि लक्खणाई।

पत्ताण य संजमुत्तमं जियपरीसहाणं चउव्विहकम्मखयम्मि जह केवलस्स लंभो,
परियाओ जत्तिओ य जह पालिओ मुणिहिं, पायोवगओ य जो जहिं, जत्तियाणि भत्ताणि
छेयइत्ता अंतगडो मुणिवरो तमरयोघविप्पमुक्को, मोक्खसुहमणुत्तरं च पत्ता।

एए अण्णे य एवामाइअत्था वित्थारेणं परूवेई।

अंतगडदसासु णं परित्ता वायणा संखेज्जा अणुओगदारा संखेज्जाओ पडिवत्तीओ संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ संखेज्जाओ संगहणीओ।

से णं अंगओयाए अओमे अंगे एगे सुयक्खंधे दस अज्झयणा सत्त वग्गा दस उद्देसणकाला दस समुद्देसणकाला संखेज्जाइं पयसयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासया कडा णिबद्धा णिकाइया जिणपण्णत्ताभावा आघविज्जति पण्णा विज्जति परूविज्जति दंसिज्जति निर्दंसिज्जति उवदंसिज्जति।

से एवं आया एवं विण्णयाया एवं चरण-करण -परूवणया आघविज्जति, पण्णविज्जति परूविज्जति दंसिज्जति निर्दंसिज्जति उवदंसिज्जति। सेत्तं अंतगडदसाओ।

3. नन्दीसूत्र (सं. मधुकर मुनि) सूत्र 53 पृ. 183,

से किं तं अंतगडदसाओ?

अंतगडदसासु णं अंतगडाणं नगराईं, उज्जाणाईं, वणसंडाईं समोसरणाईं, रायाणो, अम्मा-पियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइआइडिढविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाईं संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाईं, पाओवगमणाईं अंतकिरिआओ आघविज्जन्ति।

अंतगडदसासु णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगओयाए अओमे अंगे, एगे सुअखंधे अओ वग्गा, अओ उद्देसणकाला, अओ समुद्देसणकाला संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जति, पन्नविज्जति, परूविज्जति, दंसिज्जति निर्दंसिज्जति, उवदंसिज्जति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ।

से तं अंतगडदसाओ।

4. तत्त्वार्थवार्तिक- पृष्ठ 51

संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः नमिमतंगसोमिलरामपुत्रसु-

दर्शनयमवैलमीकवलोक – निष्कंबलपालम्बष्टपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थकरतीर्थे॥

5. षट्खण्डागम- धवला 1/1/2, खण्ड एक, भाग एक, पुस्तक एक, पृष्ठ
103-4

अंतयडदसा णाम अंगं तेवीस-लक्ख-अओवीस-सहस्स-पदेहि 2328000
एक्केक्कम्हि य तित्थे दारुणे बहुविहोवसग्गे सहिऊण पाडिहेरं लद्धण णिव्वागं गदे
दस-दस वण्णेदि। उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये-संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः
नमि-मतंगसोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीकवलीककिष्कविल- पालम्बष्टपुत्रा इति
एते दश वर्द्धमानतीर्थकरतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये, एवं
दशदशानगाराः दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतो दशास्यां वर्ण्यन्त इति
अन्तकृद्दशा।

□ निदेशक

पारर्वनाथ विद्यापीठ,

आई.टी.आई. रोड, वाराणसी

विपाकसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

□ डॉ. सुरेश सिसोदिया

भारतीय साहित्य की दीर्घ परम्परा है। इस परम्परा में सर्वप्रथम आगम, पिटक या वेदों का नाम लिया जाता है। ये ऐसे ग्रंथ हैं जिनके विषय में यही कहा जाता है कि समस्त जीवन विज्ञान, जीवन कला और जीवन की विशेषताएँ इनमें समाहित हैं। चाहे वैदिक साहित्य हो या श्रमण साहित्य, उनमें जितने भी वचन हैं, वे आर्ष वचन हैं, जो प्रामाणिक वचन हैं। इनके वचनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। जैन साहित्य में आर्ष को विशेष महत्व दिया गया है और यह भी कथन किया गया है कि आर्ष वचन की परम्परा का विच्छेद नहीं होता है क्योंकि वे सर्वज्ञ वचन हैं, वे दोष और आवरण से रहित हैं। अरहंत परमेष्ठी अर्थरूप से व्याख्यान करते हैं तथा निर्मल बुद्धि के धारक अतिशय गुणों से युक्त गणधर देव उन्हें सूत्रबद्ध करते हैं। उन सूत्रों में ज्ञान-विज्ञान का समावेश होता है। वे ज्ञान-विज्ञान के सूत्र अंग प्रविष्ट के नाम से विख्यात हैं।

अंग प्रविष्ट के अर्थाधिकार बारह हैं। गणधर ग्रंथित सूत्रों का उल्लेख अर्थाधिकार के रूप में किया जाता है। सिद्धान्त ग्रंथों आदि में पर्याप्त प्रकाश डालते हुए उनके भेद भी किए हैं। उनकी प्रामाणिक संख्या भी दी है और यह भी प्रतिपादित किया है कि अंग प्रविष्ट स्वसमय और परसमय इन दोनों का प्रतिपादन करते हैं। इनमें चार करोड़ पंद्रह लाख दो हजार पद हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अतकृतदशा, अनुत्तरोपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण और विपाकसूत्र ये ग्यारह अंग ग्रंथ के कुल पदों का उक्त जोड़ है।

विपाकसूत्र का स्थान :- आगम साहित्य के दो विभाग किए जाते हैं— सूत्रागम और अर्थागम। मूल रूप से जो भी सूत्र कहे गए हैं, वे गणधर द्वारा सूत्र रूप में हैं। उन्हें द्वादशांग की संज्ञा दी गई है। द्वादशांगों में विपाकसूत्र का ग्यारहवाँ स्थान है। विपाकसूत्र में एक करोड़ चौरासी लाख पद है। पुण्ण-पाव- कम्माणं-विवायं (ष.1/108) अर्थात् विपाकसूत्र नामक अंग आगम में पुण्य और पाप कर्मों के फलों का वर्णन है।

विपाक शब्द का अर्थ :- कम्माणमुदओ उदीरणा वा विवागो णाम। (धवला, 14/5)। आचार्य वीरसेन ने कर्मों के उदय और उदीरणा को विपाक कहा है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार कषाय की तीव्रता व मंदता आदि भावों की विशेषता से विशिष्ट जो कर्म शक्ति होती है वह नाना प्रकार के पाक अर्थात् फल प्रदान करने में समर्थ होती है, इसलिए उन्होंने कहा “विशिष्टो नानाविधो वा पाको विपाकः।” अर्थात् विशिष्ट फल का नाम विपाक है। आचार्य अकलक देव न विपाक का व्याख्या करते हुए यह कथन किया कि जिन कर्मों से फल शक्ति विविध रूप को प्राप्त होती है उसका नाम विपाक है। विपाक ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के अनुग्रह से तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के कारण नाना प्रकार के पाक को प्राप्त होती है। समवायांग वृत्ति में कथन किया गया - “विपचनं विपाकः शुभाशुभकर्म परिणामः” (समवायांग अभयदेव वृ. 146) अर्थात् विपचन का नाम विपाक है। शुभ और अशुभ कर्म परिणाम का फलदान विपाक कहलाता है।

विपाकसूत्र स्वरूप एवं विश्लेषण :- “विपाकसूत्रे सुकृत दुश्कृतानाम विपाकश्चिंतयते” (त. वा. 1/20)। अर्थात् विपाकसूत्र में सुकृत और दुष्कृत विपाक पर विचार किया गया है।

“विवायसुतं णाम अंग दव्व-खेत्त कालभावे-अस्सिइण सुहासुह-कम्माणं विवायं वण्णेदि” (जय. धवला, 1/32)। विपाकसूत्र में द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव को लेकर शुभ एवं अशुभ कर्मों के विपाक का वर्णन किया गया है। अंगपण्णत्ति ग्रंथ में एक करोड़ चौरासी लाख पद प्रमाण विपाकसूत्र को बतलाया है एवं यह भी कथन किया है कि कर्मों के शुभाशुभ भाव तीव्रता, मंदता आदि की विशेषताओं से युक्त होते हैं, वे तीव्र, मंद आदि भाव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों ही अपेक्षाओं से कर्म और कर्म की उदीरणा का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रतिपादन में भूत, भविष्य और वर्तमान की दृष्टि भी होती है।

विपाकसूत्र परिचय :- शुभाशुभ कर्मों के परिणामों का दृष्टांत पूर्वक जिसमें कथन किया गया है, वह ग्यारहवाँ अंग आगम विपाकसूत्र है। “विवागसुयस्स दो

सुयक्खंधा पन्नत्ता, तं जहा-दुहविवागा य सुहविवागा य" (वि.सू. पृ. 9) अर्थात् विपाकसूत्र के दो श्रुतस्कंध हैं- दुःखविपाक और सुखविपाक। जिन्हें समवायांगसूत्र में सुक्कड-दुक्कड कहा गया है। नन्दीसूत्र के विवेचनकर्ता ने दुखविपाक व सुखविपाक विपाक के ये दो भेद किये हैं। स्थानांगसूत्र में भी शुभ और अशुभ ये दो भेद किए गये हैं। अर्थात् यह तो निश्चित है कि विपाकसूत्र पुण्य और पाप इन दोनों ही कर्मों के फल पर विचार करता है। विपाकसूत्र में सर्वप्रथम दुखविपाक पर विचार किया गया तत्पश्चात् द्वितीय श्रुतस्कंध में सुखविपाक के विषय में कथन किया गया है।

विपाकसूत्र का प्रतिपाद्य विषय - "पुण्य-पाप-कम्माणं विवाय" अर्थात् पुण्य एवं पाप कर्मों के फल की दशा या अवस्था का चित्रण करना इसका प्रमुख उद्देश्य है। विपाकसूत्र में दुःख एवं सुख दोनों के फल विवेचन में कथाओं का आश्रय लिया गया है। कथाओं में भी उनके पूर्वजन्म का विवेचन, वर्तमान भव और भविष्य के फल आदि पर विचार किया गया है। जैसा कि विपाकसूत्र का प्रतिपाद्य विषय है, उसी के अनुसार अशुभ और शुभ, दुःख और सुख रूप कर्म प्रकृतियों का आश्रय लिया गया है। पापकर्म दुःखविपाक है और पुण्यकर्म सुखविपाक है।

दुःखविपाक का विश्लेषण :- "दुहविवागाणं दस अञ्जयणा" अर्थात् दुखविपाक के दस अध्ययन हैं।

मियापुत्ते य उञ्जियए अभग्गा सगडे वहस्सइ नन्दी।

उंवर सोरियदत्ते य देवदत्ता य अंजु य।।

मृगापुत्र, उञ्जितक, अभग्गसेन, शकर, वृहस्पति, नन्दीवर्धन, उंवरदत्त, शोरियदत्त, देवदत्ता और अंजु ये दस कथानक दुखविपाक रूप प्रथम श्रुतस्कंध में वर्णित हैं।

प्रथम कथानक मृगापुत्र का है जो क्षत्रियकुमार है। उसकी माता का नाम मृगा है और पिता का नाम विजय है। वह जन्म से ही अवयवहीन अंधा, गूंगा, बहरा, लूला और हुंड शरीर वाला था। उसके आकार-प्रकार नाममात्र के थे, इसलिए उसे

गुप्त रूप में रखकर पालन-पोषण किया गया। इस दुख विपाक के दारुण दृश्य पर विचार करके विपाकसूत्र में इस बात की ओर संकेत किया कि जो व्यक्ति रूपवान होकर भी दूसरे का निन्दक बनता है वह अशुभ कर्मों के कारण मनुष्य जन्म लेकर भी नारकीय वेदनाओं का अनुभव करता है। मृगापुत्र के पूर्व जन्म के बाद भविष्य पर भी विचार किया गया और यह कथन किया गया कि कई योनियों के पश्चात् मृगापुत्र सुपतिष्ठपुर नगर में जन्म लेगा और युवावस्था को प्राप्त होकर वहीं अनगार धर्म को प्राप्त होगा। मृगापुत्र के दीर्घकालिक भव भ्रमण में मनुष्य पर्याय ही नहीं है अपितु हिंसक सिंह पर्याय, सरीसृप पर्याय, स्त्री पर्याय, जलचर पर्याय, स्थलचर पर्याय आदि समस्त पर्याय प्राप्त करने के उपरांत भी मृगापुत्र ने दुख ही दुख प्राप्त किया।

मृगापुत्र के अतिरिक्त उज्जितक, अभग्नसेन आदि की कथाएँ असीम दुखों का वर्णन करती हैं। उज्जितक एक रूपवान बालक था, जो कुरूप हो गया था, उसकी करूपता का मूल कारण पूर्व जन्म का कर्म ही था। अभग्नसेन एक राजपुरुष था, जो कृतघ्न था। उसने आठ लघुपिताओं (चाचाओं) को कई प्रकार से प्रताड़ित किया। उन्हें मांस खिलाया, रूधिरपान आदि कराया। ऐसा ही अभग्नसेन भी अपने पापकर्मों के कारण निन्दनीय कार्य को प्राप्त होता है। वह विविध पर्यायों को धारण करता है, सूली पर चढ़ाया जाता है, प्रथम रत्नप्रभा नामक नरक को प्राप्त होता है, वहीं एक अन्य जन्म में वह शूकर भी बनता है। शकट, एक सार्थवाह का पुत्र था जो अत्यन्त रूपवान भी था परन्तु यह कहा जाता है कि पूर्व जन्म में उसने कई प्रकार के पशुओं को एक बाड़े में बंधक बनाकर रखा था उनसे वह मांस आदि प्राप्त करता था, वह सप्तकुव्यसनी था। वह चांडाल कुल में भी उत्पन्न हुआ। जलचर जीव के रूप में वह मत्स्य बना।

बृहस्पतिदत्त, सोमदत्त पुरोहित का पुत्र था, वसुदत्ता माता उस पुत्र प्राप्ति से अत्यन्त हर्षित थी परन्तु वही बालक शूद्र कार्य करने लगता है जिसके कारण भव भवान्तर में दुख को प्राप्त होता है, वह हस्तिनापुर नगर में हरिण भी बनता है। व्याघ्र द्वारा मारा जाता है। इसके अनन्तर वह श्रेष्ठी कुल में भी उत्पन्न होता है, वहाँ से मनुष्य जन्म के बाद वह महाविदेह को भी प्राप्त होता है।

नन्दिवर्धन, मथुरा नगरी के राजा श्रीदास और रानी बंधुश्री का पुत्र था जो अत्यन्त ही कृतघ्नी बन जाता है। वह जेल का जेलर भी बनता है। उस समय बिना प्रयोजन ही वह लोगों को कष्ट देता है। वही दुष्परिणामी पिवृवध का दुःसंकल्प करने वाला व्यक्ति एक पर्याय में मत्स्य भी होता है। इसके अनन्तर कुछ शुभ भावों के कारण वह मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है तथा यहीं से चारित्र मार्ग पर बढ़ता है। उम्बरदत्त और शोरियदत्त के जन्म जन्मान्तर अत्यन्त ही कष्टदायी हैं। देवदत्ता और अंजू का जीवन भी अत्यन्त दुःखमय है।

सुखविपाक :- सुखविपाक नामक द्वितीय श्रुतस्कंध में अच्छे कर्मों के परिणामों पर विचार किया गया है। जो भी व्यक्ति मनुष्य जन्म प्राप्त कर अच्छे कर्म करता है, धर्मध्यान करता है, निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता है, वह चारित्र धर्म को बढ़ाता है और निम्न विशेषताओं को प्राप्त करता है :-

इष्ट	: उचित कार्य, योग्य कार्य।
इष्टरूप	: शरीर की आकृति, आकार आदि की मनोरमता।
कान्त	: रमणीयता।
कान्तरूप	: सुन्दर स्वभाव।
प्रिय	: स्वभाव से ही प्रेम को उत्पन्न करने वाला।
मनोज्ञ-मनोज्ञरूप	: अच्छे से अच्छे रूप वाला।
मनोम-मनोमा	: अत्यन्त नम्र एवं मृदु स्वभाव वाला।
सोम	: समभाव एवं चंद्रमा के सदृश्य स्वरूप वाला।
सुभग	: ललनाओं को प्रिय लगने वाला।
स्वरूप	: उत्तम रूप, आकार एवं माधुर्य से परिपूर्ण।
प्रियदर्शन	: समस्त जनों के लिए दर्शनीय।

सुखविपाक का फल :- सुखविपाक में अच्छे कर्म करने वाले निम्न दस श्रावकों के वृत्तान्त दिये गये हैं- सुबाहु, भद्रनन्दी, सुजात, सुवासव, जिनदास, धनपति, महाबल, भद्रनन्दी, महचन्द्र और वरदत्त, ये दस ऐसे गृहस्थ हैं जो इष्ट, इष्टरूप,

क्रांतरूप आदि वाले थे। सुबाहु नामक श्रावक अत्यन्त बलशाली था वह बहतर कलाओं में प्रवीण तथा विषय भोगों में भी आसक्त था। किसी समय उस श्रावक ने धर्मदेशना सुनी। उसने बारह व्रत के स्वरूप पर विचार किया, फिर उन्हें अंगीकार कर लिया। वह जिज्ञासु बन गया तथा दान देने में श्रेष्ठ माना जाने लगा। दानों में भी आहारदान की उदारता की प्रसिद्धि के कारण वह अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। वही सुबाहु साधुधर्म स्वीकार करता है। भद्रनन्दी यथानाम तथागुण वाला था। उसने भी श्रावक धर्म स्वीकार किया और विधिवत् दुखों का अन्त करने के लिए मुक्तिमार्ग को अपनाया। आहारदान में निपुण सुजात कुमार, सुवासवकुमार, जिनदास, धनपति, महाबल, भद्रनन्दी, महाचन्द्र और वरदत्त आदि ऐसे श्रावक हैं, जिन्होंने न केवल श्रमणोपासक बनकर आहारदान दिया, अपितु स्वयं श्रमण मार्ग अंगीकार किया।

विपाकसूत्र की समीक्षा :- विपाकसूत्र में कर्म, कर्मफल और इसके परिणाम का विशेष रूप से विवेचन हुआ है परन्तु इस आगम में निम्न महत्वपूर्ण तथ्य भी हैं :-

ऐतिहासिक तथ्य :- महावीर, सुधर्म, जम्बूस्वामी आदि के साथ-साथ दस दुख विपाक के पुरुषों और दस ही सुख विपाक के पुरुषों का इसमें उल्लेख है।

शासन व्यवस्था :- चम्पानगरी और उसके विविध प्रकार के शासकों का उल्लेख इस ग्रंथ में हुआ है। धार्मिक दृष्टि से जिनशासन का एवं राजनैतिक दृष्टि से अलग-अलग व्यवस्थाओं का उल्लेख किया गया है। राजा, राजपुत्र, युवराज, राज्याभिषेक, अंतःपुर आदि का इसमें वर्णन हुआ है।

न्याय व्यवस्था :- अभग्नसेन के प्रसंग में चोरों द्वारा चुराई गई वस्तुओं के लिए क्या दण्ड होना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए कथन किया गया है कि चोर को ग्रामघात एवं नगरघात के कारण पैरों व हाथों में जंजीर डाली जाए। चोरपल्ली चोरों का स्थान था। उस स्थान का दंडनायकों के गुप्तचरों द्वारा पता लगाया गया और उन स्थानों को या मार्गों को घेर लिया गया, जहाँ से चोर आते थे। उन्हें पकड़ा गया, बांधा गया तथा उनके अपराध अनुसार उन्हें सजा भी दी गई।

अपराध व दंड व्यवस्था :- चोरी करने वाले के चोर्य कर्म के साथ-साथ कई अन्य व्यवस्थाएँ भी थी। उन व्यवस्थाओं में सामनीति, भेदनीति, उपधान नीति, शिष्टभ्रम, अंतरंग नीति भी दंड व्यवस्था के अनुकूल थी। दंडनायक शत्रु सेना को परास्त करता, सेना का नाश करता और वीरों का घात करता। अपराधी को राजगृह के कारागृह में डालना भी दंडनायक का कार्य था। अभग्नसेन के प्रसंग में इस तरह के अपराध व दंड को पर्याप्त महत्व दिया गया है। बृहस्पतिदत्त के कथानक में राजा द्वारा जो दंड व्यवस्था की गई वह क्रूर-कर्म नामक दंड व्यवस्था बुरी मानी गई। नन्दीवर्धन के दृष्टान्त में साम, दंड, भेद आदि की नीति को दर्शाया गया है। इस अध्ययन में चारकपाल अर्थात् जेलर के अत्याचार में शिलाखंड, चाबुकप्रहार, मुद्गर, आदि यंत्र विशेष, सामान्य रस्सियाँ, वल्कल रस्सियाँ ऊन की रस्सियाँ, बाँस के चाबुक, बेंत के चाबुक, हस्तांदुक (हाथ बांधने की हथकड़ी) पादांदुख (पैरों की जंजीर), हडी (काठ की बेड़ी), निगड (लोहे की बेड़ी) आदि के अतिरिक्त करपत्र, क्षुरपत्र, असिपत्र आदि शस्त्रों का उल्लेख है। इन्हें राजा अपने अंगरक्षकों के द्वारा दंड व्यवस्था में प्रयुक्त करवाता था।

सैन्य व्यवस्था :- युद्ध में युद्धनीति, अस्त्र-शस्त्र, चतुरंगिणी सेना का जहाँ महत्व है वहीं पर कवच, शरीर रक्षक यंत्र, उपकरण, हस्तिशूल; उदरबंधन आदि का उल्लेख उज्जितक कथानक में आया है। इसी कथानक में युद्धनीति, अश्व और हस्ती का भी उल्लेख हुआ है।

राज कर व्यवस्था :- शासन चलाने के लिए कर लिया जाता था। उनमें से उच्छुल्क, उटकर, अभटप्रवेश, अर्दंडिम, कुर्दंडिम, अधर्मिम आदि करों का उल्लेख अभग्नसेन के प्रसंग में हुआ है। राजा महाबल ने कूटकार्यशाला के निमित्त, राजदेहकर में बारह प्रकार के करों को नहीं लेने की घोषणा करवाई।

आर्थिक व्यवस्था :- अर्थ सुधार कार्यक्रमों के अंतर्गत शासनकर्ता विविध प्रकार की खेतियों को महत्व देता है। ग्रामों का विस्तार करवाता है। खेतों एवं उत्पादन योग्य स्थानों का भी चयन करवाता है, इत्यादि विवेचन हुआ है।

सामाजिक व्यवस्था :- परिवार, कुटुम्ब, वर्ण, जाति, अध्ययन, अध्यापन, श्रेणी विभाजन आदि सभी कुछ सामाजिक व्यवस्था में आते हैं। विवाह प्रसंग, माता-पिता, भाई-बंधु, उत्सव, कला, कौशल, शिक्षानीति, रीति-रिवाज आदि समाज की व्यवस्थाएँ हैं। विपाकसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन के प्रारम्भिक चरण में समाज के विविध महत्वपूर्ण प्रसंगों का उल्लेख किया गया है। इस उल्लेख में कुल सम्पन्नता, बल सम्पन्नता, विद्या, साधना, नियम, उपनियम, तपश्चर्या, श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी आदि का उल्लेख किया गया है।

शिक्षा :- द्वितीय अध्ययन के उज्झितक प्रसंग में विविध प्रकार की विद्याओं का उल्लेख है। 72 कलाएँ, गणिकाओं के 64 गुण, 29 विषयगुण, 21 रतिगुण, 32 कामशास्त्र के अंग, सुक्तनवअंग, 18 देशी भाषाएँ, गीत-रति, गांधर्व, नाट्यकला, उत्तमगतिगमन, स्तनसौंदर्य, विलासभवन, विद्याशाला, विद्याकेन्द्र आदि का इसमें उल्लेख है। विद्यार्थी सम्मान, वेदज्ञाता का मान आदि भी विपाकसूत्र में वर्णित है। सोमदत्त चार वेदों में निपुण था। सोमदत्त का पुत्र बृहस्पतिदत्त भी वेद ज्ञानी था, परन्तु युवावस्था को प्राप्त होते ही वह धूलिक्रीड़ा को महत्व देने लगा, अर्थात् अपनी विद्या को छोड़ कर अन्य विद्याओं का उपयोग करने लगा, इत्यादि उल्लेख हुआ है।

विपाकसूत्र में वर्णित आयुर्विज्ञान :- आयु के आठ विज्ञान हैं :-

1. कुमारभिच्च (कौमारभृत्य) (बाल्यरोग की पहचान)
2. सालाग (शालाक्य) (नाक-कान आदि वेदना)
3. शल्यहत्थ (शल्यहत्य) (गोली आदि निकालना)
4. कायतिगिच्छा (कायचिकित्सा) (देहगत उपचार)
5. जंगोल (जांगुल) (विष विमर्दन करना)
6. भुएविज्जा (भूतविद्या) (भूत निग्रह करना)
7. रसायण (व्याधिविनाशक रसों का उत्पादन)
8. वाजिकरण (बलवर्धक औषधियों का निर्माण करना)

विपाकसूत्र में वर्णित रोग :- खुजली, कोढ़, जलोदर, भगंदर, बवासीर,

खांसी, स्वास, मुख सूजना, नाक सूजना, नाक-कान-गला रूकना, घाव होना, थिव-थिव होना, कीड़े पड़ना आदि कई रोग विपाकसूत्र में वर्णित हैं।

वैद्य :- रोग का जानकार वैद्य होता था, जिसे चिकित्सक भी कहा गया। अंजु नामक दसवें अध्ययन में वैद्य एवं वैद्य पुत्र का उल्लेख है। उंवरदत्त में वैद्य के तीन भेद किए हैं- सुहस्त, शिवहस्त व लघुहस्त। इसके अतिरिक्त रोग के उपचार आहारदोष, शारीरिक दोष, श्रेणित दोष आदि का भी कथन किया गया है।

इस प्रकार विपाकसूत्र श्रमण परम्परा का ज्ञान-विज्ञान का ग्रंथ है। इसके मूल में कथा व कथा के उद्देश्य के साथ-साथ सभी प्रकार के विवेचन इस बात की प्रामाणिकता को व्यक्त करते हैं कि यह शुभ एवं अशुभ परिणामों का सूत्र ही नहीं, शुभ से स्वस्थ जीवन व अशुभ से रोगजन्य असाध्य बिमारियाँ, विविध दंड, नीच कर्म एवं विविध दुख प्राप्त होने का कथन करता है। विपाकसूत्र के समग्र विवेचन से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ व्यक्ति को दुष्कर्मों से निवृत्ति और सद्कर्मों की ओर प्रवृत्ति हेतु प्रेरित करने वाला महत्वपूर्ण अंग ग्रंथ है।

□ प्रभारी एवं शोधधिकारी

आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
पद्मिनी मार्ग, उदयपुर - 313 001 (राज.)

द्विवादनचिंतन-दृष्टिवादः एक अनुचिंतन

□ डॉ. उदयचन्द जैन

दिट्टिवाए णं सव्व-भावपरूवणया अधविज्जति। - (सम. पृष्ठ191)

“दिट्टिवाए णं सव्व-भावपरूवणा अधविज्जइ।” - (नन्दी सूत्र 56)

जिस श्रुत में सब भावों/अर्थों/पदार्थों की प्ररूपणा की जाती है, वह दृष्टिवाद है। अंग-आगमों में उसका नाम अन्त में लिया जाता है। स्थानांगसूत्र के दशम स्थान में महावीर द्वारा स्वसमय और परसमय के निरूपण करने वाले द्वादशांक गणपिटक का व्याख्यान/प्रज्ञापन/ प्ररूपण/दर्शन/निदर्शन/उपदर्शन इस प्रकार किया है :-

समणे भगवं महावीरे एगं च ण महं चित्त-विचित्तपक्खगं पडिबुद्धे :-
दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेति पण्णवेति परूवेति दंसेति णिदंसेति उवदंसेति तं जहा-
आयारं (सुयगडं ठाणं समवायं विवाहपण्णत्ति णायधम्मकहाओ उवासगदसाओ
अंतगडदसाओ, अणुत्तरोवाइयदसाओ पण्हाबागरणाइं विवागसुयं) दिट्टिवायं।
(10/103)

उक्त आगमों की गणना अर्थपदों में की जाती है, इसलिए ये अंगश्रुत कहलाते हैं, जिसका प्रमाण संख्यात है। संघाद-पडिवत्ति -अणिओगद्वारेहि विं संखेज्जमंगसुदं
अवा अणंतं। पमेयमेत्तंगसुद -वियप्युवलंभादो। वत्तव्व स-पर-समया अर्थाहियारो
बारसविहो।² अस्सि च दादसमंगं दिट्टिप्पवादो त्ति।

दृष्टिवाद को धवलाकार वीरसेन आचार्य ने दृष्टिप्रवाद³ भी कहा है। नन्दीसूत्र की हरिभद्र वृत्ति में दृष्टिवाद को दृष्टिपात भी कहा है:-

“दृष्टिवादेन दृष्टिपातेन दृष्टिवादे दृष्टिपाते वा सर्वभावप्ररूपणा आख्यायते।”

दृष्टिवाद/दृष्टिपात से सभी भावों/पदार्थों की प्ररूपणा होती है अथवा दृष्टिवाद या दृष्टिपात में सर्वभाव की प्ररूपणा का कथन किया जाता है।

दृष्टिवाद की व्युत्पत्ति :-

(1) दिट्ठीओ वददीदि दिट्टिवादं ति।⁵

इसमें दृष्टियों/विचारों का कथन है, इसलिए दृष्टिवाद है।

- (2) दृष्ट्यो दर्शनानि, वदनं वादः दृष्टीनां वादः दृष्टिवादः, दृष्टीनां वा पातो यत्रासौ दृष्टिपातः, सर्वनयदृष्टयः एवेहाख्यायन्त इत्यर्थः।¹⁶

(दिट्टीणं दंसणाणि वदणं-वादो दिट्टीणं वादो दिट्टीवादो, दिट्टीणं वा पादो जत्थ तत्थ दिट्टिपादो, सव्वणय-दिट्टी एव ईहादि-अक्खाणं ति अत्थो।)

अर्थात् दृष्टि का अर्थ दर्शन है, वाद का अर्थ वदन है अतः जहाँ दृष्टियों का/विविध विचारों/दर्शनों के अभिप्राय हैं वहाँ दृष्टिवाद है/या जहाँ पर नाना प्रकार की दृष्टियों का समागम होता है वहाँ दृष्टिपात/दृष्टिवाद है। जो सर्वनय की दृष्टि का ही प्रयोजन है।

- (3) दृष्ट्यो दर्शनापि नयाः उद्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवतरन्ति यस्मिन्वर्णे दृष्टिवादो दृष्टिपातो वा।¹⁷

(दिट्टीणं दंसणाणि णया, उज्जंते अहिहीयंते पडंति वा अवतरंति जस्सिं तस्य दृट्टिवादो दिट्टिपादो वा।)

अर्थात् दृष्टियों का नाम दर्शन है और दर्शन विविधनय/मार्ग हैं अर्थात् जिसमें विविधनय है, विविधनय कथन किए जाते हैं, समाहित हैं, या प्रकट होते हैं वहाँ दृष्टिवाद या दृष्टिपात होता है।

“दिट्ठिवादस्य पंच-अत्थाहियारा”¹⁷ दृष्टिवाद के पांच अधिकार हैं :- परियम्म-सुत्त-पढमाणयोग- पुव्वगय-चूलिया चेदि।

- (क) परियम्मं पंचविहं :- चंदपण्णत्ती सूरपण्णत्ती जंबूदीवपण्णत्ती दीवसायर-पण्णत्ती वियाह-पण्णत्ती चेदि-

(i) चंदपण्णत्ती - छत्तीस-लक्ख-पंच-पद-सहस्सेहि (3605000)

चंदाउ-परिवारिद्धि-गई-बिंबुस्सेह-वण्णणं कुणदि।

(ii) सूरपण्णत्ती - पंच-लक्ख-तिण्णि-सहस्सेहि (503000)

सूरस्साउ-भोगावभोग-परिवारिद्धि-गई-बिंबुस्सेह-दिण-किरणुज्जोव-वण्णणं कुणदि।

(iii) जबूदीवपण्णत्ती- तिण्णि-लक्ख-पंचवीस -पद-सहस्सेहि
(325000)

जंबूदीवे णणविह-मणुयाण-भोग-कम्म-भूमियाणं अण्णेसिं च
पव्वद-दह-णइ-वेइया- बंसावासकट्टिम- जिणहरादीणं वण्णणं
कुणदि।

(vi) दीवसायर-पण्णत्ती- बावण्ण-लक्ख-छतीस-पद- सहस्सेहि
(5236000)

उद्धार-पल्लपमाणेण दीवसायरपमाणं अण्णं पि
दीवसायरंतब्भूदस्थं बहुभेयं वण्णेदि।

(v) वियाहपण्णत्ती- चदुरासिदी-लक्ख-छतीस-पद- सहस्सेहि
(8436000)

रूवि-अजीवदव्वं अरूवि-अजीवदव्वं भवसिद्धिय-अ
भवसिद्धिय-रासिं च वण्णेदि।

दिट्ठिवादस्स अत्थाहियारो- (1) सुत्तं अट्टासीदि-लक्ख पदेहि
(8800000)

एससु पदेसुं किं वण्णणं अत्थि -

(क) जीवो अबंधओ अलेसओ अकत्ता भोत्ता णिग्गुणो सव्वगओ अणुमेत्तो।

(ख) णत्थि जीवो, जीवो चेव अत्थि पुढवियादीणं पंच भूद-समुदएणं जीवो
उप्पज्जदि, णिच्चेदणो (चेदणरहिदो) णाणेण विणा सचेदणो णिच्चो
अणिच्चो अप्पे त्ति वण्णेदि। अस्सिं विभिण्ण-वादाणं वण्णणं-
तं जघा (2) तेरासियं - गोसालप्पवत्तिदा आजीविगा पासंडिणा या

ते सव्वं वत्थुं ति/ते तयप्पणं इच्छंति :-

(i) जीवो, अजीवो जीवाजीवा

(ii) लोगा, अलोगा, लोगालोगा या

(iii) सदेव सदसेव सदसदेव।

द्व्वत्थिगं पज्जवत्थिगं द्व्वय-पज्जवत्थिगं च।

-(नन्दिसूत्र पृ. 269)

(2) **णियदिवाद :-** जनु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु॥ गो.5 क.882)

(3) **विण्णाणवादं-** (बोद्ध-विसेसो मण्णदे) पडिभासमाणस्स असेसस्स बत्थुणो णाण-सरूवंतो पविट्टत्थ्य सिद्धीए संवेदणं पारमत्थिगं तच्चं।
तथाहि जं अवभासदे तं णाणं जधा सुहादी, अवभासते च भावा
(न्यायक. 119)

(4) **सद्दवादं-**(सद्दवं भवादो) सयलं योगजमयोगजं वा पच्चक्खं
सद्द-बंधुल्लेहेव अवभासदे। (न्या.पृ. 139)

(5) **पहाणवादं-** सत्त-रज-तमसं सम्म-अवट्ठ पहाणं। पहाणस्य वादो
पहाणवादो संखवादो।

(6) **द्व्ववादं-** (द्व्वेगंतवादी णिच्चवादो) जं काविलं दरिसणं एयं
द्व्वट्टियस्य वत्तव्वं।

(7) **पुरिसवादं -** आलसद्धो णिरुच्छाहो फलं किं चि ण भुंजदे।
थणक्खीरादिपाणं वा पउस्सेण विणा न हि॥ (गो क 890)

पुरिसवादो-पुरिसदुवेदवादो-एक्को चेव महत्त्वा पुरिसो देवा य।

सव्वंग-णिगूढो वि य सचेदणो णिगुणो परमो॥ गो.क.881

इच्चादि-विविह-वदणं वण्णणं जस्सिं अत्थि सो दिट्ठिवादो त्ति घट्टदे।

समयायंगसुत्तमिह दुवालसंगे पिडगे गणिपिडगे दिट्ठिवादं वारहंगं पण्णत्तं।

अस्सिं पण्हो कदो- से किं तं दिट्ठिवाए?

अस्स पण्हस्स उत्तरो- दिट्ठिवाए णं सव्व-भाव-परुवणया आघरिज्जति। पुणो

पण्ण-कदो णो तध वि पण्णत्तं - से समासओ पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा-परिकम्मं
सुत्ताइं पुंवगयं अणुओगो चूलिया। छक्खंडागम-धवला टीगाए वि दिट्ठिवादस्स पंचभेदा

किदा तेसुं एगमेत्त-भेदो-पढमाणुओगो (छक्खंडागम) अणुओगो (सम.) सो भेदो वि समाणो।

परियम्मे छक्खंडागमे विविह-वादाणं वण्णणं अत्थि। समवायंगे परियम्मस्स सत्त भेदा कदा- सिद्धसेणिया-परिकम्मं, मणुस्ससेणियापरिकम्मे, पुट्टसेणिया परिकम्मे, ओगाहण-सेणिया परिकम्मे, उवसंपज्ज, सेणियापरिकम्मे विप्पजह-सेणियापरिकम्मे, चुबआ-चुअ-सेणियापरिकम्मे।

पुणो सिद्धसेणियापरिकम्मस्स, मणुस्ससेणिया परिकम्मकस्स चोद्दह भेदा रूकदा। पुट्टसेणियाए चुआचुअ-सेणियापरिकम्मं पेरंतं एक्कार सविहाइं। एच्चेयाइं सत्त-परिकम्माइं ससमइयाइं, सत्त-आजीवियाइं छ चउक्कणइयाइं सत्त तेरासियाइं। एवामेव सपुव्वावरेण सत्त परिकम्माइं तेसीति भवंतीतिमक्खयाइं। (पुत्त-वण्णणं जिणागमे)

- (i) सत्त आजीविगा
- (ii) छट्टपरियम्म-चदुक्कणयाइं
- (iii) सत्ततेरासिगा।

इमे सत्ते परियम्माइं पुव्वावर-भेयाणं तिरासियाइं। छक्खंडागमे चंदपण्णत्ती सूरपण्णत्ती-जंबू दीवपण्णत्ती-दीवसायरपण्णत्ती इमे पंच परियम्मे पण्णत्ते।

(ख) सुत्ताइं - अट्टासी अहियारेसुं विहत्ता - समवायंगे पण्णत्तं- उजुगं (परिणया परिणयं/परिणता परिणतं) बहुभंगियं विपच्चइयं (विजय चप्रियं) अणंतरं परंपरं समाणं (समाणसं) संभिण्णं, आहच्चायं (अहव्वाय) सोवत्थिमं णंदावत्तं बहुलं पुट्टापुट्टं वियावत्तं एवंभूयं दुआवत्तं वत्तमाणप्पयं समभिरूढं सव्वओमद्दं पणास दुप्पडिगहं।

- (i) इच्चेयाइं वावीसं सुत्ताइं छिण्णछेअणइआइं ससमय-सुत्तपरिवाडीए -
- (ii) इच्चेआइं वावीसं सुत्ताइं अधिण्ण-छेयणइयाइं आजीविय - सुत्तपरिवाडीए -

(iii) इच्चेआई वावीसं सुत्ताइं तिकणइयाइं तेरासिय-सुत्त परिवाडीए।

(vi) इच्चेआई वावीसं सुत्ताइं चउक्क-णइयाइं स-समय-सुत्त परिवाडीए।

एवामेव सपुव्वारेण अट्टासीति सुत्ताइं भवन्ती - तिमक्खयाइं।

छकखंडागमस्स धवलाटीगाएं एसो णिद्धिट्ठो वि अत्थि णं सुत्तस्स अट्टासी अहियारेरसु चदुण्ह-महियारणमत्थ-णिद्देसो।

पढमो अबंधयाणं विदियो तेरासियाण बोद्धव्वो॥

तदियो य णियदि-पक्खे हवदि चदुत्थो स-समयम्मि॥

(ग) पढमाणियोगो :- पंच-सहस्स-पदेहि (5000) पुराणं वण्णेदि -

बारस-विहं पुराणं जगदिट्ठं जिणवरेहि सव्वेहिं।

तं सव्वं वण्णेदि हु जिणवंसे रायवंसे य॥

पढमो अरहंताणं विदियो पुण चक्कवट्ठि-वंसो दु।

विज्जाहराणं तदियो चदुत्थयो वासुदेवाणं॥

चारण-वंसो तह पंचमो दु छट्ठो य पण्ण-समणाणं।

सत्तमो कुरुवंसो अट्टमओ तह य हरिवंसो॥

णवमो य इक्खुयाणं दसमो वि य कासियाण बोद्धव्वो।

घाईणेक्कारसमो वारसमो णाहवंसो दु॥

1 धवला पु.1, पृ. (13)

समवायंगम्हि जो अणुओगस्स णिरुवणो अत्थि तस्स दुविहो पण्णत्तो-मूल-पढमाणुओगे य गंडियाणुओगे।

मूल-पढमागुओगे- एत्थ णं अरहंताणं भगवंताणं पुव्वभवा देवलोग- गमणाणि आउं चवणणि जम्मणाणि अ अभिसेया रायवर-सिरीओ सीयाओ पव्वज्जावो तवा य भत्ता केवलणाणुप्पाया अ तित्थ-पवत्तणाणि अ संघणणं संठाणं उच्चत्तं आउं वन्नविभागो सीसागणा गणहरा य अज्जा पवत्तणीओ संघस्स अउव्विहस्स जं वावि

परिणामं जिण-मणपज्जव-ओहिणाण-सम्मत्त-सुयणाणिणो य वाई अणुत्तराई य जत्तिया सिद्धा पाओवगआ य जे जहिं जत्तियाईं छेअइत्ता अंतगडा मुणिवद्धितमा तम-रओघविप्पमुक्का सिद्धिपहमणुत्तरं च पत्ता, एए अण्णे य एवमाइया भावा मूलपढमाणुओगे कहिआ।”

गंडियाणुओगो अणेगविहो :- कुलगरगंडियाओ तित्थगरगंडियाओ गणहर-गंडडियाओ चक्कहरगंडियाओ दसारंगडियाओ बलदेवगंडियाओ वासुदेवगंडियाओ हरिवंसगंडियाओ भद्दबाहुगंडियाओ तवोकम्मगंडियाओ चित्तंतरगंडियाओ उस्सप्पिणीगंडियाओ ओसप्पिणीगंडियाओ तवोकम्म-अमर-णर-तिरिय-गइ-गमण-विविह-परियट्टणाणुओगे एवमाइयाओ।

मूलपढमाणुओगमिह मूलत्तो अरहंताणं भगवंताणं पुव्वभवानं वण्णणेव, गंडियाणुओगमिह कुलगार-तित्थसराणादितिसट्टिसलागा-पुरिसाणं वण्णणं।

(घ) पुव्वगदो - पुव्वगयं पंचाणउदि-कोडि-पण्णास-लक्ख-पंच पदेहि (955000005) उप्पायव्वय-धुवत्तादीणं वण्णणं कुणदि।

पुव्वगदउवक्कमो - सो पंचविहो -

(i) आणुपुव्वी :-

(क) पुव्वाणुपुव्वी

(ख) पच्छाणुपुव्वी

(ग) जत्थत्थाणुपुव्वी त्ति तिविहा।

(ii) णामं-पुण्णानं गयं पत्त-पुव्व-सरूवं वा पुव्वगयमिदि गुणणामं (पुजुगदस्स णिव्वत्ती)

(iii) पमाणं- अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जं, अत्थेदा पुण अणंतं।

(vi) अत्थाहियारो - चोद्दसविहो-उप्पादपुव्वहं अग्गेणियं वीरियाणुप्पवादं

अत्थि-णत्थिपवादं णाणप्पवादं सच्चप्पवादं अप्पपवादं

कम्मप्पवादं पच्चक्खाणपवादं बिज्जाणुप्वादं कल्लाणपवादं
पाणावायं किरियाविसालं लोबिंदुसारं च।

- (1) उप्पादपुव्वं - दसण्हं बत्थूणं 10, बे-सद-पाहुडाणं 200, कोडि-पदेहि जीव-काल-पोग्गलाणमुप्पाद व्वय-धुवत्तं वण्णेदि। अस्सिं संसारमिह तित्थपराणं तित्थकालमिह सुदत्थंसमत्थ गणहराणं उद्देस्सं णेदूण पुव्वगदसुत्ताणं जो वण्णणं कदं सं पुण्वगदं। तस्स उप्पाददिभेदा। जो दव्वाणं णाणाणउवण्ण-गोयर-कमजोगवज्ज- संभाविदुप्पादव्वय-धुवाणि तियाल-गोयरा णव धम्मा हवन्ति। तथरिणदं गव्वमवि-णवहा। उप्पण्णमुप्पज्जमाणं मुप्पस्समाणं णट्टं, णस्समाणं णसभामणं ठिदं तिट्ठमाणं विसंतमिदि णवाणं तं धम्माणं उव्वणादिणं पत्तेयं णवहत्तणसं भवादो एयासीदिवियप्प धम्म-परिणद-दव्व-वण्णणं जं करेदि तं उप्पाद पुठवं।

- (2) अग्गेणियं :-

अग्गस्य वत्थुणो वि हि पहाणभूदस्स णाणमगणंतं।

सुअग्गायणीय-पुव्वं अग्गायणसंभवं विदियं।²

अग्गेणियं नाम पुव्वं चोद्दव्वं वत्थूणं बे समयासीदिर-पाहुडाणं छण्णउइ-लक्ख पदेहि 960000 अंगाणमग्गं वण्णेदि। अस्सिं च अत्थि पुव्वंत-अवरंतं धुवाधुवचयणलद्धिणामाणि।

अंधुव-संपणिहिं च अत्थं भोमावयज्जं च।।1

जस्सिं अत्थि पुव्वंतं अवरंतं घुवं अधुवं चरणलद्धी अधुव-पणिही/अधुव-अद्धेविम-पणिहि-कत्थं अत्थं भउमा वयं सउजं/सुवारहं सव्वत्थं, कप्पणिज्जं णाणं अदीदं अणागदं कालं च पत्तेदि लमेच अग्गेणियं पुठवं।

- (3) वीरियाणुपवादं :-

विज्जाणुवाद पुव्वं वज्जं जीवादिवत्थु-सामत्थं।

अणुवादो अणुवण्णणंमिह तस्स हवेत्ति णं णमहा।²

जस्सिं सत्थमिह जीवादि-पयत्थाणं वीरययस्स/सतीए अणुवादो अणुवण्णणं।

कधणं/विवेयणं हवेदि तं वीरियाणुपवादां। अस्सि च-अप्पबलं परवीरियं उहयवीरियं
खेत्तवीरियं कालवीरियं भाववीरियं तववीरियं दव्ववीरियं गुणवीरियं फज्जबवीरियं
विज्जावीरियं आइं सव्वेसिं वीरियाणं पदसंख्या सत्तरिलक्खपएहिं। अस्सिं च
इग-सद-अठ-पाहुडाणि अठ-वत्थूणि अत्थि। दव्वस्स णियसत्ति-विसेसं वीरियं।

4. अत्थि-णत्थिपवादां - इणं इद्धारसण्हं वत्थूणं सद्धि-ति-सद पाहुडाणं
(360), सद्धि-लक्ख-पदेहि 60,00000 जीवा-जीवाणं अत्थि-णत्थित्तं वण्णेदि।³

सिअ-अत्थि, णत्थिपमुहा तेसिं इह रूवणं पवादोसत्ति।

अत्थि जदो तो धम्मो अत्थि-णत्थिपवाद-पुव्वं च।।

णिय-दव्व-खेत-काल-भावे सिध अत्थि वत्थु-विवहं च।

पर दव्व-खेतकाल-भावे सिय णत्थि आसित्ता।।

सिय अत्थि-णत्थि कमसो स-पर-दव्वादि चउजुदं जुगवं।

सिय अवत्तव्वं सयरदव्वं खेत च भावे य।।⁴

जस्सिं पुव्वम्हि :-

(i) अत्थि

(ii) णत्थि

(iii) अत्थि-णत्थि

(vi) अवत्तव्वं

(v) अत्थि अवत्तव्वं

(vi) णत्थि अवत्तव्वं

(vii) अत्थि-णत्थि-अवत्तव्वं च सत्तस्स भंगस्स च वण्णणं। तं अत्थि-

णत्थिपवादां पुव्वं। णाणां-णयाणिरुवणपराणि सत्तरस भंगस्स

(5) णाणपवादां :- वारसण्हं वत्थूणं (12) विसद-चालीस -पाहुडाणं -240
एगूण-कोडि-पदेहि 9999999 पंच णाणाणि तिण्णि अण्णाणाणि वण्णेदि।।

णाणप्पवाद-पुव्वं मदिसुद- ओही-सुणाणण्णाणं।

मण-मज्जवस्स भेयं केवलणाणस्स रूवं च।।

णाणस्स विसद-वण्णणं अत्थि तह वि तं णाणं दव्वत्थिग-फज्जवत्थिग -णयाणं
पडुच्च अणादि-णिहण-अणादि-सणिहण-सादि-अणिहण- सदिसाणिहण-णणादि
वण्णेदि णाणं वाणसरूवं च वण्णेदि।

(6) सच्चपवादां :- वारसण्हं वत्थूणं (12), दु, सद-चालीस-पाहुडाणं (240),

छहिआहिय-एक-कोडिपदेहि 10000006 वयणगुत्ती, वक्कसंक्कारकारणं पजोगो-

- (क) दुवालसहा भासा,
(ख) वत्तारो अणेग पगारं
(ग) अणेगमुसाहिहाणं
(घ) दसविह-सच्चवयणं जत्थ णिरूविदो सं सच्चप्पवादं
(i) वयणगुत्ती :- अलीय-णिउत्ति-वयणं वयणसंजमं जोणजुदं च वयणगुत्ती।
(ii) वक्कसंक्कार-कारणं-सिर-कंठ-हिदय-जिब्भमूल-दसण-ओद्ध-णासिगा-ताल-ठाणणि। इमाणि अद्धवयण-संक्कारकारणं।
(iii) वयणप्पजोगो- सुहेदर-लक्खणो सुगमो।
(vi) दुवालस-भासा:-अब्भक्खाण कलह-पेसुण्ण- अवद्धपलाव-रदि-अरदि-उवहि- णिक्किदि-उप्पणदि-मोस- सम्मदंसण- मिच्छदंसणं च।

अब्भक्खाणादि-दुवालस-भासाणं विवेयणं :-

- (क) अयं अस्स कत्ता ति अणिट्ट-कधणं अब्भक्खाणं।
(ख) कलहो - परोप्पर-विरोह-वयणं।
(ग) पेसुण्णं - पिट्टदो दोस-विककारणं।
(घ) अबद्धपलावो - धम्म-अत्थ-काम-मोक्ख-असंबंधा सद्दा।
(च) रदी - इंदियाणं सद्दादि-विसएसुं रागुप्पादगा सद्दा।
(छ) अरदी - इंदियाणं सद्दादि-विसएसुं अरदी सद्दा।
(ज) उवही - जं वयणं सुणिदूण परिग्गह-अज्जण- रक्खणादीसुं आसत्ती/आसज्जदे।

- (झ) णिक्किदी - वणिग-वावरे जं अवहारिदूण णिक्किदिपवणो आदा होदि स णिक्किदीवयणं।
- (ण) अप्पणदि - जं सोदूण तवेसु णाणेसुं च वि अहिओ जणेसुं ण ण पणमदि सा अपपणदी।
- (ङ) सम्मदंसण-वयणं - सम्म-मग्गुवएसदिट्ठि-वयणं।
- (ढ) मिच्छादंसणं सम्मत-बिहीण-मग्गुवएसदिट्ठिवयणं।

वक्तार-फज्जव-जुदा वेईदियादिजीवा सच्चमसच्चं वयणं/वादं/पवादं कुणंति। सच्च च असच्चं च णाणविहं। दव्व-खेत-काल- भावस्सयअणेगविह- असच्चं/अलियं/अण्णिरदं। दसविहो सच्चसम्भावो¹ णाम-रूव-ठवणा- पडुच्च-संवुदि-संखोजणा-जणवद-देस-भाव-समय-भेएण।

णाम-सच्चं - सचेदण-अचेदण-दव्व-वबहारत्थं सण्णाकरणं-जहिंदो।

रूवसच्चं - पदत्थ-असण्णहाणे वि रूवमेत्तेण उच्चदे-चित्तपुरिसं-पुरिसो।

ठवण-संच्चं - मूलत्थे ण विज्जदे वि कज्जत्थं ठवणं - अक्खं।

पडुच्चसच्चं - सादि-अणादि-भाव-दिद्धिणा जं वयणं भासेज्जा।

संवुदि-सच्चं - लोयमिह वयणसंवुदि-आसिदं कप्पणासिदं वयणाणि भांसति।

जहा पुढवी-आदि-अणेण-करिणत्ते वि सदि पंके जादं पंकजं।

संयोजणासच्च- चेदण-अचेदण-पदत्थाणं जहेव विभत्तो तं संयोजणासच्चं।

जणवदसच्चं - अज्ज-अणज्ज-विहत्त-वत्तीस-देसेसुं धम्म-अत्थ-काम-मोक्खणं पत्तगं जं वयणं तं जणवदसच्चं।

देससच्चं - गाम-णयर-राआ-गण-पासंड-जादि-कुलादिधम्माणं उवदेट्टं जं वयणं तं देससच्चं।

भावसच्चं- णिय-सुणपरिपालणत्थं, वयणं भावसच्चं।

समय-सच्चं- आगमगम्म-पडिणियदसड-दव्व-णवपयत्थाणं जहेट्ट वयणं समयसच्चं।

(7) आदपवादं :- सोलसण्हं वत्थूणं (16), वीसुत्तर-ति-सद- पाहुडाणं (320),

छवीस-कोडिपदेहि 260000000 आदं वण्णेदि जीवो वेदे त्ति वा भोत्तेत्ति
वा विण्हु त्ति वा वा त्ति बुद्धे इच्चादिरूवेण। उक्तं च-

जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।
वेदो विण्हू सयंभू य सरीरी तह माणवो।।
सत्ता जंतू य माणी य माई जोगी य संकुडो।
असंकुडी य खेत्तण्हू अंतरप्पा तहेव य।।।

- जीवो : जीवदि जीविस्सदि पुव्वं जीविदो त्ति जीवो।
कत्ता : सुहमसुहं करेदि।
वत्ता : सच्चमसच्चं संतमसंतं वददीदि वत्ता।
पाणी : पाणा एयस्स संति त्ति पाणी।
भोत्ता : अमर-णर-तिरिय-णारय-भेएण चदुक्किहे संसारे कुललम-
कुसलं भुंजदि त्ति भोत्ता।
पोग्गलो : छव्विह-संठाण-बहुबिह-देहेहि पूरदि गलदि त्ति पोग्गलो।
वेदो : सुह-दुक्खं वेदेदि त्ति वेदो अथवा वेत्ति जाणादीदि वेदो।
विण्हू : उपत्त-देहं वियत्तएदीदि/वियावेदि अथवा णाणेणं सव्वं वेवेट्टी
परिविवत्तदि।
सयंभू : सयमेव भूदो अधवा सयमेव उप्पज्जदीदि सयंभू।
सरीरी : सरीरमेयस्स अत्थि त्ति सरीरी।
माणवो : मणु णाणं तत्थ भूदो त्ति माणवो।
सत्ता : सजण-संबंध-मित्त-वग्गादिसु संजदि त्ति सत्ता।
जंतू : चदुग्गदि-संसारे जायदि जणयदि त्ति जंतू।
माणी : माणो एयस्स अत्थि त्ति माणी।
मायी : माया अत्थि त्ति मायी।
जोगी : जोगो अत्थि त्ति जोगी।
संकुडो : अदिसण्ह-देह/अदिसुहुम-देहप्पमाणेणं संकुडदीदि।
असंकुडो : सव्वं लोगागासं वियायदि त्ति असंकुडो।

खेत्तण्हू : खेत्तं स. सरूवं जाणदीदि खेत्तण्हू।

अंतरप्पा : अट्ट-कम्मभंतरा त्ति अंतरप्पा।

8. कम्मपवादं - वीसण्हं वत्थूणं (20), चत्तारिसद-पाहुडाणं (400), एग-कोडि-असीदि-लक्ख-पदेहि 18000000 अट्टविहं कम्मं वण्णेदि। जस्सिं कम्मभेदाणि बंध-उदय-उदीरणा-सत्ता-संकमण-उक्कस्सण- अवकस्सणाइं वण्णाणं अत्थि तं कम्मपवादं। कम्माणं पवादं कम्मपवादं।

9. पच्चक्खाणं - तीसण्हं वत्थूणं (30), छस्सद-पाहुडाणं (600) चदुरासीदि-लक्खपदेहि 8400000 दव्व-भाव-परिमियापरिमिय -पच्चक्खाणं दसविहं - अण्णगद - अदिक्कंत - कोडिजुद - अखांडिद - सागार - णिरागार - परिमाण - अपरिमाण - अद्दगद - सहेदुगादि - भेएण।

10. विज्जाणुवादं - पणहरसण्हं वत्थूणं तिण्णिसय-पाहुडाणं एगकोडि-दसलक्खपदेहि 11000000 अंगुट्टप्पदेसादीणं अप्प विज्जाणं सरसदाणि रोहिणी-आदीणं महाविज्जाणं पंचसदाणि अंतरिक्ख-भोभंग-सर-सिविण-लक्खण-विज्जण-छिण्ण-अट्ट-महाणिमिताणि य वण्णेदि।

11. कल्लाणवादो - दसण्हं वत्थूणं (10), वि-सद-पाहुडाणं (200) छव्वीस-कोडि-पदेहि 260000000 रवि-ससि-णक्खत्त-ताराणं चारोववाद-गइ-विपज्जव-फलाणि सकुण-सद्दाणं च बलदेव- वासुदेवचक्कधरादीणं गम्भावदरणादिमहा कल्लाणाणि य वण्णेदि।

12. पाणावादो - दसण्हू वत्थूणं (10), वि-सद-पाहुडाणं (200), तेरस-कोडि-पदेहि 130000000 कायविगिच्छादि-अट्टग-आउववेदं - भूदिकम्मं जंगुलिपक्कमं पाणापाणविभागं च वित्थरेण वण्णेदि।

13. किरियाविसालं - दसण्हू वत्थुणु (10), वि-सद-पाहुडाण (200), णवकोडि-पदेहि 90000000 लेहादिगा वाहत्तीकला रत्थीणं चदुसट्टिगुणा सिप्पाणि कव्वगुण-दोस-किरियं छंदोविचिदिकिरियं च वण्णेदि।

14. लोयविंदुसार लोयस्स विंदवयवा वणिणज्जंते य एत्थ सारं च।

तं लोय-विंदुसारं चोद्दसपुव्वं णमंस्सामि।।।

दसण्हं वत्थुणं (10), वि-सद-पाहुडाणं (200), बारह-कोडि-पण्णास-
लक्ख-पहेदि।25000000 अट्ट-ववहारा चत्तारि वीजाणि मोक्खगम- णकिरिया
मोक्खसुहं च वण्णेदि।

चोद्दह-पुव्वाणं समय-वत्थु-समासो पंचाणउदि-सदं (195)
सयल-पाहुड-समासो तिण्णिसहस्सा णवयसया 3900।

1. उप्पाद पुव्वस्स णं दसवत्थु पण्णत्ता। चत्तारिचूलियावत्थू पण्णत्ता।
2. अग्गेणियस्स णं पुव्वस्स चोद्दस-वत्थू वारस चूलियावत्थू पण्णत्ता।
3. वीरियप्पवायवायस्स णं पुव्वस्स, अट्टवत्थू, अट्ट चूलियावत्थू पण्णत्ता।
4. अत्थि-णत्थिप्पवायस्स णं पुव्वस्स अट्टारस वत्थू दस चूलियावत्थू
पण्णत्ता।
5. णाणप्पवायस्स णं पुव्वस्स वारस वत्थू पण्णत्ता।
6. सच्चप्पवायस्स णं पुव्वस्स दो वत्थू पण्णत्ता।
7. आयप्पवायस्स णं पुव्वस्स सोलस वत्थू पण्णत्ता।
8. कम्मप्पवायपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता।
9. पच्चक्खाणस्स णं पुव्वस्स वीसं वत्थू पण्णत्ता।
10. विज्जापुप्पवायस्स णं पुव्वस्स पण्णरस वत्थू पण्णत्ता।
11. अबंझस्स णं पुव्वस्स तीसं वत्थू पण्णत्ता।
12. पाणाउस्स णं पुव्वस्स तेरस वत्थू पण्णत्ता।
13. किरियाविलासस्स णं पुव्वस्स तीसं वत्थू पण्णत्ता।
14. लोयविंदुसारस्स णं पुव्वस्स पण्णवीसं वत्थू पण्णत्ता।

समवायंगे चोद्दसभेएसु कल्लाणवादस्स ठाणे अबंझं पण्णत्तं। चत्तचेदुविहं वि
महत्तपुण्णं।

(च) चूलिगा- जलगया थलगया मायागया रूवगया आगासगय्मचेदि।

(क) जलगया- दो-कोडि-णव-लक्ख-एरुण-णवुदि-सहस्स-

वेसद-पदेहि (20989200)

जलगमण- जलत्थंभण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि।

(ख) थलगया- तेतिएहि चेव पदेहि (20989200) भूमिगमण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वत्थुविज्जं भूतिसंबंधमण्णं वि सुहासुह-कारणं वण्णेदि।

(ग) मायागया- तेतिएहि चेव पदेहि (20989200) सीय-हय-हिरणादि-रूवा-यारेण परिणमण-हेदु-मंत-संत-तवच्छरणाणि चित्त-कडु-लेप्प-लेण-कम्मादि-लक्खणं च वण्णेदि।

(च) आयासगया- तेतिएहि चेव पदेहि (20989200) आगास-गमण-णिमित्त-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि।

चूलिया सव्व-पद-समामो दस-कोडियो एगूण पंचास-लक्ख-छायाल-सहस्स पदाणि (104946000)।

दुवालसंगम्हि वारस-अंगं दिट्ठिवादो। अस्सिं च अणेदविहवादाणं वियाराणं वण्णणं वित्थरेणं अत्थि। जेहिं अरहतेहि भगवतेहिं उप्पण्ण-णाण-देसणधरेहिं तलुक्कपुज्ज-णिरिक्खंद-महिद-पूजिदेहिं तीय-पडुप्पण्ण-मणागद-जाणएहिं सव्वण्हूहिं सव्वदरिसीहिं पणीदं सम्मसुदं दुवालसंगं। दुवालसंग-गणि-पिडगं चोद्दसपुव्वधारीणं सम्मसुदं पण्णत्तं, अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुदं तेणं परं भिण्णेसुं भयणा। (नन्दी सू. पृ. 152)

दिट्ठिवादस्स संखेज्जा वायणा अणुयोगदारा वि, संजेज्जा वेदा, संखेज्जा सिलोगा संलखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखिज्जाओ णिज्जुत्तीओ, संखेज्जओ संगहणीओ। वारसंगे एग सुदक्खंधो चोद्दसपुव्वाणि संखेज्जा वत्थू संखेज्जा पाहुडादी उवदिस्सज्जतिं दस्सिज्जतिं परूविज्जतिं वार्दस्सिज्जतिं जिणपण्णत्ता सव्वे भावा।

□ विभागाध्यक्ष

जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग,
सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

दृष्टिवाद *

□ स्व. आचार्य देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री

नामकरण :- दृष्टिवाद बारहवाँ अंग है, जिसमें संसार के सभी दर्शनों एवं नयों का निरूपण किया गया है।¹ दूसरे शब्दों में कहें तो जिसमें सम्यक्त्व आदि दृष्टियों - दर्शनों का विवेचन किया गया हो वह दृष्टिवाद है।²

दृष्टिवाद विलुप्त हो चुका है। वह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। भगवान महावीर के 170 वर्ष परचात् श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए। उनके स्वर्गगमन के परचात् दृष्टिवाद का शनैः - शनैः लोप होने लगा और वीर निर्वाण सम्वत् 1000 में वह पूर्णरूप से लुप्त हो गया। अर्थात् देवद्विगणी क्षमाश्रमण के स्वर्गगमन के बाद वह शब्द रूप से पूर्णतया नष्ट हो गया और अर्थरूप में कुछ अंस बचा रहा।³

दृष्टिवाद के नाम :- ठाणांग में दृष्टिवाद, हेतुवाद, भूतवाद, तथ्यवाद, सम्यगवाद, धर्मवाद, भाषाविचय या भाषाविजय, पूर्वगत, अनुयोगगत और सर्वप्राणभूतजीव-सत्वसुखावह ये दश नाम दृष्टिवाद के प्राप्त होते हैं।⁴

विषय वस्तु :- समवायांग व नन्दी में परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका ये दृष्टिवाद के पाँच विभाग बताये हैं।⁵ इनके विभिन्न भेद-प्रभेदों का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि प्रथम विभाग में लिपि विज्ञान और सर्वांग पूर्ण गणित विद्या का विवेचन था। द्वितीय विभाग में छिन्नछेदनय, अछिन्नछेदनय, त्रिकनय, चतुर्नय की परिपाटियों का विस्तार से विवेचन था। उसमें यह भी बताया गया था कि प्रथम और चतुर्थ ये दो परिपाटियाँ निर्ग्रथों की थीं और अछिन्नछेदनय एवं त्रिकनय की परिपाटियाँ आजीविकों की थीं। तृतीय विभाग में 14 पूर्वों की विस्तार से चर्चा विचारणा थी। प्रथम उत्पादपूर्व में सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों की प्ररूपणा उत्पाद की दृष्टि से की गई थी।⁶ इस पूर्व का पद परिमाण एक कोटि पद था। द्वितीय अग्रायणीयपूर्व में सभी द्रव्य पर्याय और जीवविशेष के अग्र-परिणाम का वर्णन था।

* जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, प्रका. श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर से साभार उद्धृत

इसका पद परिमाण 69 लाख पद था। तृतीय वीर्यप्रवादपूर्व में सकर्म एवं निष्कर्म जीव और अजीव के वीर्य-शक्ति विशेष का वर्णन था। इसकी पद संख्या 70 लाख थी। चतुर्थ अस्तित्वास्तप्रवादपूर्व में वस्तुओं के अस्तित्व और नास्तित्व के वर्णन के साथ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय प्रभृति द्रव्यों का अस्तित्व और आकाशपुष्प आदि के नास्तित्व का प्रतिपादन किया गया था और प्रत्येक द्रव्य के स्व-स्वरूप से अस्तित्व और पर-स्वरूप से नास्तित्व का भी प्रतिपादन था। इसका पदपरिमाण 60 लाख था। पंचम ज्ञानप्रवादपूर्व में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल के भेद-प्रभेदों का विस्तार से विवेचन था। इसकी पद संख्या एक करोड़ थी। छठे सत्यप्रवादपूर्व में सत्यवचन का विस्तार से वर्णन किया गया था। साथ ही उसके प्रतिपक्षी रूप पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया था। इसमें 1 करोड़ और 6 पद थे। सातवें आत्मप्रवादपूर्व में आत्मा के स्वरूप व उसकी व्यापकता, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व सम्बन्धी विवेचन अनेक नयों की दृष्टि से किया गया था। इस पूर्व में 26 करोड़ पद थे। आठवें कर्मप्रवादपूर्व में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि अष्ट कर्मों की प्रकृतियाँ, स्थितियाँ एवं उनके परिणाम व बन्ध के भेद-प्रभेदों का विस्तार से निरूपण था। इस पूर्व में एक करोड़ अस्सी हजार पद थे। नवें प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व में प्रत्याख्यान और उनके भेद-प्रभेदों का विस्तार से विश्लेषण किया गया था, साथ ही इसमें आचार संबंधी नियम भी थे। इसमें 84 लाख पद थे। दसवें विद्यानुप्रवादपूर्व में अतिशय शक्ति सम्पन्न विद्याओं, उपविद्याओं और उनकी साधना की विधियों का निरूपण था। जिसमें अंगुष्ठ प्रश्नादि 700 लघुविद्याएँ, रोहिणी प्रभृति 500 महाविद्याएँ एवम् अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यञ्जन और छिन्न इन आठ महान निमित्तों द्वारा भविष्य को जानने की विधि का वर्णन था। इस पूर्व में 1 करोड़ 80 लाख पद थे। ग्यारहवें अबन्ध्यपूर्व में ज्ञान, तप आदि सत्कृत्यों को शुभ फल देने वाले और प्रमाद-कषाय आदि असत्कृत्यों को अशुभ फलदायक बताया है। शुभाशुभ कर्मों के फल निश्चित रूप से मिलते ही हैं, वे कभी भी निष्फल नहीं होते। अतः इस पूर्व का नाम अबन्ध्यपूर्व था। इसकी पदसंख्या 26 करोड़ थी। दिगम्बर दृष्टि से ग्यारहवें पूर्व का नाम कल्याणवादपूर्व था, जिसमें तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के गर्भावतरण का उत्सव, तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन करने वाली

16 भावनाएँ एवं तप का वर्णन और चन्द्र, सूर्य के ग्रहण तथा ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव, शकुन और उनके शुभाशुभफल का वर्णन था और इस पूर्व की पद संख्या 26 करोड़ थी। बारहवें प्राणायुपूर्व में आयु 1 करोड़ 56 लाख थी। दिगम्बर दृष्टि से इस पूर्व में कायचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलि, प्रक्रम, साधक प्रभृति आयुर्वेद के भेद, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि प्राण, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के भेद-प्रभेद, दस प्राण, द्रव्य, द्रव्यों के उपकार और अपकार आदि का वर्णन किया गया था और इसकी पद संख्या 13 करोड़ थी। तेरहवें क्रियाविशालपूर्व में संगीतशास्त्र, छन्द, अलंकार, पुरुषों की 72 कलाएँ, स्त्रियों की 64 कलाएँ, 84 प्रकार के शिल्प, विज्ञान, गर्भ अवधारण आदि क्रियाएँ, सम्यग्दर्शन, मुनिवन्दन, नित्य-नियम एवं आध्यात्मिक चिंतन आदि लौकिक व लोकोत्तर सभी क्रियाओं का विस्तार से विश्लेषण था। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ इस पूर्व की पदसंख्या 9 करोड़ मानती हैं। चौदहवें लोक बिन्दुसारपूर्व में लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की विद्याओं का सम्पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त कराने वाली सर्वाक्षर सन्निपातादि विशिष्ट लब्धियों का वर्णन था। जैसे अक्षर पर बिन्दु वैसे ही ज्ञान का सर्वोत्तम सार होने से इसे लोकबिन्दुसार या त्रिलोकबिन्दुसार की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता था। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं की मान्यता के अनुसार इस पूर्व की पदसंख्या 12½ करोड़ थी।

चौदह पूर्वों की वस्तु अर्थात् ग्रन्थ परिच्छेद की संख्या क्रमशः 10, 14, 8, 18, 12, 2, 16, 30, 20, 15, 12, 13, 30 और 25 थी।⁷ ग्रन्थ परिच्छेद के अतिरिक्त आदि के चार पूर्वों में क्रमशः 4, 12, 8, और 10 चूलिकाएँ थीं।⁸ शेष 10 पूर्वों में चूलिकाएँ नहीं थीं। जैसे पर्वत का शिखर पर्वत के अन्य भाग से उन्नत होता है वैसे चूलिकाओं का भी स्थान था।⁹

दृष्टिवाद का चतुर्थ विभाग अनुयोग था। उसके मूल प्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग ये दो भेद थे। प्रथम मूल प्रथमानुयोग में अरिहंतों के पंचकल्याणक का सविस्तृत विवरण था। द्वितीय गंडिकानुयोग में कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि महापुरुषों का चरित्र था। यह विभाग ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण था।

दिगम्बर परम्परा के साहित्य में इस विभाग का नाम प्रथमानुयोग मिलता है।

दृष्टिवाद का पाँचवाँ विभाग चूलिका था। समवायांग और नंदी में लिखा है कि चार पूर्वों की जो चूलिकाएँ हैं उन्हीं चूलिकाओं का दृष्टिवाद के इस विभाग में समावेश किया गया है किन्तु दिगम्बर साहित्य में जलगता, थलगता, मायागता, रूपगता और अकारागता ये पाँच चूलिकाएँ बताई गई हैं।

दृष्टिवाद का महत्व :- दृष्टिवाद अत्यधिक विशाल था। आचार्य शीलांग ने सूत्रकृतांगवृत्ति में लिखा है कि पूर्व अनंत अर्थ वाला होता है और उसमें वीर्य का प्रतिपादन किया जाता है अतः उसकी अनंतार्थता जाननी चाहिए। जैसे समस्त नदियों के बालुकणों की गणना की जाय या सभी समुद्रों के पानी को हथेली में एकत्रित कर उसके जलकणों की गणना की जाय तो उन बालुकणों और जलकणों की संख्या से भी अधिक अर्थ एक पूर्व का होता है।¹⁰

कालजन्म मंद मेधा के कारण इस विशाल ज्ञानराशि का धीरे-धीरे हास होता चला गया। आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य सागर को उपदेश देते हुए कहा था कि "ज्ञान का गर्व न करो"। उन्होंने अपन हाथ में मुट्ठीभर धूल लेकर एक स्थान पर रक्खी। तत्पश्चात् दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें स्थान पर रक्खी, फिर उन्होंने शिष्य को संबोधित करते हुए कहा - जैसे यह धूल एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखने पर क्रमशः कम होती चली गई वैसे ही तीर्थंकर भगवान की वाणी गणधरों को प्राप्त हुई और गणधरों से अन्य आचार्यों को और फिर उनके शिष्य - प्रशिष्यों को। इसी प्रकार यह भी कम होती चली गई। आज प्रस्तुत द्वादशांगी का ज्ञान कितना कम रह गया है यह कहना अत्यधिक कठिन है।

निशीथचूर्ण के अनुसार दृष्टिवाद में द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, धर्मकथानुयोग और गणितानुयोग का कथन होने से छेदसूत्रों की भाँति इसे भी उत्तम श्रुत कहा है। तीन वर्ष के प्रव्रजित साधु को निशीथ, पाँच वर्ष के प्रव्रजित साधु को कल्प और व्यवहार का उपदेश देना बताया है किन्तु दृष्टिवाद के उपदेश के लिए बीस वर्ष की प्रव्रज्या आवश्यक मानी गई है।¹¹ बृहत्कल्पनिर्युक्ति में लिखा है कि तुच्छ स्वभाव वाली, बहुत अभिमानी, चंचल इन्द्रियों वाली और मन्दबुद्धि वाली सभी स्त्रियों को

दृष्टिवाद पढ़ने का निषेध है।¹² इस कथन का क्या रहस्य है यह चिन्तकों के लिए विचारणीय है।

उपसंहार :- इस प्रकार स्पष्ट है कि दृष्टिवाद बहुत ही विशाल और महत्वपूर्ण अंग था। इसका महत्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि जब आर्यरक्षित वेद-वेदांगों तथा अन्य सभी प्रकार के ज्ञान के पारगामी विद्वान होकर लौटे तो उनकी माता ने एक ही शब्द कहा - “दृष्टिवाद पढ़ो। क्योंकि इसी के द्वारा तुम्हें आत्मा का सच्चा स्वरूप ज्ञात हो सकेगा। तुम समस्त सिद्धान्त के ज्ञाता हो जाओगे। आत्म कल्याण के लिए दृष्टिवाद का अध्ययन अपेक्षित है।” और माता के इन वचनों को सुनकर आर्यरक्षित दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए चल दिए।

दृष्टिवाद की विशालता, गंभीरता अब केवल अतीत की वस्तु रह गई है। ज्ञान का यह विपुल भंडार अप्राप्त है। इसका उल्लेख भर ही शेष है।

संदर्भ सूची :-

1. दृष्टयो दर्शनानि नया वा उच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवतरन्ति यत्रासौ दृष्टिवादी, दृष्टिपातो वा। प्रवचन पुरुषस्य द्वादशोऽङ्गो।
- स्थानांगवृत्ति, ठा.4, उ.1
2. दृष्टिदर्शनं सम्यक्त्वादि, वदनं वादो, दृष्टीनां वादो दृष्टिवादः।
- प्रवचनसारोद्धार, द्वार 144
3. गोयमा ! जंबूद्वीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एणं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसज्जिस्सइ
- भगवतीसूत्र, शतक 20, उ.8 सू. 677; सूतांगमे, पृष्ठ 504
4. दिट्ठिवायस्स णं दस नामधिज्जा पण्णत्ता। तं जहा - दिट्ठिवाएइ वा, हेउवाएइ वा, भूयवाएइ वा, तच्चावाएइ वा, सम्मवाएइ वा, धम्मावाएइ वा, भासाविजएइ वा, पुव्वगएइ वा, अणुओगगएइ वा, सव्वपाणभयजीव-सत्तसुहावहेइ वा।
- स्थानांगसूत्र, ठा.10, सूत्र 742; मुनिश्री कमलं द्वारा सम्पादित
5. से किं दिट्ठिवाए ? से समासओ पंचविहे पण्णत्ते तं जहा- परिकम्मे,

सुत्ताइं, पुव्वगए, अणुओगे, चूलिया। (नन्दीसूत्र)

6. पढमं उप्पायपुव्वं, तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जवाण य उप्पाय भावमंगीकाउं
पण्णवणा कया। (नन्दीचूर्णी)

7. दस 1 चोद्दस 2 अट्ट 3 अट्ठारसेव 4 बारस 5 दुवे 6 य वत्थूणि।
सोलस 7 तीसा 8 वीसा 9 पण्णरस अणुप्पवादम्मि 10 ॥76॥

बारस एक्कारसमे 11 बारसमे तेरसेव वत्थूणि 12।

तीसा पुण तेरसम 13 चोद्दसमे पण्णवीसा उ 14॥ 80॥

- नन्दीसूत्र- पुण्यविजय जी, पृ. 45

8. नन्दीसूत्र 81, पृष्ठ 45

9. नन्दीचूर्णी

10. यतोऽनन्तार्थं पूर्वं भवति, तत्र च वीर्यमेव प्रतिपाद्यते, अनन्तार्थता
चातोऽवगन्तव्या तद्यथा -

सव्व नईणंजा होज्ज बालुया गणणमागया सन्ती।

तत्तो बहुयतरागो, एगस्स अत्थो पुव्वस्स॥11॥

सव्व समुद्दाणजलं, जइ पत्थमियं हविज्ज संकलियं।

एत्तो बहुयतरागो अत्थो एगस्स पुव्वस्स॥12॥

तदेवं पूर्वार्थस्यानन्त्याद्वीर्यस्य च तदर्थत्वादनन्तता वीर्यस्येति।

- सूत्रकृतांग (वीर्याधिकार), आचार्यश्री जवाहरलाल म. द्वारा सम्पादित,

पृष्ठ - 335

11. बृहत्कल्पभाष्य, पृष्ठ 404

12. बृहत्कल्पनिर्युक्ति, पृष्ठ 146

Linguistic Study of the Canonical Literature (Aṃga) with special reference to the vowels and single consonants

□ Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Aṃga canonical literature holds an important place in Jain literature. Gautama and the other *Gaṇadharas* have edited and compiled the sermon of Lord Mahāvīra preached throughout his life. And according to the Śvetāmbara canons the language is known to be the Ardhamāgadhi.

Ardhamāgadhi— A Language —

Before to discuss on the Ardhamāgadhi as a language, the significance of the name of Ardhamāgadhi is found important here. In the fourth Aṃga text—Samavāyāṅga, the Ardhamāgadhi language is acknowledged thus— *ābhagavaṃ ca naṃ addhamāgahie bhasāe dhammaṃ āikkhai/sā vi ya naṃ āriya-m-anāriyam duppaya cauppaya miya pasu pakkhī sarisivānaṃ appāppano hiyasiva suhadāya bhāsattāe pariṇamaīāā*. The Lord propagated the law in the Ardhamāgadhi Language—this peace-happiness-and-bliss-giving Ardhamāgadhi undergoes modifications when it is spoken by the Aryans, the non-Aryans, the bipeds, the quadrupeds, the wild and tamed animals, the birds and the worms. In the Bāgbhata Alamkāra tilaka (1. 1) it is said about the Ardhamāgadhi— *sarvārdhamāgadhīm sarva bhāsāsu pariṇāmiṇīm/sārviyāṃ sarvato vācam sāvajñīm pranidadhāmahe*. It means we salute *vāc* that is fully Ardhamāgadhi and which modifies herself into all the different Language and is perfect and omniscient.

In the Prajñāpanāsūtra, the Aryans are categorised into nine classes, in which the sixth class is mentioned for *bhāsāriya*, those who are Aryans by language. It is asked about them— *se kiṃ taṃ Bhāsāriyā?*—what is meant by *ā*Aryans by speech? Answer is thus— *bhāsāriyā je naṃ addhamāgahāe bhāsāe bhāsanti jatha vi ya naṃ bambhī livi pavattai*—Aryans by speech are they who speak the Ardhamāgadhi language and who use the Brāhmī script in writing. In the Aupapātikasūtra, too, like the Samavāyāṅgasūtra, it is mentioned

that Lord Mahāvira propounded his law through the Ardha-māgadhi Language— *tae nam bhagavaṃ Mahāvire... addhamāgavāe... bhāsāe bhāsai/arihā dhammaṃ parikahei/tesim savvesim āriya-m-anāniyam agitāe dhammaṃ āikkhai/ sā vi ya nam addhamāgahā bhāsā tesim savvesim āriyam-anāriyam appaṇo sabhāsāe pariṇāmenam parinamai.ā*

Hemacandra in his Prakrit Grammar, while formulating the characteristic features of Māgadhi, in the *vṛtti* of the very first sūtra *atahetsau puṃsi māgadhyām (4.487)* has mentioned that old scriptures are composed in the Ardhamāgadhi language— *porānam addhamāgaha Bhāsā niyayaṃ havai Suttam*. Hemacandra admits that the characteristic features of Ardhamāgadhi is quite different from that of Māgadhi. Hence, he did not mention any rules of Ardhamāgadhi along with Māgadhi or any other Prakrits.

Herman Jacobi in his own style has classified the language of Jain Literature. According to him the language of the Jain Literature Corresponds mostly with the nature of Mahārāṣṭri. So one is Jain Mahārāṣṭri and the other is Jain Prakrit. Jain Mahārāṣṭri was the medium of language through which the Jain commentators and Annotators explained the canons. And Jain Prakrit is the language of the old scriptures, i.e. canons. Grammarians from Vararaci (4th/5th century A.D.) upto Mārkaṇḍeya (17th Century A.D.) acknowledged the Jain Prakrit either as *Ārṣa*, the language of the *ṛsis* or *rudha*, the self created. Hemacandra in his sūtra *ārsam*, mentions that this has many options and exceptions. It is needless to say that due to huge variations and options, Grammarians could hardly be able to formulate any sūtra for the Ardhamāgadhi language. Trivikrama ignored to describe the characteristic features of Ardhamāgadhi as he did so for the Deśya language. He admits that *Ārṣa* like *Deśya* is nothing but a self created language. So it is not the off spring of Sanskrit. It is free from any connection of polished language— *svatantratvācca bhūyasā*, if only follows its own rules. Prem Candra Tarkavāgīśa, while commenting on the *Kāvyaḍarśa (1.33)* of Daṇḍin says that Prakrit has mainly of two divisions—one which is derived from *Ārṣa* and the other is analogous to the *Ārṣa—ārṣottham ārṣa tulyaṅca dvividham prakṛtam viduḥ. Namisādhu*, on the commentary of Rudrata on *Kāvyaḍarśa (2.12)*

opines on the origin of Prakrit is thus that its basis (*prakṛtiḥ*) is the natural language of intercourse of all beings and it is not regulated according to grammar, it is called Prakrit because it is derived from this language or is itself the same. Or it may be that *Prākṛta* stands for *prāk-krta*—created before, in earlier period (*pūrvam*). So it is called Prākṛta.

The Prakrit of the Jain canon or *Ārṣa*, i.e. Ardhamāgadhī is the language of Gods—*āriṣavayane siddham devānaṃ addhamāgahā vānī*. Accordingly Prakrit is the language that is easily understood by children, women etc. and is the basis of all languages. Like rain water it had one and the same form in former times, but it became diversified on account of difference in locality and grammatical modifications and has come to be known as Sanskrit and other language mentioned by Rudrāṭa. So Sanskrit and other languages have been formed or developed from Prakrit. Like Buddhist, as they considered Māgadhī as their own—*sā māgadhī mūla bhāsā*, the Jains has Ardhamāgadhī as the same.

In the Nāṭyaśāstra of Bharata (1 / 48) Ardhamāgadhī is mentioned as one of the languages.—

*māgadhīyāvanti jā prācyā sūrasenyardhamāgadhī/
bāhlikā dākṣiṇātyā ca sapta bhāsā prakirtitā //*

Kramadīśvara is the only grammarian, who formulated any sūtra for Ardhamāgadhī—*mahārāṣṭrī miśrār dhamāgadhī (5.98)*, that Ardhamāgadhī is a mixture of Mahārāṣṭrī and Māgadhī.

In Linguistic point of view, Ardhamāgadhī is an important part of Prakrit as well as in the Middle Indo Aryan language. MIA being the part of Indo Aryan which is developed from Indo European through Indo-Iranian, Ardhamāgadhī has a direct relation with Indo European.

Sound System of Ardhamāgadhī

The sound system in the Aṅga literature is based on the characteristics of Ardhamāgadhī which does not carry any change from that of prakrit in general.

Vowels—*a, ā, i, ī, u, ū, e* and *o*

Hemacandra, in the very first sūtra of his Prakrit grammar mentions about a term *ālokātā* in the vṛtti which denotes that in Prakrit the vowels like *r, ṛ, l, /, ai* and *au* have no existence. So in the Ardhamāgadhī of the Aṅga literature we cannot have any exceptions

of the aforesaid rule. Not only the Ardhamāgadhī, but all the dialects and subdialects of Prakrit admit the same principle.

In application of single consonants, the Ardhamāgadhī of Aṃga literature has not such difference from other Prakrits. All the mutes, i.e. from *k* upto *m* have been used in it. In case of semi vowels, *y* sometimes becomes *a* rather than becoming *j*. All the Sanskrit mutes have undergone phonological changes, like other Prakrits, in the language of the Aṃga literature also. In case of sibilants, only the dental *s* is found in place of ś, ṣ and ṣ.

Here, too, no Māgadhism has been found to influence the Ardhamāgadhī. So no palatal ś is used so far. *āhā* is preserved in usual position. Like other Prakrits, *visarga* is not used in the language of Aṃga literature. The consonants used in the Aṃga literature are as follows—

<i>k</i>	<i>kh</i>	<i>g</i>	<i>gh</i>	<i>ṅ</i>
<i>c</i>	<i>ch</i>	<i>j</i>	<i>jh</i>	<i>ñ</i>
<i>t</i>	<i>th</i>	<i>d</i>	<i>dh</i>	<i>n</i>
<i>t</i>	<i>th</i>	<i>d</i>	<i>dh</i>	<i>n</i>
<i>p</i>	<i>ph</i>	<i>b</i>	<i>bh</i>	<i>m</i>
<i>y</i>	<i>r</i>	<i>l</i>	<i>v</i>	
<i>s</i>	<i>h</i>	<i>ṃ</i>	<i>ḥ</i>	

Phonology

a

In Aṃga literature as well as in Ardhamāgadhī, Sanskrit vowels are used or accepted but the changes which are found in Mahārāstri have the same impact on Ardhamāgadhī. So the same can be found in the language of Aṃga literature. Some examples can be cited for its favour, e.g. *ekonotriṃśat* > *auṇattisā* (Īvā. 1. 3. 8), *āyudha* > *aujjha* (Sam. Pra 144), *ekonopañcāsat* > *auññāpanna* (Bh. 2. 43). In some examples we can find that as Mahārāstri, owing to the existence of *anusvāra* the long *ā* becomes *a*. e.g. *āntarāyika* > *aṃtarāiya* (A 6. 34, Th. 2. 431, 3. 523, Sam 58. 2, Bh 6. 33, 34, 9. 46, 68. etc). The long vowel *ā* before a conjunct consonant becomes *a*, such as *ām̐la* > *aba* (Bh. 18. 109), *ām̐raka* > *ambaga* (Aṇu. 3, 48). Besides those examples, in the Aṃga literature, there are ample examples for *ām̐ra* becoming *amba*. Hemacandra's sūtra *hrsvaḥ samyoge* (1. 84) Support

this application. Other examples are—*āchidya* › *acchimda* (Ā. cu 1.3.27), *āchetr* › *acchimdīmtu* (Sam 3.3.1), *āchedya* › *acchejja* (Ā 8.21-24, Sū 2.1.65; 2.2.49), *āryajambu* › *ajjajambu* (Nā 1.1.6-8; Uv 1.4.5; Aṃta 3.70; 6.14), *ārjava* › *ajjava* (Th. 4.71; 6.27; Sam 10.1 etc.), *ārta* › *atta* (Ā.1.13; 5.18; Sū 1.5.25; 1.10.4; Uv 2.22, 24, 28; Pan 2.2; Vip 1.1.57, 1.2.42 etc.) *ādhyā* › *addha* (Sū 2.7.3, Bh. 2.94, 3.32; Nā 1.2.7, 1.3.8; Uv 1.11.16; 2.3; Aṃta 3.6, 33,55, Anu 3.5,66; Vip 1.1.70, 1.10.3 etc.). Sanskrit *r* has four types of development in Prakrit as well as in Ardhamāgadhi. these are, *a*, *i*, *u* and *ri* in initial position. But except in very few cases the initial *r* becomes *a*, *i* and *u* in Ardhamāgadhi. Here, Some examples of *r* becoming *a* are given below —

rju › *amju* (Ā. 3.5; 15; Sū 1.9.1, 1.10.1; 2.6.13 etc) *rta* › *atta* (Nā.1.7, 36.1,3,5 etc.), *ṛnadhāraka* › *anadhāraka* (Nā 1.18.21, 33), *ṛnabhañjaka* › *anabamjaka* (Pan.3.3.), *ṛnabala* › *anavala* (Pan. 2.3) etc.

ā

There is no such changes have been found regarding the development of Sanskrit *ā* in the language of Aṅga literature. But in some places due to the compensatory lengthening *a* becomes *ā*. e.g. *aśvaśikṣā* › *āśasikkhā* (Sam. 3.2.7), *aśvasena* › *āśasena* (Sam.Pra.2.20.3), *aśvattha* › *āśottha* (Sam. Pra. 2.31.2, Bh 2.2.3), *aśvatthapavāla* › *āśotthapavāla* (Ā. cu 1.10.9), *aśvatthamanthu* › *āśotthamanthu* (Ā.cu 1.111), *aśvayuj* › *āsoya* (Ā. cu 25.15, Sam 15.5; 36.4; Bh 12.11,125 Nā 1.5.75 etc.), Hemacandra's sūtra *lupta ya ra va śa śa sām—śa sa-sām dirghaḥ (1.4.3)* is meant for compensatory lengthening.

i

Like Prakrit, in the language of Aṅga literature we can have some remnants of the changing of some dissimilar vowels into *i*. e.g. *aṅgāra* › *iṅgāla* (Su 1.5.7, 2.2.77; Th. 4.177, Bh 2.64, 66, Nā 1.16.52; Aṃta 3.89, Anu 3.30; Vip 1.4.16 etc.), *aṅgāra karsanī* › *iṅgāla kaddhanī* (Bh. 1.6.6), *aṅgāra karman* › *iṅgāla kamma* (Bh 8.242.uv.1.38), *atra* › *ittha* (Ā.4.20). In the same way, *e* › *i*, e.g. *ekacatvāriṃśat* › *igayāla* (Bh. 2.118), *ekaśaṣṭhi* › *igasatṭhi* (Sam.88.3). *r* › *i*— in place of *r*, we can have a large number of ex-

amples where *r* is developed into *i*. e.g. *ṛddhi* > *iddhi* (Sū.2.2.69, 73; Th. 2.316-319, Bh. 1, 102, 3.1,7,27 etc. Nā 1.1.33, 67, 69 etc.), *ṛddhigaurava* > *iddhi gāra* (Sam.3.4), *ṛddhiprāpta* > *iddhipatta* (Bh. 8.62, 406; 14.60 etc.). Prothesis or insertion of a vowel in the initial position of a word is popular in Prakrit, so is available in the language of Aṅga literature. Here, in the context of *i*, we find the word *stri* becomes *itthi* in several occasions, such as *itthi*, *itthi kahā*, *itthikāma*, *itthitta*, *itthipadimā*, *itthiposa*, *itthiveyaga* etc. The long *ī* sometimes becomes short *i* in Jain canonical literature, e.g. *iriyā*, *iriyā asmiya*, *iriyāvahia*, *iriyāsami (ti)*, but sometimes long *ī* also used in Aṅga literature is considered to be quite regular.

u and the rest

In the Aṅga canonical literature, *r* besides becoming of *a* and *i* becomes *u* in several cases. Some examples are as follows — *ṛtu* > *uu* (Th.5.106, 212, Bh. 5.15,16, 9.156; Nā 1.1.33, 159 etc), *ṛtuparivarta* > *uu pariyatta* (Ā.cu.1.21.), *ṛtubaddha* > *uuvaddha* (Nā. 1.5.117, 118, 124, 125); *ṛtu sandhi* > *uu samdhi* (Ā. cu 1.21.), *rjvāyatā* > *ujjuāyatā* (Th 7.112; Bh 25.91; 34.3, 13 etc), *rju* > *ujju* (Sū 1.11.1, Th 4.12-21 etc. Paṇ 4.7, 8 etc), *rjukṛta* > *ujjukada* (A.1.65), *rjuka* > *ujjuga* (Uv.1.47; 7.33; Paṇ 4.7;7.4), *ujjuya* (Ā.cu.1.50, 52; 2.44; Sū 2.2.77; Bh. 18.104 etc). Likewise *ujjuayā*, *ujjuyāre*, *ujjusūyā* and so many words can be found where *r* becomes *u*. In some places *a* is changed into *u*, e.g. *apakṛṣṭa* > *uittha*, here, of course, the elision of initial *a* is ocured through the way that *apakṛṣṭa* > **avaittha* > **auittha* and then *uittha*. We cannot find any other vowels changing into *u* except *o* and *au*, e.g. *oṣṭha* > *uttha* (Nā. 1.2.11, 33; Uv. 2.21, Aṅu 3.46), *auṣṭrika* > *uttiya* (Th. 5.191; Uv. 1.29; 2.21 etc.), *auṣṭrikī* > *uttiyā* (Vip. 1.6.14). In some places, due to *samprasāraṇa*, the *va* of the prefix *ava* becomes *u* and finally by internal contraction between *a* and *u* the resultant becomes *o*, and again since this *o* is placed before a conjunct consonant, automatically it becomes *u* as its short form. For example—*avaṣṭhivya* > *utthubhittā*, (Nā 1.1.161), *utthubhettā* (Bh. 15.141). *ū* also becomes short before a conjunct consonant, e.g. *ūrdhva* > *uddha* (found in all the canons), *ūrdhva-kāka* > *uddhamkāya* (Sū. 1.5.34), *ūrdhvajānu* > *uddhamjānu* (Bh. 1.9, 5.85; Nā 1.1.6; Uv. 1.4. etc.).

In the same way uddhamṭhānaṃ, uddhampāda, *uddhamvāya*, *uddhagāmi* and some words with this characters are found sporadically in the Aṅga literature.

In the language of the Aṅga literature the *o* is derived from some other sources. Generally Sanskrit *o* is preserved as the same in Ardhamāgadhī. But other sources are as the prefix *ava*, *u* and the diphthong *au*. Some examples are — *avatīrna* › *oinna* (Nā 1.1.160), *avakāśa* › *okāśa* (Paṇ 9.9), *avakīrṇa* › *okinna* (Nā, 1.5.25), *avaskanda* › *okhamda* (Paṇ 2.12). Likewise some words with the same characteristic are found amply in the canons, such as Thānaṃ, Nāyādhammakahā, Vipāk, Bhagavatī, Uvāsagadsā, Panhāvāgaranāim and Anuttaraupapatika etc. the words are - *ogādha*, *ogādhaga*, *ogāha*, *ogāhanā*, *oggaha*, *oginhittā* and so on. *au* › *o*, e.g. *audārika* › *orāliya* (Th. 2.155-160, Bh. 1.343, 2.12; Nā 1.2.76, 1.8.180 etc.), *aupagrahika* › *ovaggahiya* (Bh. 9.46; 68), *aupamika* › *ovamiya* (Bh. 6.132, 133), *aupamyā* › *ovamma* (Th. 4.504, Bh. 5.93, Paṇ 1.22 etc.), *aupapātika* › *ovavāiya* (Ā. 1.2, 4, 118; Sū 1.1.11; Bh 9.157; 13-107 etc.) *aupaśamika* › *ovasamiya* (Bh. 14.81, 13.16 etc.). Somewhere *u* becomes *o*, such as, *utsanna* › *osanna* (Paṇ 1.29) *utsannadosa* › *osanna dosa* (Bh. 25.604), *upaśamyā* › *osaniya* (Sū 1.4.6), *uśira* › *osira* (Paṇ 10-18), *upahata* › *ohaya* (Bh. 3.126, 128; Nā 1.1.34, 46, 48; Vip 12.14-27. etc.), *upagrha*, › *ohara* (Paṇ 1.12). In all cases regarding the changes of *au* and *u* to *o* is due to a regular phonetic changes occurred in Ardhamāgadhī and other Prakrits.

Here, in above discussions the phonetic changes of vowels in individual are taken place. Besides these vowels, the phonetic changes of the vowels contracted with the consonant can also be found in the canonical literature. In linguistic point of view the phonetic changes of a vowel have so many reasons and aspects. The quantitative change of a vowel, i.e. shortening and lengthening of a vowel depends on accent. But somewhere the qualitative changes of a vowel take an important place. According to the very regular phonological behaviour the immediate preceding long vowel of conjunct consonant becomes short and in the same way due to the compensatory lengthening a short vowel can be changed into a long one. In some

cases it is found that with a slight changing of a place of articulation, a vowel changes its form. Changing of palatal *i* into gutturo-palatal *e* or vice-versa is very popular in Ardhamāgadhī and other Prakrits as well. The same can be found in the case of labial *u* and the labio-velar *o*. In Aṃga literature the reciprocal changes of the both are very sporadic. Very bold existence of *e* and *o* before a conjunct consonant cannot be overlooked. But in such occasions it is to be noted that the unit of measurement must be short. Sanskrit *ṛ*, *l*, *ai* and *au* be in free or with a consonant, undergo changes by the phonetic rules of the Prakrit language. There are no exceptions of this rule in the Aṃga literature. Sanskrit *ṛ* related to a consonant becomes *ṛi* in all cases. But very few examples are available in the canons.

We find the development of *ṛ* into *a*, *i*, and *u* and initially into *ri*. But this system does not always happen in Ardhamāgadhī. In very rare cases the initial *ṛ* is changed into *ri*. Such an example is *āvajra-ṛsabha-nārācā*. Here in *ṛsabha*, the initial *ṛ* is changed into *ri*, thus the word *risaha* is found in the canonical texts. Besides changing of *ai* and *au* into *e* and *o* respectively some times *ai* and *au* become prevalent in Prakrit.

Development of Single Consonants

All the consonants of Prakrit have been used in the Ardhamāgadhī of Aṃga canonical literature. No single consonants without vowel are found as per normal phonetic rule admitted in prakrit. Similarly like other prakrits, the initial consonants in a word, in most cases, become unchanged.

In the Aṃga literature, the initial *k* of a word remains unchanged, except in few cases. Such as *k* > *kh* — *kubja* > *khujja* (Th. 6.31; Bh 14.81; Pan 1.37, Vip 1.9.35), *khujjatta* (Ā 2.54), *khujjā* (Bh. 9.144, 146; 11.159; Nā 1.1.82; Aṃta 3.58), *Khujjiya* (Ā. 6.8). There are some examples found in the Aṃga literature where *k* becomes *g*, such as, *kuhara* > *guhara* (Pan. 4.5), *k* > *c*; eg. *Kirātaputra* > *cilāputta* (Nā. 1.18.62.1), *Kirātī* > *cilāi* (Nā.1.1.82), *kirātikā* > *cilāi ā* (Bh. 9.144), *kirāta* > *cilāya* (Nā 1.18.6,8,11,12; Pan 1.21)

In the aforesaid three cases, changing of *k* into *kh*, *g*, and *c* has three different causes. It is due to accent that the *k* of *kubja* becomes aspirated and changes into *kh*. In case of *k* becoming *g* in *guhara* is

nothing but the analogy with *guhā*, so *kuhara* becomes *guhara*, the *k* of the word *kirāta* becomes *c* due to the influence of *i* the palatal vowel related with *k* and thus the word *cilāya* is formed.

In prakrit no conjunct consonant is used in initial position of a word. So even in assimilation of a conjunct with *k*, only the single consonants *k* or *kh* remain, eg. *krama* > *kama* (Nā 1.1.159, 178; 44.14; Pan 4.5), *krīta* > *kīya* (Ā.8.21,22, 23 ; Sū 2.165; Th. 9.62; Sam 21.1; Bh 9.177), Similarly, *kīyakada* or *kīyagaḍa*, Sanskrit equivalent *krītakṛta* can be found.

Sometimes the intervocalic *k* becomes elided, sometimes becomes *g* and sometimes remains unchanged. Hemacandra while formulating the sūtra for Mahāraṣṭri Prakrit (8.1.177) that intervocalic *k*, *g*, *c*, *j*, *t*, *d*, *p*, *y* and *v* are optionally elided. This option shows the existence of those intervocalic consonants if these consonants suit for remain unchanged. In the Ardhamāgadhi *āy-śrutiā* has an important place, though it is also regular in Mahāraṣṭrā. *k* becoming *g* is a regular feature of Ardhamāgadhi. It is nothing but the change of an unvoiced consonant to the voiced one. These features are very regular and popular in the Aṅga literature.

In the same way the other mutes undergo changes in Ardhamāgadhi as well as the language of Aṅga cānons. All these phonetic changes in Ardhamāgadhi have nothing remarkable differences from that of Mahāraṣṭri. So the features regarding elision or change of Sanskrit mutes in Mahāraṣṭri are almost same in the language of the Aṅga canonical texts. So like Mahāraṣṭri, in the canonical texts too, the changes of *kh*, *gh*, *th*, *dh*, *bh* into *h* is quite regular. *ch* and *jh* remain unchanged, *th* and *dh* being intervocalic become *dh* in most of the cases. Some examples are as follows —

kh—*nakha* (Bh 5.53, Nā 1.4.24, Uv. 2.21, 28; Pan 10.18), elision of *kh*—*maukhara* > *mohara* (Th. 10.137, Pan 10.7), *mekhalā* > *mehalā* (Bh. 12.165 ; Nā 1.16.185, pan. 4.4; 10.14, 15 etc.) *śākhā* > *śāhā* (Ā-cu 1.96) *gh*—*megha* (Nā. 1.5.12, 13; Pan 4.7), likewise *meghamkarā*, (Th. 8.100.1), *meghamālinī* (Th 8.100.1) elision of *gh*—*meghā* > *mehā* (Bh. 10.65). In most of the cases *th* becomes *h* rather than becoming unchanged. eg. *maithuna* > *mehuna* (Sū 1.3.68, Sam 5.2, 6; Bh 1.286, 384 etc), in some cases instead of

becōming *h*, *th* becomes *dh* through **th*. e.g. *prathama* › **pathama* › *padhama*. This is an example of cerebralisation. *dh* sometimes remains unchanged but in of the cases if becomes *h*. eg. *sādhaka* › *sāhaka* (Paṇ 7.1; 1.8.236.1 etc). In the same way *bh* is also elided, thus, *sabhā* › *sahā* (Ā.cu.2.36; 3.47), *svabhāva* › *sahāva* (Nā 1.9.54.4; Paṇ 2.8 etc.).

The same development of Sanskrit nasal sounds are found in both the Mahāraṣṭrī and the Ardhamāgadhī of canonical texts. *ṇ* and *ṅ* being single, cannot exist in a word. They can assimilated with the consonants of their own groups (vargas). Although this feature is regular in Mahāraṣṭrī but in the Ardhamāgadhī of the Aṃga literature, *anusvāra* surpasses both the nasals. In the Ardhamāgadhī both dental *n* and cerebral *ṇ* are used initially but medially single *n* is used. *m* has no change in Ardhamāgadhī, although Mahāraṣṭrī admits *jaṅṅā*, *cāṅṅā*, *kāṅṅā* etc. in place of *m*.

Among the semivowels *y,r,l* and *v*, the features of initial *y* is rather peculiar. In Mahāraṣṭrī it becomes *j* in the same position, but in Ardhamāgadhī it becomes elided and *a* remains. eg. *yathārtha* › *ahāriha*, *yathāśruta* › *ahāsuya*, *yathāvakaśa* › *ahāvagāsa*, *yathāsatyo* › *ahāsacca* etc. Sometimes *r*, due to the influence of Māgadhī becomes *l*. This is the common feature in Mahāraṣṭrī too. Out of three sibilants only dental *s* remains in Ardhamāgadhī as well as in the texts of Aṃga canon.

References :

1. A Hand Book of Sanskrit Philology—S.R. Banerjee.
2. Aṃga Suttāṇi—Jain Vishva Bharati Publication.
3. An introduction to Ardhamāgadhī—A.M. Ghatage.
4. An Introducton to Prakrit—A.C. Woolner.
5. Acārāṃga Bhāṣya—Acārya Mahāprajña
6. Acārāṃga Sūtra—W. Schubring
7. Bhagavati (Bhāṣya)—Acārya Mahāprajña
8. The Doctrine of the Jainas—W. Schubring.
9. The Eastern School of Prakrit Grammarians—S.R. Banerjee.

10. Grammatik Der Prakrit Sprachen—R. Pischel.
11. Historical Grammar of Apabharamśa—G.V. Tagare.
12. History of Indian Literature (Vol. II)—M. Winternitz.
13. History of Jain Canonical Literature—H.R. Kāpadia.
14. Jaina Sūtras (Vol. 2 2. 4 5)—H. Jacobi
15. Outline of the Religious Literature—J.N. Farquhar.
16. Prakrit Language—S.M. Katre.
17. Prakrit Sāhitya Kā itihāsa—J.C. Jain
18. Siddha Hema Śabdānuśāsana—P.L. Vaidya (Ed.)
19. Uvāsagadasāo—P.L. Vaidya

□ **Associate Professor**

Department of Prakrit and Jain Agam
Jain Vishva Bharati Institute
Ladnun-341 306 (Rajasthan)

संस्थान - परिचय

आगम, अहिंसा - समता एवं प्राकृत संस्थान आचार्य श्री नानालाल जी म.सा. के वर्ष 1981 के उदयपुर वर्षावास की स्मृति में जनवरी 1983 में स्थापित किया गया। संस्थान का मुख्य उद्देश्य जैनविद्या एवं प्राकृत के विद्वान तैयार करना, अप्रकाशित जैन साहित्य का प्रकाशन करना, जैनविद्या में रूचि रखने वाले विद्यार्थियों को अध्ययन की सुविधा प्रदान करना, जैन संस्कृति की सुरक्षा के लिए जैन आचार, दर्शन और इतिहास पर वैज्ञानिक दृष्टि से ग्रन्थ तैयार कर प्रकाशित करवाना एवं जैनविद्या-प्रसार की दृष्टि से संगोष्ठियाँ, भाषण, समारोह आदि आयोजित करना है। यह संस्थान श्री अ. भा. सा. जैन संघ, बीकानेर की एक मुख्य प्रवृत्ति है।

संस्थान राजस्थान सोसायटीज एक्ट 1958 के अन्तर्गत रजिस्टर्ड है एवं संस्थान को अनुदान रूप में दी गयी धनराशि पर आयकर अधिनियम की धारा 80(G) और 12 (A) के अन्तर्गत छूट प्राप्त है।

जैनधर्म और संस्कृति के इन पुनीत कार्य में आप इस प्रकार सहभागी बन सकते हैं :-

- (1) व्यक्ति या संस्थान एक लाख रूपया या इससे अधिक देकर परम संरक्षक सदस्य बन सकते हैं। ऐसे सदस्यों के नाम अनुदान तिथि क्रम से संस्थान के लेटरपैड पर दर्शाये जाते हैं।
- (2) 51, 000/- रुपये देकर संरक्षक सदस्य बन सकते हैं।
- (3) 25, 000/- रुपये देकर हितैषी सदस्य बन सकते हैं।
- (4) 11, 000/- रुपये देकर सहायक सदस्य बन सकते हैं।
- (5) 1000/- रुपये देकर साधारण सदस्य बन सकते हैं।
- (6) संघ, ट्रस्ट, बोर्ड, सोसायटी आदि जो संस्था एक साथ 20,000/- रुपये का अनुदान प्रदान करती है वह संस्था संस्थान-परिषद् की संस्था सदस्य होगी।
- (7) अपने बुजुर्गों की स्मृति में भवन निर्माण हेतु व अन्य आवश्यक यंत्रादि हेतु अनुदान देकर आप इसकी सहायता कर सकते हैं।
- (8) अपने घर पर पड़ी प्राचीन पांडुलिपियाँ, आगम-साहित्य व अन्य उपयोगी साहित्य प्रदान कर सकते हैं।

आपका सहयोग ज्ञान-साधना के रथ को प्रगति के पथ पर अग्रसर करेगा।